प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

1. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
2. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कास्थवेट रोड, प्रयाग
3. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

अपना पहला उपन्यास "वीरमणि" हमने सन् १९१२-१३ में लिखा तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाया था। इसकी द्वितीयावृत्ति भी हो चुकी है। यह "चंद्रगुप्त विक्रमादित्य" उपन्यास २९ मई, १९४२ ई० में प्रारंभ होकर उसी साल १५ जुलाई को समाप्त हुआ। इसे लिखने में (१९३२ वाला) "चंद्रगुप्त विक्रमादित्य" श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता एम्० ए०-कृत, श्रीयुत आल्टेकर महाशय के दो ऐतिहासिक लेखों (सम्राट् रामगुप्त से संबद्ध) तथा स्वयं अपने इतिहास मुसलमान पूर्व-भारत (१९२३) से मुख्यतया सहायता ली गई है, और अमुख्यतया भारतीय राजनीतिक तथा साहित्यिक इतिहासों का भी आधार है। हमने यथासाध्य ज्ञात इतिहास के प्रतिकूल इसमें कुछ नहीं आने दिया है। फिर भी यह इतिहास-ग्रंथ न होकर है उपन्यास ही। अतएव अपनी ओर से इतिहास की अज्ञात घटनाएँ औपन्यासिक रीति पर प्रचुरता से जोड़ी गई हैं। यथासाध्य ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों का औपन्यासिक घटनाओं द्वारा भी समर्थन किया गया है।

सम्राट् रामगुप्त का अस्तित्व ही ऐतिहासिक रीति से संदिग्ध है। उसके विषय में कई पुरातत्त्ववेत्ताओं का विचार अब इस अस्तित्व के मानने के पक्ष में है। इस विषय की कारणमाला इसी भूमिका में आगे दी जायगी। महाकवि कालिदास को लोग अवंती प्रांत, बंगाल या काश्मीर-निवासी सोचते हैं। हमने अवंती को माना है, किंतु उनकी माता का प्रांत बंगाल तथा पितामही का काश्मीर मान-

कर तीनो विचारों का सामंजस्य-सा कर दिया है। कुछ लोग दंत-कथाओं के आधार पर यह कहते हैं कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन्हें काश्मीर-पति बना दिया था। यह कथन राजतरंगिणी द्वारा समर्थित नहीं है, किंतु तत्कालीन घटनाओं के लिये स्वयं राजतरंगिणी असमर्थनीय है। फिर भी काश्मीर-से बड़े प्रांत का केवल एक कवि को दिया जाना असत्त कथन नहीं समझ पड़ता। इसलिये हमने दस लाख धरण (तत्कालीन रुपए) की वार्षिक आय का एक पंजाबी राज्य महाराजा की उपाधि के साथ इन्हें दिया जाना-मात्र लिखा है। इतिहास महाकवि का राजप्रतिनिधि के रूप में कुंतल में कई वर्ष नियोजित रहना मानता है। हमने मंत्रिमंडल की सदस्यता तथा युद्धकर्तापन भी अपनी ओर से जोड़े हैं। उनके युवराज का कथन भी औपन्यासिक है।

इतिहास का विचार है कि ध्रुवस्वामिनी का मायका किसी उन महाराज के यहाँ था, जिनका राज्य काश्मीर के निकट कहीं उत्तरी पंजाब में रहा होगा। शक्तिपुर, शक्तिसेन, इंद्रदत्त और उनके युव-राज के शेष विवरण काल्पनिक हैं। वाकाटक और मालव-शक्तियों के कथन प्रायः सब ऐतिहासिक हैं। उज्जयिनी और सौराष्ट्र की शक शक्तियाँ भी ऐसी ही हैं। रुद्रदामन (द्वितीय), तत्पुत्र रुद्रसेन (तृतीय) महाक्षत्रप (३४८—३७८ ई०), तद्भागिनेय महाक्षत्रप सिंहसेन, तत्पुत्र रुद्रसेन (चतुर्थ) क्षत्रप (सन् ३८१) उज्जयिनी के शासक ऐतिहासिक हैं। रुद्रसेन (तृतीय) ने समुद्रगुप्त को कर में पठौनी भेजी थी। सत्यसिंह शक सौराष्ट्र-नरेश थे, जिनके पुत्र स्वामी रुद्रसेन (३८८—४०१ ई०) भी वहीं के शासक थे। कहीं-कहीं कथित है। गुप्तों कि के सौराष्ट्र-विजय को कुमारगुप्त युवराज गए थे। किसी शक राजा ने अयोध्या पर आक्रमण में विजय पाकर महादेवी ध्रुवस्वामिनी को माँगा था, जैसा कि ग्रंथ में लिखा गया

है, और चंद्रगुप्त ने छद्म वेश में उसे मारकर तथा उसकी सेना को पराजित करके गुप्त-साम्राज्य को बचाया था। हमने वह शक-शासक उज्जयिनी-पति सिंहसेन को माना है। मल्लिका, माधवी आदि के वृत्तांत कल्पित हैं। चंद्रगुप्त की प्रतिमा कुछ सिक्कों पर सिंह-विजय की भी है। उनकी उपाधियाँ सब ऐतिहासिक हैं। यह बात भी ऐतिहासिक है कि चंद्रगुप्त और कालिदास ने उज्जयिनी के विश्व-विद्यालय से मान-पत्र पाए थे।

कुंतलेश-वाकाटक-राजपरंपरा इस प्रकार थी—

(१) विंध्यशक्ति—(तत्पुत्र) (२) प्रवरसेन (प्रथम) सम्राट्—(३) (तत्पुत्र) रु सेन (प्रथम) सम्राट् (जिसने दौहित्र के रूप में नागों का भी साम्राज्य पाया, किंतु जो चार ही वर्ष राज्य भोगकर युद्ध में समुद्रगुप्त द्वारा मारा गया।) (४) (तत्पुत्र) पृथ्वीषेण (प्रथम) (गुप्ताधीन महाराजा)—(५) (तत्पुत्र) रुद्रसेन (द्वितीय) (इसका विवाह सम्राट् चंद्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता से होकर प्रवरसेन (द्वितीय) पुत्र पैदा हुआ)—(६) (यही) प्रवरसेन (द्वितीय)—(७) (तत्पुत्र) नरेंद्रसेन (आठ वर्ष की अवस्था में, ४४५ ई० में, राजा हुआ। इसका राजत्व-काल कई विपत्तियों में बीता, किंतु था यह प्रतापी नरेश) (८) (तत्पुत्र) पृथ्वीषेण (द्वितीय) (यह भी अच्छा शासक था)—(९) (तत्पुत्र) हरिषेण। (यह प्रतापी शासक था, जिसने फिर से वाकाटक-साम्राज्य प्राप्त किया, तथा अजंता-गुफाओं के कई काम बनवाए।) सन् ४७० से ५३० ई० पर्यंत वाकाटकों ने पाश्चात्य भारत को हूणों के आक्रमणों से बचाया। इसके पीछे इनका इतिहास अप्राप्त है। अजंता के शिला-लेख में आया है कि पृथ्वीषेण (प्रथम) ने मैसूर (कुंतल) के कदंब-वंशी नरेश को

जीता। सन् ५०० तक वाकाटकों का साम्राज्य दक्षिण-भारत के अधिकांश भाग पर विस्तृत था, अथच कुंतलेश इनके सामंत थे। महाराजाओं को उस काल महासामंत भी कहते थे। वाकाटक-राज्य की उत्तरी सीमा नर्मदा थी और दक्षिणी कृष्णा नदी। दक्षिण के मध्य भाग में इनका अधिकार था। इनके समय वैदिक यागादि का तथा शैव और भागवत संप्रदायों का प्रचार दक्षिण में बढ़ा। प्रवरसेन (द्वितीय) ने सेतु-काव्य रचा। इसमें ख़ूब सूक्तियाँ थीं।

गुप्त-राज्य के संबंध में बहुत-से शिला-लेख, लौह-स्तंभ-लेख और अनेकानेक अन्य लेख, सिक्के आदि मिले हैं। प्रभावती गुप्ता का भी एक दान-पत्र है, जिसमें वह अपने पितृकुल को धारण-गोत्री बतलाती है। इससे डॉक्टर जायसवाल का मत है कि मूलतः गुप्त लोग कारस्कर-गोत्री जाट थे। पीछे से गुप्त क्षत्रिय-वंश हो गया। वाकाटक लोग ब्राह्मण से क्षत्रिय हुए। यही दशा पल्लवों की थी। वंग-विद्रोह इतिहास में चंद्रगुप्त द्वारा दमन किया हुआ लिखा है। हमने उसका आरंभ रामगुप्त के समय में माना है।

गुप्त-शक्ति का प्रारंभ २७५ ई० में श्रीगुप्त के साथ होता है। इनके पुत्र घटोत्कचगुप्त इनके पीछे ३०० से ३२० पर्यंत राजा रहे। शायद ये दोनो कोशलेश थे, तथा मगध में भी बढ़कर राज्य फैलाना चाहते थे, जिससे इनके युद्ध वहाँ के स्वामी वाकाटकों से हुए, जिससे गुप्तों का प्रभाव बढ़ा। समुद्रगुप्त (सम्राट्) चंद्रगुप्त के कनिष्ठ पुत्र कुमार देवी से उत्पन्न थे। चंद्रगुप्त (प्रथम) ने २६ फ़रवरी, ३२० में गुप्त-संवत् चलाकर अपने नाम के सिक्के भी ढलवाए। फिर भी ३२८ में अपने मरण के समय आपको फिर गंगा पार कोशल में हट आना पड़ा। मरने के समय आपने सजल नेत्र होकर समुद्रगुप्त को कनिष्ठ पुत्र होने पर भी यह कहकर अपना उत्तराधिकारी बनाया कि तुम सच्चे आर्य हो। समुद्रगुप्त का राज्यारोहण ३२८-२९ में हुआ। आप

सम्राट् नैपोलियन की भाँति बहुत बड़े विजयी थे, किंतु उसके समान कभी पराजित अथवा बंदी न हुए। दत्तदेवी आपकी एकमात्र स्त्री थीं। वही महादेवी भी थीं ही। समुद्र ने ३३०-३६ के निकट आर्यावर्त जीता, और (३४७-५० के लगभग) दक्षिणापथ की विजय-यात्रा की। ३५० के आस-पास आपका अश्वमेध-यज्ञ हुआ, और ३६० के निकट सिंहलेश मेघवर्ण का राजदूत इनके पास भेंट लाया। ३७८ के निकट इनका शरीरांत हुआ। इनके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त का साम्राज्य-काल ३७८ से ३८० पर्यंत समझ पड़ता है, क्योंकि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्यारंभ निश्चित रीत्या ३८० ई० है। इसके पीछे का इतिहास ग्रंथ तथा परिणाम में आ गया है। पीछे का इतिहास विशेष विस्तार के साथ नहीं दिया गया है, क्योंकि वह हमारे नाटक "ईशानवर्मन" में आ चुका है। कुतुबमीनार के सामने जो भारी लौह-स्तंभ गड़ा हुआ है, वह चंद्रगुप्त द्वारा निर्मित एक विष्णु-मंदिर का ध्वज-स्तंभ समझा जाता है। उसमें इनका इतिहास अंकित है, और अनेक प्रमाणों के संग्रह विविध ऐतिहासिक ग्रंथों में प्रस्तुत हैं तथा महताजी के चंद्रगुप्त विक्रमादित्य में भी बहुतेरे अंकित हैं। हम उनका विशेष विवरण इसलिये नहीं देते कि यह ग्रंथ ऐतिहासिक न होकर औपन्यासिक है। इसमें केवल ऐतिहासिक तथ्यों से प्रतिकूलता नहीं है, तथा उनके कहीं-कहीं समर्थन भी काल्पनिक ढंगों से किए गए हैं।

रामगुप्त का अस्तित्व

इनका नाम न तो किसी सिक्के में मिलता है, न गुप्त-वंशावली, राजनामावली, शिला-लेख, दान-पत्रादि में। इसीलिये इतिहासों में समुद्रगुप्त के पीछे चंद्रगुप्त ही सम्राट् लिखे गए हैं, और इन (रामगुप्त) का नाम छूट रहा है। फिर भी आजकल कुछ ऐसे

प्रमाण मिले हैं, जिनसे इनका भी अस्तित्व सिद्ध होता है, यद्यपि था वह समय गुप्तों के लिये लज्जा-पूर्ण। अब उन प्रमाणों का कथन सूक्ष्मतया किया जाता है।

(१) सातवीं शताब्दी ईसवीवाले बाणभट्ट हर्ष-चरित्र में लिखते हैं—"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।" (उच्छ्वास ६) अर्थात् रिपु-पुर में भी पराई स्त्री की कामना करनेवाले शकपति को कामिनी-वेष में छिपे हुए चंद्रगुप्त ने मारा।

(२) हर्ष-चरित्र के टीकाकार शंकराचार्य इस विषय में कहते हैं—

"शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।"

इस प्रकार इनके अनुसार शकों के आचार्य शकाधिपति ने चंद्रगुप्त की भाभी ध्रुवदेवी की प्रार्थना की। तब ध्रुवदेवी का वेष धारण करके स्त्री-वेषधारी लोगों से घिरे हुए चद्रगुप्त ने उसे मारा।

(३) राष्ट्रकूट-वंशज महीपाल अमोघवर्ष (प्रथम) के संजन-वाले ताम्रलेख में निम्नांकित श्लोक आया है—

"हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवी च दीनस्तथा;
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।"

भाई को मारकर जिस दीन ने राज्य और देवी को हर लिया, तथा लाख माँगने पर करोड़ लिख दिए, वही गुप्त कलियुग में निश्चय-पूर्वक दानी प्रसिद्ध हुआ। उसका प्रयोजन यह है कि ऐसे गर्हित कामों का कर्ता दानी प्रसिद्ध होने के योग्य न था। यहाँ शत्रु की

साक्षी से दान-वीरता और भ्रातृवध दोनो प्रमाणित हैं, और राज्य भी पहले उसी भाई का होना सिद्ध है।

(४) मुद्राराक्षस-नाटक के रचयिता विशाखदत्त ने "देवीचंद्र-गुप्तम्"-नामक एक नाटक लिखा था, जिसके कुछ अंश अब प्राप्त हुए हैं। इससे प्रकट है कि कायर नरेश रामगुप्त ने किसी शक राजा की चढाई से रक्षा न कर सकने पर अपनी प्रजा के आश्वासनार्थ राज-महिषी ध्रुवदेवी को उस कामुक शक-पति के पास भेजना मान लिया, किंतु शूर चंद्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेष धारण करके तथा स्त्री-वेषधारी अन्य योद्धाओं को साथ लेकर शत्रु-शिविर में उस कामी शक-पति का विनाश किया।

महता महोदय इन प्रमाणों को इस कारण से अग्राह्य मानते हैं कि रामगुप्त का न तो कोई सिक्का मिलता है, न गुप्त-वंश के सम्राटों में उनका नाम ही आता है, तथा जब यह कहा जाता है कि समुद्रगुप्त ने चंद्रगुप्त को उत्तराधिकारी चुना, तब दूसरा कोई राजा बीच में हो ही कैसे सकता था, क्योंकि गुप्त-वंश में ऐसा पहले भी हो चुका था ? आप देवी 'चंद्रगुप्तम्' को कपोल-कल्पना-मात्र समझकर अग्राह्य मानते हैं, किंतु इतर तीन प्रमाणों को न मानने के कोई कारण नहीं देते। संभव है, समुद्रगुप्त द्वारा चंद्रगुप्त के मनोनीत होने का विचार-ही-विचार हुआ हो, जो सम्राट् की अचानक मृत्यु या किसी और कारण से कार्य-रूप में परिणत न हो सका हो। यह बात निश्चित प्रकारेण दृढ प्रमाणों की बाधक नहीं हो सकती। केवल दो वर्षों के समय के सिक्के होकर भी अब तक अप्राप्य रहना कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। रामगुप्त-से कादर तथा पराजित सम्राट् का नाम वंशा-वली अथच राजनामावली में न होना स्वाभाविक ही है, जब कि उसका शत्रु भ्राता तथा भ्रातृवंशज उस (रामगुप्त) के पीछे सैकड़ों

वर्षों तक राज्याधिकारी रहे। कोई प्रजा भी यदि इस लज्जा-जनक राजा को याद न कर सकी, तो क्या आश्चर्य है? यह भी संभव है कि प्रजावर्ग में किसी ने उनका नाम लिखा भी हो, और वह अब तक न मिला हो। संभवतः उनका कथन राजाज्ञा से वर्जित हो गया हो। चार दृढ़ प्रमाणों के अस्तित्व को ऐसे संदिग्ध विचार काट नहीं सकते, जिनके अनेकानेक उत्तर भी सोचे जा सकते हैं। हम कई ऐतिहासिकों के विचारों का मान करके रामगुप्त का अस्तित्व दृढ़ समझते हैं। गुप्त-साम्राज्य भारत में बहुत ही गौरवान्वित हो गया है। केवल साम्राज्य के रूप में इसका अस्तित्व प्रायः दो शताब्दी रहा, तथा राजकीय स्थिति भी जोड़ने से इसका जैसा-तैसा अस्तित्व २७५ ई० से ७०० पर्यंत बैठता है। प्रधान शाखा मागध गुप्तों की थी, तथापि गौड़गुप्त भी दो बार सम्राट्-पद और भारी प्रताप उपार्जित कर सके। कुशान नरेशों के समय में भारत का जो व्यापारिक संबंध रोम और पाश्चात्य एशिया से खुला था, वह गुप्त-काल में भी भारत को भला-चंगा लाभ पहुँचाता रहा, तथा गुप्तों ने पूर्वी एशिया से भी राजनीतिक तथा व्यापारिक संबंध स्थापित किया। कई भारतीय उपनिवेश बाली, जावा, सुमात्रा आदि में स्थापित हुए। थाईलैंड (स्याम) में अब तक हिंदू-मूलक राज्य और सभ्यता स्थिर है। सारे पूर्वी एशिया में धीरे-धीरे हिंदू-सभ्यता का प्रभाव समय पर फैल गया था। उस काल की जो पाषाण तथा धातु-निर्मित वास्तुकला के उदाहरण मिलते हैं, वे अब तक दर्शकों को प्रसन्न करते हैं। कलकत्ता के संग्रहालय (अजायब घर) में जो बहुतेरी प्रतिमाएँ आदि पूर्वी एशिया की एकत्र हैं, वे तत्कालीन भारतीय वास्तुकला के उदाहरणों से ऐसी मिलती हैं कि दोनो का मूल स्पष्टतया भारतीय समझ पड़ता है। जो भारतीय महत्ता गुप्तों ने स्थापित की थी, वह टूटते-फूटते हुए भी इनके पीछे

तीन-चार शताब्दियों तक चलती रही। प्राचीन कला-कौशल के सामने गुप्तकालीन बहुत उन्नत दिखता है ही, तथा बारहवीं शताब्दी की भी भारतीय पाषाण-कला गुप्तकालीन से श्रेष्ठतर नहीं है। स्त्रियों द्वारा बाल गूथे जाने के अनेकानेक ढंग मिलते हैं। तृचीवरों के भीतर भी अंगों का सौंदर्य पाषाण में परिलक्षित है। कई गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्तियाँ लखनऊ-म्यूज़ियम में संरक्षित हैं, जो कारीगरी के अच्छे उदाहरण हैं। हिंदू वाङ्मय की भी उस काल ख़ूब ही उन्नति हुई। तत्कालीन साहित्य अब तक अंशतः अद्वितीय है। पौराणिक धार्मिक विचार यद्यपि समय के साथ परिवर्तन माँगते हैं, तथापि उस काल के विचारों की, पहले की अपेक्षा, उन्नति दिखलाते हैं। उस काल महायानीय धर्म से समाज का छुटकारा करना हमारे व्यासों को अभीष्ट था, जिसमें वे सफल हुए। यह पीछेवालों की भूल थी कि उसे समयानुकूल न बना सके। तत्कालीन व्यासों ने शकों, हूणों, यवनों आदि की सभ्यता को आर्य-सभ्यता में पूर्णतया मिलाकर समाज के लिये अनुपम संगठन-शक्ति प्रदर्शित की। मुसलमानागमन के पूर्व हमारे समाज में कोई भी अंतर न था, और आर्य, हूण, शक, यवन, तुर्क आदि सब पूर्णतया अभिन्न थे। यह चमत्कारकारिणी उन्नति जो बारहवीं शताब्दी-पर्यंत भारत में चलती रही, उसका मूल और मुख्य स्थापन गुप्त-काल में ही हुआ। प्रत्येक ग्राम मानो प्रजातंत्र राज्य था। सारे सामाजिक झगड़े विना कष्ट और व्यय के ग्राम्य समाज ही में निर्णीत हो जाया करते थे। चोरी आदि बहुत कम होती थीं, तथा राजकर्मचारियों का कोई कथनीय अनुचित दबाव देश में न था। गुप्त-साम्राज्य में समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय सर्वोत्कृष्ट थे। इनमें भी अंतिम समय सब प्रकार से स्वर्ण-युग था। फ़ाहियेन-नामक चीनी यात्री का वर्णन चंद्रगुप्त विक्रमा-

दित्य के समय का ही है। उसे पढ़कर प्रत्येक भारतीय का चित्त प्रसन्न हो जाता है। अपने उपन्यास में जो प्रजावाली महासभा का वर्णन है, वह देखने में तो राजकीय प्रशंसा से ही भरा हुआ है, किंतु फ़ाहियेन का ग्रंथ पढ़कर पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि वही वास्तविक दशा थी। राज्य के आय-व्यय का जो व्योरा दिया गया है, वह तत्कालीन सामाजिक अवस्था के अनुसार थोड़े में देश का पूरा हाल विज्ञ पाठकों को बतलाता है। सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समय पूर्णतया भारत-मुखोज्ज्वलकारी था। आशा है, यह उपन्यास विज्ञ पाठकों को तत्कालीन सच्ची सामाजिक स्थिति तथा विचार-परंपरा बतलाने में न्यूनाधिक समर्थ होगा। शब्दों के चुनने में हमने यथासाध्य तत्कालीन प्रचलित शब्दावली हिंदी-व्याकरण के रूप में चुनी है। कई ऐसे शब्द हैं, जिनके अर्थ अब बदल गए हैं अथवा अब वे चलन में नहीं हैं। ऐसे शब्दों की अर्थ-सहित एक तालिका हमने ग्रंथ के अंत में लगा दी है, जिसे पाठकों को अवश्य पढ़ना चाहिए, क्योंकि उससे ग्रंथ को लोग समझ सकेंगे।

लखनऊ
१६ जुलाई, १९४२ ई०

विनीत
मिश्रबंधु

औपन्यासिक प्रधान पुरुष

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—भारत का सम्राट् (कथा-नायक)
सिंहसेन—उज्जयिनी-पति, उपनायक
कालिदास—महाकवि, चन्द्रगुप्त का मित्र
इंद्रदत्त—शक्तिपुर का युवराज और फिर वहीं का महाराजा, महादेवी का भाई
समुद्रगुप्त—भारतीय सम्राट्, चंद्रगुप्त का पिता
कृतांत—अयोध्या का महाबलाधिकृत
वीरसेन—अयोध्या का महासांधिविग्रहिक
शक्तिसेन—महादेवी का पिता, शक्तिपुर का महाराजा
महाशक्ति—उज्जयिनी का विश्वस्त अफ़सर, फिर सांधिविग्रहिक
ध्रुवदेवी (स्वामिनी)—महादेवी, चंद्रगुप्त की प्रधान सम्राज्ञी
रामगुप्त—अयोध्या का अयोग्य सम्राट्
बालेंदुशेखर—उज्जयिनी का भेदिया तथा अयोध्या में वैद्य
क्षिप्राबाई—उज्जयिनी की भेदिया, अयोध्या की वैद्या तथा रामगुप्त की प्रेम-पात्री
मल्लिकाबाई—सिंहसेन की उपपत्नी
माधवी—शक्तिपुर की वेश्या
चंद्रचूड़—सिंहसेन का मुख्य शरीर-रक्षक
रुद्रसेन तृतीय—सिंहसेन का मामा तथा उससे पहले उज्जयिनी-पति
रुद्रसेन चतुर्थ—सिंहसेन का पुत्र तथा उत्तराधिकारी

पृथ्वीषेण (वाकाटक-नरेश)—साम्राज्य का महासामंत

प्रवरसेन द्वितीय—चंद्रगुप्त का जामाता

स्वामी रुद्रसेन—सौराष्ट्र-नरेश

महामंत्री, अक्षपटलाधिकृत, विषयपति, दूत, चर, योद्धा आदि-आदि

सूचीपत्र

प्रथम परिच्छेद

(३८०—४१४ तक) (गुप्त-सं० ६०—६४)

मृगया

आज उज्जयिनी के रखेल (मृगयार्थ रक्षित वन) में अच्छी चहल-पहल है। प्रायः ४० शिकारी हाथी-हथिनियों का झुंड उपस्थित है, जिन पर लगभग एक शत लोग सवार हैं। इनमें से दस-बारह मृगया खेलनेवाले हैं, शेष केवल शिकार देखने आए हैं। मृगया का आयोजन धनुष-बाण तथा खड्ग चर्म से किया गया है। कोई ४०० लोगों ने तीन ओर से जंगल घेरकर डेढ़-दो कोस से हाँका आरंभ किया था। राजपुरुषवर्ग तथा अतिथि आदि के लिये उत्तम खाद्य वस्तुएँ भी एकत्र की जा चुकी हैं। दस-बारह हाथी इधर-उधर ठीक स्थानों पर लगाए गए हैं। सारा आयोजन महाक्षत्रप तृतीय रुद्रसेन के भागिनेय युवराज सिंहसेन ने राजकुमार चंद्रगुप्त के लिये किया है। युवराज इंद्रदत्त भी चंद्रगुप्त के मित्र होने से आमंत्रित होकर पधारे हैं। मृगया देखने के लिये कालिदास भी एक हाथी पर सवार प्रस्तुत हैं। उनका भी हाथी एक बंद पर लगाया जा चुका है। आपने अपने साथी से कहा—"भाई, हम लोगों के पास तो शस्त्रास्त्र हैं नहीं, न उनका अभ्यास ही है, फिर यह क्या हो रहा है कि अपना हाथी भी बंद पर लगा हुआ है?"

साथी—इसमें संदेह करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस हाथी

पर शेर थोड़े ही आवेगा। यह तो उसे दबकाने-भर को लगा हुआ है।

कालिदास—क्या हाँकेवालों में इतनी पटुता है कि जहाँ चाहें, वहीं होकर शेर निकालें?

साथी—सो तो हई है।

कालिदास—यदि वह अपने हाथी पर झपट ही पड़े, तो कैसा?

साथी—ऐसी दशा में भी इतना जाने रहना चाहिए कि वह प्रथम आक्रमण करने में किसी से चिमटता नहीं, वरन् एक ही झापड़ मारकर चल देता है। उससे बचने के लिये बड़ा साफ़ा आदि शरीर से बहुत आगे हाथ बचाए हुए इस ढंग से रखना चाहिए कि उसका पंजा साफ़े-भर पर पड़े, अथवा हाथ-पैर में न लगने पावे।

कालिदास—प्रयोजन आपका यह है कि दूसरा आक्रमण तो उसे करना नहीं है, केवल साहस करके एक ही वार से अपने को बचा लेने-भर का काम है।

साथी—यही बात है, कविवर! फिर भी उसी से बचने के लिये पूरे धैर्य और कौशल की आवश्यकता है। अब हाँका निकट आ रहा है; बातचीत का अवसर नहीं है।

थोड़ी देर में हाँका समाप्त हो गया, किंतु कोई सिंह या और भारी जंतु न निकला। राजन्यवर्ग तथा सरदारों के हाथी एक बार फिर एकत्र हुए। युवराज सिंहसेन ने चंद्रगुप्त से कहा—"निराशा की कोई बात नहीं है। मित्रवर! मुख्य हाँका यहाँ से एक ही कोस पर लगा हुआ है। वह जंगल कभी धोखा नहीं देता। यहाँ का प्रबंध तो मार्ग में पड़ने के कारण करा दिया गया था।" यह सुनकर सब लोग दूसरे वन की ओर चल पड़े। मार्ग में गुप्त राजकुमार का हाथी कालिदासवाले हाथी के बराबर चलने लगा, और उनमें बात भी होने लगी।

चंद्रगुप्त—देखिए कालिदासजी ! आपको साथ लाए, तो भी हम लोगों का पहला हाँका निष्फल गया ।

कालिदास—क्या कहें मित्र ! हुआ तो ऐसा ही । देखिए, अब की बार ऐसा साबर मंत्र जपता हूँ कि मामला फ़तेह समझिए ।

चंद्रगुप्त—तो इसी बार क्यों न जप दिया ?

कालिदास—बिना पहले असाफल्य के मंत्र का पूरा प्रभाव भी तो न विदित होता, तथा दूसरी सफलता का स्वाद भी कम आता ।

चंद्रगुप्त—आप इस बार सोचने लगे होंगे कि प्रिया के केश-पाशों का स्मरण करके "न हि रुचिरकलापं बाणलक्षी चकार ।"

कालिदास—यह भी ठीक ही है । बेचारा मयूर होता भी कैसा सुंदर है, और उससे द्रष्टाओं को आनंद कितना मिलता है ? उसका मारना क्या योग्य है ?

चंद्रगुप्त—फिर भी देखिए कि धर्ममूर्ति सम्राट् अशोक तक ने इतर जीव-हिंसा रोकते हुए भी अपने रसोईं-घर में नित्य केवल तीन कलापियों का भक्षण योग्य समझा था ।

कालिदास—शायद उस काल इन सुंदर पक्षियों द्वारा खेती को विशेष हानि पहुँचती होगी, जैसी कि विराट-प्रांत में अब भी दशा है ।

चंद्रगुप्त—संभव है ।

कालिदास—भला, मैं पूछता हूँ कि मृगियों की तो जाने दीजिए, कई मृग भी तो निकले थे, उन पर क्यों न प्रहार हुआ ?

चंद्रगुप्त—उन बारासिंहों के सींग बड़े कहाँ थे ? जब तक कम-से-कम दो हाथ लंबे सींग न हों, तब तक उसे क्या मारें ? फिर इससे किसी सिंह के भड़क जाने का भी भय था ।

इंद्रदत्त—ऐसा ! शायद इसीलिये नीलगाय भी छोड़ दिए ?

चंद्रगुप्त—उनके नाम ही में गाय लगा हुआ है; खुर और थूथुन हा। देख लीजिए।

कान्तिदास—है तो यही बात।

इसी प्रकार बातें होते हुए यह शिकारी दल दूसरे जंगल में पहुँच गया। हाँका यहाँ भी कुछ देर से चल रहा था। यहाँ केवल चंद्रगुप्त और इन्द्रदत्त के हाथी बदों पर लगाए गए। शेष लोग सिंहसेन के साथ एक नीची-ढलवाँ चौरस पहाड़ी पर एकत्र होकर धीमे स्वर में बातें करने तथा फलादि खाने-पीने लगे। इतने में हाँके के निरीक्षक अधिकारी ने आकर युवराज से निवेदन किया।

अधिकारी—दीनबंधो! एक शेर हाँके का पट्टा चीरकर निकल गया।

युवराज सिंहसेन—क्या यहाँ भ "प्रथमग्रासे मक्षिका पात" की बात हो गई?

अधिकारी—नहीं कृपासिंधो! तीन-चार सिंह फँसे-से समझ पड़ते हैं।

युवराज सिंहसेन—तब तो अच्छी बात है; ख़ूब चौकसी रक्खो।

अधिकारी—जो आज्ञा, अन्नदाता।

अब अधिकारी तो अपने काम पर चला गया, और यहाँ फिर चुपके-चुपके हँसी-दिल्लगी का बाज़ार गर्म हुआ। थोड़ी ही देर में सिंह की गरज सुन पड़ी, जिससे यह मंडली बहुत प्रसन्न हुई। अनंतर तीन शेर निर्भयता-पूर्वक धीरे-धीरे एक-एक डग रखते हुए इस मंडली से प्रायः ८०० हाथ की दूरी पर जाते हुए देख पड़े। सबको आशा बँधी कि अब मामला फ़तेह है। पीछे धनुष-टंकार के साथ बाणों की सनसनाहट सुन पड़ी। युवराज महोदय ने प्रतीहारी से प्रसन्नता-पूर्वक पूछा।

युवराज—क्या मार लिया?

प्रतीहारी—दीनबंधो! अभी पता लगाता हूँ।

अनंतर उसने जाकर तथा फिर वापस आकर कहा—

प्रतीहारी-अन्नदाता ! एक सिंह मारा गया, एक निकल गया, तथा तीसरा उस झाड़ी में डरकर छिपा बैठा है ।

तब युवराज की आज्ञा से एक हाथी सूँड़ उलझ रता हुआ उसी झाड़ी की ओर गया, जिससे डरकर वह सिंह भी शिकारियों की ओर जाकर मारा गया। दोनो शेर गुप्त-राजपुत्र ने मारे। अनंतर बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक सब लोग नीचे एकत्र हुए, जहाँ दोनो शेर नापे जाकर छ तथा साढ़े छ हाथ से बड़े निकले। वहीं बिछौने बिछाए जाकर सब लोगों ने सुख-यात्रा की। तीसरे पहर का समय हो चुका था। कुछ दर्शक और तीनो राजपुत्र फिर पृथ्वी पर बैठे, तथा एक छोटा-सा हाँका और कराया गया, जो निष्फल हुआ। फिर युवराज तथा गुप्त-राजपुत्र में मंत्रणा होकर यह निश्चय हुआ कि बकरा बाँधकर एक और प्रयत्न किया जाय। दोनो राजन्य पुरुष धनुष-बाण तथा खड्ग-चर्म से लैस होकर अकेले ही चल पड़े, और एक झाड़ी में छिपकर बैठ गए। उन्हीं की दृष्टि के बाहर एक बकरा कुछ दूर पर बाँधकर दो लोग उसके देखते हुए चले गए। बकरा इन राजपुरुषों को तो देख न सका, और अपने लानेवालों को दृष्टि से बाहर होते देखकर मारे डर के चिल्लाने लगा। यदि किसी को अपने निकट देखता, तो उसे भी धैर्य रहता, और वह ऐसी दशा में न मिमियाता, अथच बिना उसकी चिल्लाहट सुने व्याघ्र आदि' इधर आता ही क्यों ? इसीलिये दोनो शिकारी उसकी आँख बचाए हुए मौन होकर ऐसे बैठे कि उनके कारण किसी प्रकार का हलका भी शब्द नहीं होता था, जिससे किसी मनुष्य के निकट रहने की आशा से बकरे को धीरज बँधता। इस बार इन दोनो में यह निश्चय हुआ था कि तलवार से ही मृगया हो। प्रायः दो घड़ी-पर्यंत बकरा बराबर में-में करता रहा, और ये दोनो चुपके बैठे योग-सा साधते रहे। अंत में उसकी आवाज़ एक व्याघ्र के कानों तक पहुँच ही तो

गई, और वह आकर बकरे पर झपटने को हुआ। इतने ही में दोनो राजकुमारों ने बढ़कर उसे कुछ निकट से ललकारा, जिससे बकरे की ओर जाना छोड़कर वह चंद्रगुप्त पर ही झपटा। आपने उसके दोनो हाथ अपनी ढाल पर रोककर इस फुर्ती से तलवार मारी कि बाघ दो टुकड़े होकर वहीं ढेर हो गया। तब बकरे को लानेवाले अपने छिपे हुए दोनो भृत्यों को उसे तथा व्याघ्र के लाने की आज्ञा देकर ये दोनो राजकुमार पैदल ही हँसी-ख़ुशी शिकारी दल के वास्ते चले। मार्ग में यों बातें होने लगीं—

सिंहसेन—तुम तो भाई, ख़ूब ही लक्ष्य बेधते तथा तलवार भी चलाते हो।

चंद्रगुप्त—इस बार मैं दैव-वश पूर्णतया कृतकार्य हो गया। कभी-कभी एक बच्चे का भी निशाना ठीक लक्ष्य पर बैठ जाता है।

सिंहसेन—इतनी कृतकार्यता के पीछे ऐसी विनम्रता और भी मीठी लगती है। तलवार भी ख़ूब ही चलाई। मैं तो समझता था कि मुझे भी प्रयत्न करना पड़ेगा, किंतु आपका साहस एवं वीरता शत मुख से श्लाघ्य है।

चंद्रगुप्त—यह आपकी महत्ता है कि एक छोटे-से काम की इतनी सराहना करने का औदार्य दिखलाते हैं।

सिंहसेन—जगद्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त के सुपुत्र को जैसा होना चाहिए था, ईश्वर ने आपको वैसा ही बनाया है। यदि वे यहाँ होते, तो कितने प्रसन्न हो जाते?

चंद्रगुप्त—भला, मैं पूछता हूँ कि दक्षिण तक में उनकी विजय-यात्रा इतनी सुगमता-पूर्वक पूरी कैसे हो गई?

सिंहसेन—मामाजी का कथन था कि उनमें रण-कौशल से सैन-संचालन की विद्या बहुत अच्छी है।

चंद्रगुप्त—आप लोगों का दल-बल देखते हुए मुझे समझ पड़ता

है कि उज्जयिनी तथा गुर्जर-शक-बल से न भिड़ने में पितृचरण ने बुद्धिमानी का ही काम किया।

सिंहसेन—मैं भी समझता हूँ कि ऐसे सुयशी विजेता को उपायन के रूप में कर देकर भी पूज्यपाद मामाजी ने दूरदर्शिता दिखलाई। थोड़ी-सी मूछ नीची होने में यदि वंश के प्रचंड अमंगल की संभावना का खटका मिटता हो, तो वृथा के लिये रावण का-सा हठ बुद्धिमानी का काम नहीं समझा जायगा।

चंद्रगुप्त—युवराज महोदय! आपके विचार बहुत उच्च तथा संकटों की संभावनाओं को जड़ से काटनेवाले हैं। धन्य है आपकी दूरदर्शिता को! आशा है, हम लोगों की मित्रता के कारण भविष्य में भी इन दोनो शक्तियों में संघट्ट की संभावना परमेश्वर कभी न लावेंगे।

सिंहसेन—बात तो आपकी बहुत योग्य है, किंतु यथार्थ भाषण को बावन तोले पाव रत्ती पर यदि ले जायँ, तो मानना पड़ेगा कि राजकीय विषयों के प्रश्न केवल निजू मित्रताओं के आधार पर न चलकर अनेकानेक अन्य विचारों, दशाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार भी चलते हैं।

चंद्रगुप्त—यह तो बात ही है। फिर मैं तो अपने यहाँ का युव-राज न होकर समय पर उपरिक-भर हो सकता हूँ। ज्येष्ठ बंधु के सम्मति मानने से सब कुछ हो सकता है, नहीं तो कुछ भी नहीं।

सिंहसेन—सो तो हई है, किंतु आपके यहाँ ज्येष्ठ बंधु ही के सम्राट् होने का निश्चय नहीं रहता; स्वयं वर्तमान परम भट्टारक कनिष्ठ बंधु होकर भी अपने पिता द्वारा चुने गए थे।

चंद्रगुप्त—इस बात का एक ही उदाहरण होने से यह नियम न माना जाकर एक अपवाद-मात्र था। फिर मैं स्वयं ज्येष्ठ भ्राता राम-

गुप्त के अधिकार छीनने का उत्सुक नहीं। जब ईश्वर ने उन्हें बड़ा बनाया है, और हम दोनो एक ही माता-पिता की संतान हैं, तब उन्हीं को राजपद शोभा भी देगा।

सिंहसेन—इन बातों में अभी से क्या रक्खा है? यदि आप कनिष्ठ भ्राता न होते, तो विद्या-वृद्धि के लिये अयोध्या से चलकर उज्जयिनी तक पराए राज्य में आते ही क्यों? बड़े राजपुत्रों को अपना भविष्य पहले ही से समुज्ज्वल दिखता रहता है, सो वे प्रायः विशेष प्रयत्न करते भी नहीं।

चंद्रगुप्त—होता ऐसा भी है, किंतु यह कोई नियम नहीं है। अधिक दशाओं में यह बात देखी अवश्य गई है।

सिंहसेन—अच्छा यार, अब तो तुम्हारे विवाह का समय आ रहा है। भला, कोई ऐसी रूपवती युवती देखने में आई है, जिस पर चित्त लोट-पोट हो गया हो?

चंद्रगुप्त—यह विषय तो पिता की आज्ञा के अधीन है, मैं इस पर पैर आगे कैसे बढ़ा सकता था?

सिंहसेन—अब यार, मुझसे भी उड़ने लगे। ऐसे आप दूध के धोए नहीं हैं कि दुनिया की रंगतों से नितांत उदासीन हों।

चंद्रगुप्त—यों तो आँखें रखता ही हूँ, किंतु जो बात स्वाधीन नहीं, उस पर विशेष चांचल्य-प्रदर्शन से सिवा कष्ट के प्रसन्नता क्या प्राप्त हो सकती है?

सिंहसेन—तुम तो भाई! अब ऐसे भोले बनते हो कि बुद्धू तक कह बैठने को जी चाहने लगता है।

चंद्रगुप्त—अच्छा, आपका तो विवाह भी मामाजी ने कर दिया है, अब सुसेवित होकर आप इस विषय पर क्यों जाते हैं?

सिंहसेन—इसी से तो कहता हूँ कि आप ऐसे भोले होंगे तो नहीं, किंतु बनकर मुझे मूर्ख बना अवश्य रहे हैं।

इस पर गुप्त-राजकुमार ने सोचा कि बिना कुछ माया के न तो युवराज को संतोष होगा, न इनका भाव ही प्रकट होगा, अतः उन्होंने कहा—

चंद्रगुप्त—तुम्हारा कहना यार, है तो ठीक। अच्छा, अब कहता हूँ कि मेरी निगाह में अब तक ऐसी कोई सुंदरी पड़ी नहीं कि आपे को भूल बैठता।

सिंहसेन—अब रास्ते पर आए। अरे यार, कितनी ही सुंदरियाँ अपने विश्वविद्यालय में ही हम लोगों की सहपाठिकाएँ हैं। देखिए, ध्रुवस्वामिनी ही क्या कम है?

चंद्रगुप्त—वह तो प्रायः द्वादशवर्षीया-सी बालिका-मात्र है। उसके विषय में पूर्ण सौंदर्य के विचार अभी उठ ही क्या सकते हैं?

सिंहसेन—यह बात तो ठीक है, किंतु समय पर जब रूप निखरेगा, तब वह उर्वशी, तिलोत्तमा के समान जगन्मोहिनी हो सकेगी।

चंद्रगुप्त—यह संभव है, किंतु अभी निश्चय ही क्या है?

सिंहसेन—मुझे तो ऐसा निश्चय है कि यदि मामाजी के कोप का भय न होता, तो मैं उस पर हाथ अवश्य डालता। साल-दो साल तक कहीं भी रक्खी जा सकती थी।

चंद्रगुप्त—यहाँ तक जाना एक युवराज के लिये शायद ठीक न होता।

सिंहसेन—यह भी आपका कहना योग्य है। मैं भी साधारण लोगों से ऐसे विचार प्रकट न करता; वह तो साल-डेढ़ साल से आपकी मित्रता बढ़ जाने के कारण मुझे विश्वास बहुत हो गया है।

चंद्रगुप्त—यह आपकी कृपा है।

इस प्रकार बातें करते हुए दोनो मित्र मृगयार्थी दल में पहुँचे, और सब लोग इन्हें बधाई देकर उचित प्रबंध के साथ उज्जयिनी वापस आए। गुप्त-राजकुमार युवराज को धन्यवाद देकर अपने स्थान पर उतरे।

द्वितीय परिच्छेद

अवभृथ-स्नान

आज उज्जयिनी के विश्वविद्यालय में छात्रों के लिये बड़ी प्रसन्नता का दिन है। जिन्होंने पाँचों वर्ष का पठन समाप्त कर लिया है। उनके अवभृथ-स्नान होकर उन्हें स्नातक का पद प्रमाण-पत्र अथच पारितोषिक के साथ आज ही मिल चुका है। उनके विद्याध्ययन का समय सफलता-पूर्वक समाप्त हो चुका है, और संसारी कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने अथच बहुत दिनों के पीछे अपने कुटुंबियों के फिर से दर्शन करने का सुखद अवसर प्राप्त हुआ है। इतनी प्रचुर प्रसन्नता के साथ विश्वविद्यालयवाले चिरकाल के साथियों और मित्रों से विछोह का थोड़ा-बहुत दुःख भी लगा हुआ है। स्नातक अपने मित्रों से मिल-मिलकर भविष्य के विषय में कार्यवाही तथा पुनर्मिलन के अवसरों पर भी बातें कर रहे हैं। शिक्षक और उपदेशकगण उन्हें भविष्य के सदाचार और विद्यालय के नाम बढ़ाने के विषय में भी शिक्षाएँ दे रहे हैं। सत्य, धर्माचरण, स्वाध्याय (वेद-पाठ), प्रवचन (वैदिक शिक्षा) आदि में भूल न करने, मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, अतिथिदेव होने, गुरुओं के मान्य चरित्रों का ही अनुकरण करने इतरों का नहीं, दान करने, कर्म विचिकित्सा (संदेह) की दशा में विचारवान् तथा धर्म-रत लोगों के कार्यों का प्रमाण मानने आदिवाले उपदेशों के हृदयंगम करने की शिक्षा दी जा रही है। उन्हें समझाया जा रहा है कि इन उपदेशों को

न केवल सुनना चाहिए, वरन् इन्हें भविष्य के आचरणों का अंग भी बना लेना योग्य है। कुछ लोग संसार का कुछ भयावह रूप देखकर उससे काँपते-से दिखते हैं, तथा इतर लोग उसे हर्ष का स्थान मानते हैं। मुक्ति का विचार ही इसे बखेडा-सा समझता है, जिससे पीछा छूटना सर्वोत्कृष्ट धार्मिक भावना मानी जाती है। हमारे अध्यापक समझा रहे हैं कि जो लोग अपने योग्य भाग से बहुत अधिक पाने का न केवल प्रयत्न करते, वरन् उसे अपना स्वयं सिद्ध अधिकार मानते हैं, उन्हीं को जगत् दुःखमूलक दिखता है। यदि सोचा जाय, तो ६५ वर्ष की अवस्था के साधारण जीवन में घोर शारीरिक कष्ट के दिन प्रायः एक-दो मास से अधिक नहीं होते। अस्वस्थता के शेष दिनों में भी घोर कष्ट नहीं रहता। संसार के इतर दुःख मानस होते हैं, जो शुद्ध शिक्षा से स्वल्प कष्ट-मात्र के कारण रह सकते हैं। जिन्हें इतना बोध हो, वे जीवन को दुःख-योनि न समझकर आनंद-मय पावेंगे। गीता में शिक्षा मिल ही चुकी है कि जो लोग "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।" (दुःखों से उद्विग्न न होनेवाले तथा सुखों की विशेष इच्छा न करनेवाले) हों, वे ही वास्तव में स्थितप्रज्ञ हैं। देखने में ये शिक्षाएँ बहुत ऊँची और कार्य-रूप में दुष्प्राप्य-सी समझ पड़ती हैं, किंतु थोडा-सा दृढ़ता-पूर्ण अभ्यास करने से सुगम दिखने लगेंगी। यह कथन केवल डींग न होकर अनुभव-सिद्ध है।

गुप्त-राजकुमार ने दो ही साल यहाँ बिताकर शस्त्रास्त्र-शिक्षा के अतिरिक्त समर-कौशल और साहित्य-शास्त्र एवं निर्माण-कार्य में भी प्रचुर परिश्रम द्वारा प्रवीणता प्राप्त की है। कालिदास ने सहपाठी के रूप में साहित्यिक प्रवीणता में इन्हीं के साथ परीक्षित होकर प्रमाण-पत्र प्राप्त किए हैं। पंजाबी राजकुमार इंद्रदत्त भी इसी वर्ष स्नातक हुए हैं, तथा उनकी भगिनी ध्रुवस्वामिनी के विषय में यह विचार

हो रहा है कि भाई के स्वदेश पलटने पर भी वह किसी अन्य अभिभावक के साथ अभी कुछ काल तक यहीं विशेष शिक्षा ग्रहण करें या घर वापस जायँ। गुप्त-राजकुमार की इन दोनों से शुद्ध मैत्री है, तथा कालिदास से बहुत विशेष। वह स्नान करके वायु-सेवनार्थ निकले हैं, अथच इन भाई-बहन से उनका साक्षात्कार हुआ है, तथा बातचीत भी होने लगी है।

इंद्रदत्त—क्यों भाई चंद्र! हम तुम दोनो तो अपने-अपने देशों को पलटते हैं। भला, इनके विषय में अब क्या सम्मति है?

चंद्रगुप्त—क्यों देवीजी! आपकी क्या इच्छा है?

ध्रुवस्वामिनी—मैंने अभी शिक्षा ही क्या पाई है? मैं तो समझती हूँ कि अभी साल-दो साल मुझे और यहाँ पढ़ना चाहिए।

इंद्रदत्त—मत तो मेरा भी यही है, किंतु कोई अच्छा अभिभावक नहीं देख पड़ रहा है।

ध्रुवस्वामिनी—क्या मामाजी मेरा समुचित प्रबंध न कर सकेंगे?

इंद्रदत्त—उनकी शुद्ध प्रीति और राजभक्ति पर तो कोई संदेह नहीं, किंतु स्वदेश से इतनी दूर शक-राज्य में प्रत्येक परिस्थिति को सफलता-पूर्वक उनके निभा ले जाने की शक्ति में कुछ भय की छाया चित्त से नहीं जाती। उधर पितृचरण ने यह निर्णय मेरे ही ऊपर छोड़ रक्खा है।

चंद्रगुप्त—यही मुझे भी दिखता है। वर्तमान महाक्षत्रप तृतीय रुद्रसेनजी तो बड़े ही सज्जन और प्रजा-प्रिय नरेश हैं, किंतु वृद्धों का क्या ठिकाना? जब चाहें, चल बसें।

इंद्रदत्त—उनके पीछे युवराज सिंहसेन कैसे निकलेंगे, सो कहा नहीं जा सकता।

चंद्रगुप्त—यों तो वह मेरे प्रगाढ़ मित्र और सज्जन हैं, किंतु राजमद बड़ा भारी बोझ है। उसने बड़े-बड़ों को कलंक दिया है।

इंद्रदत्त—क्या इस विषय में आपको संदेह के कोई कारण भी देख पड़े हैं ?

चंद्रगुप्त—सो बात नहीं है भाईजी ! किंतु तरुणावस्था अविश्वसनीय समय है ही।

इंद्रदत्त—बड़ी दूरदर्शिता की बात कह रहे हो, यार मेरे ! यह अवस्था ही ऐसी है कि निश्चय का होना कुछ कठिन रहता है।

चंद्रगुप्त—फिर इनका सौंदर्य भी कष्टप्रद हो सकता है।

ध्रुवस्वामिनी—यह तो आप मिथ्या बड़ाई कर रहे हैं। मुझसे हज़ार गुना अच्छी-अच्छी इतर बालिकाएँ यहीं प्रस्तुत हैं।

चंद्रगुप्त—यह विनम्र भाव आपको और भी शोभा देता है, बहन-जी ! देखिए, भाई कालिदासजी आ रहे हैं, इनसे भी सम्मति ले ली जाय।

ध्रुवस्वामिनी—जब सौंदर्य का भी प्रश्न बहनापे के साथ लगे रहने की संभावना सामने है, तब मेरा यहाँ से हट जाना ही योग्य है। है न आज्ञा ?

चंद्रगुप्त—इसकी तो कोई बात नहीं है, किंतु यदि कार्य विशेष हो, जिसके लिये इस बहाने से जाना चाहती हो, तो जा भी सकती हो।

"बड़ी कृपा।" कहकर ध्रुवस्वामिनीजी तो अपने डेरे को प्रस्थित हुईं, तथा कविवर कालिदासजी आकर इन दोनो से नमस्कार-आशीर्वाद आदि के पीछे बातें करने लगे। इंद्रदत्त ने उपर्युक्त हाल समझाकर उनसे सम्मति माँगी, तो उन्होंने इस प्रकार बात की—

कालिदास—भाई, मैं तो इसी राज्य का निवासी ठहरा। मेरे मुख से राजनिंदा शोभा नहीं देती, किंतु गुप्त भाव से मित्रवत्

के नाते कहता हूँ कि ईश्वर करे हमारे महाक्षत्रपजी शतंजीवी हों, किंतु युवराज महोदय हैं पूरे स्त्रैण।

चंद्रगुप्त—समझ मुझे भी यही पड़ता है।

इंद्रदत्त—तो आप दोनो की क्या यही सम्मति है कि मैं भगिनी-जी को साथ ही लिए जाऊँ?

कालिदास—अवश्य।

चंद्रगुप्त—मैं भी निश्चय-पूर्वक यही समझता हूँ। (कालिदास से) अब आपकी क्या इच्छा है, भाईजी!

कालिदास—मैं तो भाई! अपना देश छोड़कर इतनी दूर अयोध्या को कहाँ जाऊँगा? आप स्वयं फिर विचार लीजिए।

चंद्रगुप्त—हाँ, चूड़ियाँ फूटने का भय अवश्य है।

कालिदास—माना कि मनुष्य को साहस से काम सदैव लेना चाहिए, किंतु स्वदेश-प्रेम भी कोई वस्तु है कि नहीं?

इंद्रदत्त—आप कौन भारत से बाहर जाने को विवश किए जा रहे हैं? क्या सारी भारतीय आर्य-संस्कृति एक नहीं है?

कालिदास—है तो अवश्य एक, किंतु सम्राट् समुद्रगुप्त ने प्रायः सारा का-सारा भारत जीता था, केवल ये दोनो शक-राज्य बच रहे हैं। यदि इनसे भी कभी युद्ध छिड़ गया, तो कैसी ठहरेगी?

चंद्रगुप्त—यह तो कठिन समस्या है, क्योंकि ठहरे आप भी शक ही, अभी सीधे शकस्थान (सीस्तान) से चले आ रहे हैं।

कालिदास—ऐसे व्यंग्य-पूर्ण कथनों में तब सार होता, जब शक लोग अपने को अहिंदू समझते या आर्य-सभ्यता के प्रतिकूल होते। स्वयं उषावदात (ऋषभदत्त) के पुण्य कार्यों को सोचिए।

इंद्रदत्त—अच्छा, अब विपरीत लक्षणा छोड़कर सीधी अभिधा में बात हो। मैं पूछता हूँ, ये लोग अब तक क्या अपने को क्षत्रप नहीं कह रहे हैं?

चंद्रगुप्त—और नहीं तो क्या? ईरान से स्वतंत्र होने पर भी केवल भारतीय "महा" शब्द मिलाकर अपने को महाक्षत्रप-भर कहने लगे हैं। ईरानी संबंध इन्हें अब तक प्रिय है।

कालिदास—विवाह-संबंधादि का तो विचार कीजिए।

इंद्रदत्त—जब भारत में राज्य करते हैं, तब संबंध करने जायँ कहाँ? यहाँ के राजमंडल से संबंध जोड़ने में शक्ति की भी तो वृद्धि होती है।

चंद्रगुप्त—जब तक ये लोग अपने को शक कहते जाते हैं, तब तक मैं इनको विदेशी समझने पर बाध्य हूँ।

कालिदास—क्या आप भारत से शक नाम ही उठा देना चाहते हैं?

चंद्रगुप्त—इसमें भी कोई संदेह है? जब तक ये लोग हमारे चातुर्वर्ण्य में पूर्णतया मिलकर चित्त से भी शक पन छोड़ अपने को सर्वप्रकारेण भारतीय नहीं समझते, तब तक प्रत्येक देश-प्रेमी भाई को इनके मूलोच्छेदन में प्रवृत्त रहना चाहिए।

कालिदास—है तो मूलतः आपका विचार ठीक, किंतु जिसके राज्य में उत्पन्न होकर सुख-पूर्वक इतना समय बिताया, उसके साथ क्या कुछ भी राजभक्ति योग्य नहीं?

चंद्रगुप्त—भाई साहब! क्षमा कीजिएगा ; राजभक्ति और देश-भक्ति में भेद माननेवाले मूलतः स्वदेश-शत्रु हैं। कोई आर्य कहीं भी क्यों न उत्पन्न हुआ हो, है वह वास्तव में आर्य, भारतीय और आर्य-सभ्यता की संतान।

कालिदास—इस कथन में तो मुझे भी दंश नहीं देना है। फिर भी समझना चाहिए कि शकों द्वारा भी आर्य-सभ्यता का सौ में नब्बे अंश पोषण होता ही है।

इंद्रदत्त—अब तो भाईजी! अपने ही मुख से आपका पक्ष गिर गया।

कालिदास—हुआ तो ऐसा ही ; आर्य-सभ्यता जब समर्थनीय है, तब उसका सौ में सौ अंश समर्थन आवश्यक है ही। मैंने तो भाई, साहित्य पर सदैव विशेष ध्यान दिया, तथा शक देश में उत्पन्न और सुखी होने से यह न सोचा कि इनके द्वारा पूर्ण आर्य-सभ्यता के समर्थनाभाव से इनके साथ पूर्ण राजभक्ति देश-प्रेम के न्यूनाधिक प्रतिकूल है।

चंद्रगुप्त—अच्छा महात्माजी! "अब से आए, घर से आए।" का मामला है। अब तो यह प्रश्न आपको अयोध्या जाने में बाधक न होगा?

कालिदास—क्यों होने लगा?

इंद्रदत्त—आपके माता-पिता तो अब हैं नहीं, न जहाँ तक मैं समझता हूँ, कोई बहुत निकट का संबंधी इस देश में है।

कालिदास—सो तो ठीक ही है। हाँ, थोड़ी-सी स्थावर संपत्ति है ही। जंगम तो बेंच-खोंचकर दाम खड़े कर सकता हूँ, किंतु उसको क्या करूँगा?

चंद्रगुप्त—उसे भी औने-पौने दामों पर फटकार लीजिए। जितनी हानि हो, उससे दूनी मुझसे ले लीजिएगा, और भुक्ति जो मिलेगी, वह अलग रही।

इंद्रदत्त—अब तो आपको कोई चिंता शेष नहीं है?

कालिदास—अभी तो चिंता का प्रश्न प्रबल पड़ता है।

चंद्रगुप्त—क्या मित्रता में प्रतिग्रह की बात अखरती है?

कालिदास—आप ही समझ लीजिए ; अखरे क्यों नहीं?

इंद्रदत्त—अरे भाईजी! इनके तो मित्र ही बने रहिएगा ; भारत के सम्राट् से मान-प्राप्ति किसी कवि के लिये कोई हेय बात नहीं।

कालिदास—आप लोगों के तर्कों का उत्तर तो मैं दे पाता नहीं,

किंतु इतना विचार आप नहीं कर रहे हैं कि मित्र और आश्रित में क्या भेद है ?

चंद्रगुप्त—आश्रित होगा कौन ? आप तो मित्र ही रहेंगे ; इस बात का मैं वचन भी देता हूँ। रही सम्राट् द्वारा भावी रीझ, उसके प्रयत्न न करूँगा। फिर भी मैं जानता ही हूँ कि ऐसे गुणी को देखकर वह मान अवश्य करेंगे।

इंद्रदत्त—इनकी केवल दो उपमाएँ सुनकर ही वह फड़क उठेंगे। वह भी तो सत्कविराज ठहरे।

चंद्रगुप्त—भाईजी ! अब आप संकोच छोड़कर मुझ पर कृपा कीजिए। निश्चय-पूर्वक कहता हूँ कि इसमें अनुग्रह आप ही का होगा, मेरा नहीं। अब मान ही जाइए ; देखिए, मैं शुद्ध चित्त से बिनती कर रहा हूँ।

कालिदास—यह आप क्या कहते हैं ? ऐसे गुणग्राही मित्र का साथ देने में झिझका चित्त न हुलसेगा ? मुझे प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार है।

चंद्रगुप्त—धन्य भाग्य ! अब चित्त प्रसन्न हुआ। यदि आपको छोड़कर स्वदेश जाता, तो मेरा मन सदैव यहीं लगा रहता।

इंद्रदत्त—मैं आप दोनो को इस विचार की सफलता पर बधाई देता हूँ ! किंतु एक बात अवश्य कहूँगा कि मैं अकेला रहा जाता हूँ।

कालिदास—ऐसा आप न सोचिए ; हम लोग प्रयत्न करके इन्हें यमुना-कूलस्थ गुप्त-प्रदेश के उपरिक बनवावेंगे, जिससे आपके देश से नैकट्य का सुख रहेगा। मिलने-भेंटने के भी बहुतेरे अवसर प्राप्त होते रहेंगे।

चंद्रगुप्त—समझ लीजिए भाईजी ! आप युवराज हैं। आपका अयोध्या में सदैव रहना असंभव-सा है। फिर भी प्रायः रह सकते हैं।

इंद्रदत्त—सो तो हुई है। यदि ईश्वर ने चाहा, तो गुप्त-साम्राज्य से हमारी मैत्री बढ़ती ही रहेगी।

चंद्रगुप्त—इसमें क्या संदेह है? तो फिर चलने का निश्चय हो। (कालिदास से) आप तो चलेंगे ही।

कालिदास—क्या चलूँ ही?

चंद्रगुप्त—क्या अब भी कुछ कहना शेष है?

कालिदास—संदेह की तो कोई बात शेष नहीं, और पदोन्नति बहुत कुछ है ही, किंतु आगे से साहित्यिक जीवन चौपट समझिए।

इंद्रदत्त—यह बात विचित्र-सी है; अभी-अभी तो आप संपत्ति के भावी प्रबंध में व्यस्त थे, और इतनी ही देर में निर्धनता के पक्षी देख पड़ने लगे हैं।

कालिदास—ऐसी कौन-सी संपत्ति है, जिसके लिये व्यस्त कहा जा सकता; यही पूर्व-पुरुषों द्वारा अर्जित थोड़ा भी धन फेंकते नहीं बनता था।

चंद्रगुप्त—सो तो मान लिया, किंतु निर्धनता पर इतना प्रेम समझ में नहीं आ रहा है।

इंद्रदत्त—इस संदेह में तो मैं भी सम्मिलित हूँ।

कालिदास—आपके कवि न होने से ऐसा कथन होना कुछ अनुचित नहीं, किंतु इनका संदेह समझ में नहीं आ रहा है।

चंद्रगुप्त—अब समझा; (इंद्रदत्त से) भाईजी! इनका विचार ऐसा लगता है कि असली साहित्यिक भाव जितने दरिद्रता से प्राप्य हैं, उसके चतुर्थांश भी धनाढ्यता से नहीं।

कालिदास—यही समझ लीजिए; जब धनाभाव से स्त्री को अच्छे वस्त्राभरण की कौन कहे, पेट-भर सुस्वादु भोजन भी अप्राप्य है, जब बच्चे रोग-शय्या पर पड़े मरणासन्न तक हों, और ठीक दवा लाने तथा भिषक् के बुलाने को पास दाम ही न हों, और उधार बच्चे

के मुख पर मुर्दनी छा रही हो, उस अवसर की विकलता में जैसे सच्चे साहित्यिक अनुभव होंगे, वैसे धनिकों को कहाँ मिल सकते हैं ?

चंद्रगुप्त—ऐसी-ऐसी सैकड़ों घटनाएँ तथा अवस्थाएँ सोची जा सकती हैं, किंतु मेरा विचार ऐसा है कि आप अयोध्या में अपने दो रूप रक्खें, एक तो मेरे मित्रवाला और दूसरे में वेष बदलकर दरिद्र बनना और निर्धनों से उस दशा में मित्रता निभाकर उनके वास्तविक अनुभवों से साहित्यिक लाभ उठाना, तथा कठिन अवसरों में मेरे धन से उनके दुःख भी कुछ दूर कर देना।

इंद्रदत्त—अब तो आप प्रसन्न हैं ? एक को साहित्य का लाभ होगा और दूसरे को पुण्य का।

कालिदास—कुछ ऐसा ही करना पड़ेगा। प्रसन्न तो पहले भी था, अब संदेह भी पूर्णतया दूर हो गया।

चंद्रगुप्त—धन्य भाग्य ! अच्छा, अब एक बात कहने को मेरा भी जी चाहता है।

कालिदास—वह भी कह डालिए ; संकोच किस बात का है ?

चंद्रगुप्त—बात कुछ ऐसी-ही-वैसी है, किंतु चित्त चंचल हो रहा है।

इंद्रदत्त—तब कहिए क्यों न ?

चंद्रगुप्त—मैंने कल एक बड़ा विचित्र स्वप्न देखा।

कालिदास—हाँ, कहिए, क्या देखा ?

चंद्रगुप्त—मैंने देखा कि पूरब-उत्तर की ओर से एक तरंगित चंद्र आकाश में उदित हुआ, जिसके प्रकाश से चांद्र ज्योत्स्ना भी मलीन हो गई। वह चिरकाल-पर्यंत इसी भाँति चमकता रहा, किंतु फिर अकस्मात् खंड-खंड होकर लुप्त हो गया।

इंद्रदत्त—चलो तो अच्छा, तब फिर पीछे क्या हुआ ?

चंद्रगुप्त—अनंतर ऐसा घोर अंधकार फैला कि आँख को हाथ नहीं सूझता था। इतने में एक मृग-शावक निकला, जिस पर एक सिंह

झपट पड़ा। दूसरी ओर से एक अन्य सिंह सिंहिनी के साथ निकला। वह सिंहिनी ज़ोर से दहाड़ी, जिससे सिंह ने गर्जकर ऐसे पंजे मारे कि पहला सिंह और मृग, दोनो गन हो गए। अनंतर सिंहिनी और सिंह दोनो पंजों में पंजे मिलाकर आकाश की ओर उड़े, तथा वहाँ मिलकर एक नक्षत्र के रूप में परिवर्तित होकर पूर्वोक्त लहरदार चंद्र से विशेष ज्योति के साथ चमकने लगे। इतने में आँख खुल गई।

इंद्रदत्त—यह तो बड़ा ही विचित्र स्वप्न है।

चंद्रगुप्त—मैं चाहता था कि इसका कुछ तात्पर्य समझ में आ सकता, तो अच्छा था।

कालिदास—ऐसे स्वप्न का प्रयोजन निकालना मेरे दार्शनिक ज्ञान के तो बाहर है।

इंद्रदत्त—बतला मैं भी नहीं सकता। इतना कहूँगा कि पिताजी इस विषय का बहुत ऊँचा ज्ञान रखते हैं। यदि आप अयोध्या जाने में थोड़ा-सा चक्कर खाकर मेरे गृह को पुनीत कर सकें, तो संभवतः इस स्वप्न का प्रयोजन थोड़ा-बहुत विदित हो ही जाय।

चंद्रगुप्त—क्यों भाई कालिदासजी! आपकी क्या इच्छा है?

कालिदास—इनके प्रेम से मैं भी इनकी राजधानी तक चलने में प्रसन्न हूँगा। कोई दोष तो दिखता नहीं।

चंद्रगुप्त—प्रेम पर विचार करने से बिना बुलाए भी जाना योग्य ही है, किंतु पितृचरण की आज्ञा के अभाव में क्या यह उचित होगा? इन्होंने भी अपने पिताजी से पूछा न होगा।

इंद्रदत्त—ऐसी छोटी बातों के लिये इतना सोच-विचार अनावश्यक है। दो मार्ग हैं ही, कहीं से जा सकते हैं।

कालिदास—ठीक तो है। मार्ग में सबके साथ समय भी अच्छा कटेगा।

चंद्रगुप्त—तब ऐसा ही सही।

तृतीय परिच्छेद

युवराज इंद्रदत्त का भोज

जब चंद्रगुप्त तथा युवराज इंद्रदत्त अपने-अपने देशों को जाने को हुए, तब युवराज सिंहसेन ने इनके सम्मानार्थं एक राजभोज किया। इसी प्रकार चंद्रगुप्तजी का भी हुआ, और आज युवराज इंद्रदत्त के यहाँ है। उसका यथायोग्य प्रबंध हो चुका है, और सूर्यास्त के प्रायः छ घड़ी पीछे अपनी भगिनी के साथ आप निमंत्रित मित्र-मंडली के स्वागतार्थ सन्नद्ध होकर विराजे हैं। इसमें अपने दो शरीर-रक्षक महाशक्ति तथा चंद्रचूड़ के साथ युवराज सिंहसेन महोदय पधारने को हैं, महाकवि कालिदास के साथ चंद्रगुप्तजी आने को हैं, तथा अपनी स्त्री मल्लिकाबाई के साथ सेठ श्रीचंदजी भी निमंत्रित हैं। इन महाशयों के अतिरिक्त कई और सहपाठी भी बुलाए गए थे। इंद्रदत्तजी ने भोज्य पदार्थों, दीपकादि तथा विशेष सजावटों का अच्छा प्रबंध किया है। सबसे पहले दोनो शरीर-रक्षकों के साथ युवराज सिंहसेनजी पधारते हैं, और स्वागत के पीछे इनसे इंद्रदत्तजी का वार्तालाप होने लगता है।

इंद्रदत्त—आइए युवराज महोदय! बड़ी ही कृपा हुई। (तीनो व्यक्ति यथास्थान बैठते हैं।)

सिंहसेन—धन्यवाद! क्या कहें मित्रवर! चंद्रगुप्तजी तथा भगिनी-सहित आपके भी प्रस्थान से हमारा विश्व-विद्यालय सूना हुआ जाता है। चित्त उद्विग्न-सा हो रहा है।

इंद्रदत्त—बड़ी ही कृपा हुई युवराज महोदय! इस प्रकार हम लोगों का मिलना है तो नदी-नाव-संयोग-सा, तथापि सहपाठीपन से प्रीति समय के साथ अच्छी बढ़ जाती है, जिससे वियोग का अवसर अखरने भी लगता है।

सिंहसेन—यही तो बात है, मित्रवर !

चंद्रचूड़—युवराज महोदय ! आपका तो अध्ययन यथायोग्य हो भी चुका है, किंतु आपकी बहन ध्रुवस्वामिनीजी अभी परसाल यहाँ पधारी हैं। इनके भी अध्ययन छुड़ाने में कुछ शीघ्रता-सी हो रही है। अभी अध्ययनारंभ ही हुआ है कि उसका अंत भी हुआ जाता है।

ध्रुवस्वामिनी—है तो आपका कहना ठीक ही, किंतु भाई के विना यहाँ अकेले रहने में मेरा चित्त नहीं हुलसता।

सिंहसेन—भाई आपका क्या मैं नहीं हूँ ? आपके मामाजी भी यहीं प्रस्तुत हैं। सारा प्रबंध वह कर सकते हैं, और यदि कोई विशेष बात उपस्थित हो जाय, तो मैं प्रस्तुत हूँ ही। मैं समझता हूँ, बहनजी को इस मामले में फिर से विचार करके कुछ साहस ग्रहण करना चाहिए।

इंद्रदत्त—है युवराज महोदय के कथन में भी बहुत कुछ सार। मैं तो समझता हूँ कि बहनजी को हिम्मत बाँधनी भी अनुचित नहीं। मैंने इन्हीं पर यह विषय छोड़ रक्खा है।

ध्रुवस्वामिनी—मेरा मन यहाँ अकेले लगना दुर्लभ है।

इंद्रदत्त—युवराज महोदय ! आपकी कृपा का तो मैं बहुत कुछ धन्यवाद देता हूँ, किंतु भगिनीजी बेचारी अभी बालिका-मात्र हैं। इनके लिये साहस ग्रहण सुगम नहीं।

सिंहसेन—अवस्था देखते हुए बात आपकी ठीक ही है, यद्यपि अभी कुछ काल यहाँ ठहरने से विद्याध्ययन इनका भी पूर्ण हो जाता।

इंद्रदत्त—बात तो यही थी, किंतु बच्चों का मन विशेष लगना कठिन है।

सिंहसेन—यही बात है, मित्रवर !

यहाँ इसी प्रकार बातें हो रही थीं कि मल्लिकाबाई के साथ सेठ श्रीचंदजी भी उपस्थित होते हैं। इंद्रदत्तजी अभ्युत्थान देकर इन दोनो का भी स्वागत करते हैं।

सिंहसेन—आइए सेठजी ! विराजिए। (दोनो बैठते हैं।) कहिए, आजकल वनिज-व्यापार कैसा चल रहा है ?

सेठ श्रीचंदजी—युवराज महोदय की कृपा से व्यापार अच्छा चलता है। समय ऐसा है कि पौर-जानपद धन-धान्य से संपन्न हैं, जिससे अलंकारों तथा हीरा-मोतियों आदि की बिक्री कम नहीं है। विदेशों से भी व्यापार-वृद्धि ख़ासी हो रही है। रोम हमारा अच्छा ग्राहक है।

सिंहसेन—बाईजी ! कहिए, आप भी प्रसन्न हैं न ?

मल्लिकाबाई—युवराज महोदय की कृपा से बहुत ख़ुश हूँ।

चंद्रचूड़—आजकल भी तीर्थ-स्नान तथा देव-दर्शनों का व्यसन चलता है न ?

मल्लिकाबाई—यही बात है। आप तो यदा-कदा ऐसे स्थानों पर देख भी पड़ा किए हैं।

चंद्रचूड़—बाईजी की भक्ति बहुत प्रगाढ़ है।

मल्लिकाबाई—इसकी विशेष प्रशंसा अनावश्यक है।

इतने ही में चंद्रगुप्त और कालिदास भी पधारते हैं, तथा सब लोग इन दोनो का उचित स्वागत करते हैं।

सिंहसेन—चंद्रगुप्तजी महोदय ! आप तो आज सबके पीछे पधारे हैं। क्या प्रस्थान-समय के निकट आने से हम लोगों से मोह भी छूटता जाता है ?

चंद्रगुप्त—ऐसा तो नहीं है मित्रवर ! वरन् ज्यों-ज्यों चलने का समय निकट आता जाता है, त्यों-त्यों चित्त में न्यूनाधिक उद्विग्नता भी बढ़ती जाती है। आशा है, भविष्य में भी प्रेम-पूर्वक मिलने के संयोग लगते रहेंगे।

सिंहसेन—ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा अवश्य हो, किंतु बहुत बड़ी दूरी के कारण आशा इसकी कम है। कालिदासजी को भी आप क्या लिए जा रहे हैं ?

चंद्रगुप्त—है तो यही बात, युवराज महोदय !

सिंहसेन—इनके जाने से तो हमारी राजधानी उज्जयिनी सूनी हो जायगी। क्यों कविवर ! आप तो अपनी प्रायः सारी-की-सारी संपत्ति बेच चुके हैं। क्या पूर्व-पुरुषों के इस स्थान से सदा के लिये मुख मोड़े लेते हैं ?

कालिदास—युवराज महोदय ! उज्जयिनी मुझे है तो परम प्रिय, किंतु चंद्रगुप्त महोदय के प्रेम-पाश में कुछ ऐसा आबद्ध-सा हो गया हूँ कि अ। जा ही रहा हूँ। तो भी ऐसा नहीं है कि अपनी यह नगरी सदा को छोड़ता हूँ।

मल्लिकाबाई—तुम तो भाईजी ! बड़े निर्मोही हुए जाते हो। सारी स्थावर संपत्ति बेचकर भी मन पूरा न भरा, जिससे पूर्व पुरुषों का निवास-स्थान भी अलग कर चुके हो।

कालिदास—वह तो मैंने अपने एक ब्राह्मण मित्र को निवासार्थ दे दिया है ; कुछ बेचा नहीं है। हाँ, शेष स्थावर संपत्ति अवश्य बेच चुका हूँ।

सेठ श्रीचंदजी—बेचा क्या, आपने तो उसे मानो लुटा दिया है। जिसने जो दाम लगाए, वही आपने स्वीकार कर लिए।

कालिदास—शीघ्रता में पूरे दाम देनेवाला बैठा ही कौन है ? यहाँ मेरा कोई निकट का स्वजन तो है नहीं, और अयोध्या जाने में वहाँ से प्रबंध मैं कुछ कर न सकता। ऐसी दशा में सिवा बेचने के और करता ही क्या ? फिर भी प्राण-प्रिय उज्जयिनी सदा को नहीं छोड़ रहा हूँ। जब आऊँगा, तब यथा समय फिर संपत्ति उपार्जित कर लूँगा।

सिंहसेन—कविवर ! आपका जाना तो हम लोगों को अखर बहुत रहा है ; अभी कल्ही-परसों पूज्य मामाजी भी इस पर शोक प्रकाश कर रहे थे। क्या अपना विचार आप बदल नहीं सकते ? फिर एक बार सोच लीजिए।

कालिदास—प्रिय युवराज महोदय ! आपके इस प्रेम-पूर्ण अनुरोध से मैं बहुत प्रभावित हो रहा हूँ। जाने की इच्छा तो मेरी यों भी न थी, किंतु मित्रवर चंद्रगुप्त का अनुरोध टाल न सका। इतनी ही बात है। एक बार स्वीकृति देकर यदि मैं अपने वचनों से फिरना भी चाहूँ, तो यह माने कब जाते हैं ? अभी आप ही से इनका प्रेम-पूर्ण हठ मेरे विषय में कदाचित् होने लगेगा, जिसे आप भी न टाल सकेंगे।

चंद्रगुप्त—प्रियवर ! आशा करता हूँ कि कालिदासजी के विषय में आप मुझे निराश न करेंगे। इनसे मेरा प्रेम धीरे-धीरे इतना बढ़ चुका है कि साथ का छूटना मुझे नितांत दुस्सह हो जायगा। आपके प्रेम से आशा है कि इस वियोग का असह्य भार मेरे ऊपर न पड़ने पाएगा।

सिंहसेन—जब आपको इस विषय पर इतना मोह है, तब मैं भी हठ नहीं कर सकता, यद्यपि इनके जाने से दुःख मुझे भी थोड़ा न होगा।

चंद्रगुप्त—शतशः धन्यवाद मित्रवर !

मल्लिकाबाई—भाईजी ! आशा है, आप अपनी इस भगिनी को भूल न जाएँगे।

कालिदास—नहीं, बहनजी ! ऐसा कैसे हो सकता है ? अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ कि आपने ऐसे प्रेम के साथ मेरा स्मरण करना योग्य समझा है।

सिंहसेन—यह तो सेठानीजी हैं, और आप ब्राह्मण। फिर यह भाई-बहन का संबंध कैसा निकला ?

मल्लिकाबाई—कालिदासजी के पिता मेरे पिताजी के परम प्रगाढ़ मित्र तथा पड़ोसी थे। हम दोनो बालवय से ही भाई-बहन के समान बने रहते थे।

सिंहसेन—आपका इतना प्रेम-पूर्ण चित्त समझकर मैं और भी प्रसन्न हो रहा हूँ, बाईजी महोदया!

मल्लिकाबाई—बड़ी कृपा युवराज महोदय! किंतु इतना प्रगाढ़ प्रेम चिरकाल के संग से ही उत्पन्न हो सकता है, जिस किसी से नहीं।

सिंहसेन—यह तो मैं भी समझता हूँ।

सेठ श्रीचंदजी—कविवर! महाकालेश्वरजी का सुविशाल मंदिर छोड़कर क्या अब अयोध्या को आप शैव से वैष्णव होने जा रहे हैं?

कालिदास—नहीं सेठजी, मैं तो भविष्य में भी शैव ही रहूँगा। स्थानांतरित होने से चित्त में धार्मिक अंतर थोड़े ही पड़ेगा। जो साहित्य रचूँगा, उससे आप इस कथन की सत्यता का अनुभव कर लेंगे।

सिंहसेन—आकर अवंति की सुखद ऋतुओं का आपको तब स्मरण आएगा, जब अयोध्या की जलती हुई लू को झेलिएगा।

कालिदास—अपनी ग्रीष्म-ऋतु भी सुखद तो अवश्य रहती है। देखना चाहिए कि वहाँ ये ऋतुएँ कैसी कटती हैं?

इंद्रदत्त—अभी तक तो आपने साहित्य का ही विशेष अध्ययन किया है, अब राजसमाज में प्रविष्ट होकर क्या राजनीति तथा युद्ध-विद्या का भी अभ्यास बढ़ाइएगा?

चंद्रगुप्त—अभ्यास बढ़ाने की क्या आवश्यकता होगी? संगति के साथ बुद्धिमानों को नवीन अनुभवों से लाभ स्वयमेव हो जाता है।

महाशक्ति—राजनीतिक योग्यता के निमित्त अनुभवी मनुष्यों को विविध जीवनों का अनुभव प्राप्त करना पड़ता है। पूरा राजनीतिक पंडित वह है, जो पूर्णता के साथ अनेकानेक अनभिज्ञ जीवनों तक

का रूप ऐसा प्राकृतिक दिखला सके, मानो वह आजन्म वही था, और कुछ नहीं। हमारे महाकवि में यह योग्यता भी प्रस्तुत है।

इंद्रदत्त—ऐसे ही मनीषियों की आवश्यकता तो हम लोगों को रहती है। मैं युवराज सिंहसेनजी को भाग्यवान् समझता हूँ कि महाशक्तिजी से प्रवीण राजनीतिक इन्हें प्राप्त हैं।

महाशक्ति—बड़ी कृपा युवराज महोदय! किंतु मुझमें ऐसी कोई योग्यता कहाँ है? मैंने तो कविवर के विषय में एक चलतू विचार-मात्र प्रकट किया है।

चंद्रगुप्त—योग्यता होगी क्यों नहीं? आपके वदन से ही प्रवीणता टपकी पड़ती है।

महाशक्ति—बड़ी ही कृपा महाराजजी!

सिंहसेन—क्यों भाई इन्द्रदत्तजी! सप्तसिंधु की ओर आजकल राजनीतिक दशा कैसी है?

इंद्रदत्त—उस ओर तो युवराज महोदय, न्यूनाधिक अराजकता-सी है। पहले कुशान-साम्राज्य का प्रभाव उधर था, किंतु जब से उसका बल नत हुआ है, तब से उधर राजकीय व्यवस्था ऐसी-ही-वैसी है।

सिंहसेन—तब तो संभवतः चंद्रगुप्तजी से मिलकर आप उधर कुछ प्रसर की बात विचारें।

इंद्रदत्त—संभव तो ऐसा है, किंतु अभी इन बातों पर हम दोनो ने कोई विचार नहीं किया है।

चंद्रगुप्त—विचार क्या करते? अभी तक तो हम लोग विद्या-प्राप्ति में ही लगे रहे हैं। फिर अपने ही राज्य सँभालने में क्या कम परिश्रम रहता है, जो अभी से सप्तसिंधु की ओर ध्यान दिया जाय!

मल्लिकाबाई—(ध्रुवस्वामिनी से) बेटीजी! आप कुछ क्यों नहीं बोलती हैं? कहिए, उज्जयिनी का विद्याध्ययन क्या पसंद नहीं?

ध्रुवस्वामिनी—माताजी पसंद तो सब कुछ है, किंतु यहाँ अकेले

रहना कैसे हो सकता है ? जो पढ़ना लिखना होगा, वह अब शक्ति पूर ही में चलेगा ।

सेठ श्रीचदजी—इन दोनो स्थानों में बेटी, तुम्हें कौन अधिक पसंद है ?

ध्रुवस्वामिनी—है तो शक्तिपूर भी बड़ा सुखद, किंतु उज्जयिनी बहुत ही बढ़िया है । अपने यहाँ पुरहूतध्वज का मेला होता है, तथा यहाँ महाकालेश्वर का । चित्त दोनो जगह अच्छा लगता है ।

सेठजी—बेटीजी ! यहाँ का चौक आपने देखा है या नहीं ?

ध्रुवस्वामिनी—पण्य-वीथी तो यहाँ बडी सुंदर है । लोगों में फूलों का भी अच्छा प्रचार है ।

ये सब बातें हो ही रही थीं कि भोजन का समय आ गया, और भाँति-भाँति की सुस्वादु वस्तुएँ परोसी गईं, जिनका आस्वादन करके मित्रों का यह समाज यथासमय भंग हुआ ।

चतुर्थ परिच्छेद

शक-शक्ति

शक लोग आदिम काल में पार्थिया (दक्षिण-पूर्वी ईरान) के निवासी थे। हूणों से पराजित होकर इन्हें पूरब की ओर आना पड़ा। भूमक शक को हम ईसा-पूर्व में सौराष्ट्र का शासक पाते हैं। उधर तक्षशिला में लिअक और पतिक महाक्षत्रप थे, तथा मथुरा में राजवुल और षोडास। यह मालव-पति विक्रमादित्य का समय था। समय पर सौराष्ट्र में चहरात (खखरात) शक नहपान का स्वत्व हुआ। इसका राज्य पूर्वी राजपूताना से नासिक और पूना-पर्यंत फैला था। इसके विरुद्ध क्षत्रप, महाक्षत्रप और राजा थे। इसके जामाता ऋषावदात ने ब्राह्मणों को प्रचुर दान तीर्थ-स्नान में दिया, तथा कई ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह कराए। तीर्थों में घाट भी बनवाए। अनंतर आंध्र-नरेश गौतमी-पुत्र (विलिवायकुर) ने नहपान को पराजित करके अराजक कर दिया, किंतु स्वयं शासन-भार न लेकर किसी द्वितीय शाखा के चष्टन-नामक शक को ही अपना राजप्रतिनिधि बनाया। चष्टन का पौत्र रुद्रदामन प्रतापी शक शासक था, जिसने (सन् १२९ में) आंध्रों से स्वतंत्र होकर राणा महाक्षत्रप का विरुद धारण किया। तत्कालीन आंध्र-नरेश वशिष्ठी-पुत्र श्रीपुलुमायी इसी का दामाद था। इस संबंध के कारण राणा महाक्षत्रप ने इसका निजू राज्य तो न लिया, किंतु जिन-जिन प्रांतों का कोई शक कभी स्वामी अथवा

राजप्रतिनिधि था, वे सब हस्तगत कर लिए। इस प्रकार मालवा, सौराष्ट्र और पश्चिमी घाट से समुद्र-पर्यंत देश के रुद्रदामन शासक हो गए। इनके वंशधरों का राज्य घटते-बढ़ते अवंती और सौराष्ट्र पर चंद्रगुप्त के समय तक रहा।

इनके कुछ काल पूर्व अवंती और सौराष्ट्र में शकों के दो पृथक् राज्य हो गए थे। अवंती की शक-राजधानी उज्जयिनी थी। उधर सौराष्ट्र के राज्य पर सत्यसिंह के पुत्र स्वामी रुद्रसेन का शासन था। समझ पड़ता है कि जब वाकाटक-साम्राज्य के विजेता स्वयं सम्राट् समुद्रगुप्त ने शकों पर हाथ न डाला, तो इनकी सामरिक शक्ति महती अवश्य होगी।

आज बूढ़े महाक्षत्रप रुद्रसेन अपने भागिनेय सिंहसेन से विचार-विनिमय कर रहे हैं। आचरण-संबंधी शुद्धता वह शासकों के लिये स्वभावशः बहुत आवश्यक मानते हैं। रावणादि के उदाहरण देकर समझा रहे हैं कि इंद्रिय-सुखार्थ सारे वैभव को जोखिम में डालना प्रचंड मूर्खता है। जैसे शरीर के लिये मुखिया मुख है, जो केवल खाता-भर है, किंतु सारे अंगों का पालन-पोषण करता है, उसी भाँति राजा के आचरणों पर सातों राज्यांगों का बल निर्भर है। थोड़े-से ऐंद्रिय सुखार्थ शताब्दियों तक पुरुषार्थ दिखलानेवाले पूर्व-पुरुषों के अथक प्रयत्नों के फल को संदिग्ध बना देना अनुचित है ही। राज्यार्जन कठिन रहता है, किंतु खोना अत्यंत सुगम। जैसे दशाब्दियों से भारी प्रयत्नों द्वारा सुपालित सबल शरीर एक ही ज्वर में अपथ्य भोजन से नष्ट हो सकता है, वैसी ही दशा राज्य की है। इन बातों को सुनकर सिंहसेन ने विनती की।

सिंहसेन—पूज्य मामाजी! शिक्षाएँ आपकी बहुत ही उच्च और हर प्रकार से मान्य हैं, किंतु क्या किसी ने आपको मेरे चरित्र पर संदेह तो नहीं दिला दिया है?

रुद्रसेन—नहीं बेटाजी ! मुझे कोई विशेष संदेह नहीं है, न कोई बात अभी तक सामने आई है। केवल इधर-उधर की गप-शप से मैं कभी निश्चय नहीं करता।

सिंहसेन—बड़ी कृपा हुई मामाजी ! आप थोड़ा भी संदेह आगे से चित्त में न रखिए। भला, यह तो सोचिए, आपके परमोच्च आचरणों का प्रभाव मुझ पर क्या कुछ भी न पड़ेगा ?

रुद्रसेन—बेटाजी ! मैं तुमसे यों भी प्रसन्न रहता हूँ; फिर भी जानना चाहिए कि जिसको जिस पर जितना प्रेम होता है, उतनी ही चिंता थोड़े कारण से भी हो जाती है।

सिंहसेन—ऐसा तो हुई है। मैं आपको निश्चय दिलाता हूँ कि राजकाज के संबंध में ऐंद्रिय सुख का प्रश्न न कभी आने पाया है, न भविष्य में आवेगा।

रुद्रसेन—मैं यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। समझ लो कि अब मेरे शरीर का कोई ठिकाना नहीं है; जब तक चलता हूँ, तभी तक चल रहा हूँ। आगे से न तो कोई तुम्हें ऐसी शिक्षा देने का साहस कर सकेगा, न किसी के कहने का विशेष प्रभाव ही पड़ेगा। देखने को तो अपने राज्य शताब्दियों से चले आ रहे हैं, किंतु मिटते देर नहीं लगती। कौन जानता था कि चिरविजयी वाकाटक-साम्राज्य गुप्तों के एक ही झपेटे-भर को होगा ?

सिंहसेन—ऐसी आज्ञा न हो पूज्यवर ! ईश्वर चाहेगा, तो आपकी पवित्र छाया अभी दशाब्दियों तक मेरे ऊपर बनी रहेगी।

रुद्रसेन—यह तो इच्छा है, किंतु शरीर की साक्षी इन आशाओं के प्रतिकूल जा रही है। जो है, सो तो है ही; अब इस निज बात को छोड़कर राजकीय विषयों पर विचार करो।

सिंहसेन—अच्छा, तो एक बात का मुझे चिरकाल से संदेह चला

आता है कि बिना लड़े-भिड़े या किसी भी दबाव के श्रीमान् ने गुप्त-साम्राज्य से दबकर उपायन भेजा क्यों ?

रुद्रसेन—यदि लड़ने-भिड़ने पर जाता या विशेष तनातनी उत्पन्न होने देता, तो कदाचित् कर देने की नौबत आ जाती। है अपनी भी सामरिक शक्ति महती, किंतु सम्राट् समुद्रगुप्त का रण-कौशल बड़ा प्रबल और सफल है। उनके सैन्येश भी कई अच्छे-अच्छे हैं। भूलना न चाहिए कि कौशांबी में उन्होंने नागसेन, अच्युत और गणपति-नामक नाग-नरेशों के संयुक्त बल को कैसे पलक मारते ध्वस्त कर दिया था। ऐसी दशा में नाम-मात्र के करदेने में मैंने विशेष हानि न समझी।

सिंहसेन—यदि वे इससे अधिक दबाने का प्रयत्न करें, तो क्या योग्य होगा ?

रुद्रसेन—थोड़ा-बहुत दब जाने में भी विशेष हानि नहीं। आशा है, अधिक दबाने का न तो वर्तमान परिस्थिति में धर्मविजयी गुप्त लोग प्रयत्न करेंगे, न दबने की आवश्यकता अपनी ओर से है। फिर भी प्रत्येक दशा में सभी प्रकार ऊँच-नीच सोचकर निर्णय करना पड़ता है।

सिंहसेन—बहुत यथार्थ आज्ञा हो रही है, देव ! मैं भी समझता हूँ कि जब तक सम्राट् समुद्रगुप्त प्रस्तुत हैं, और गुप्तों का वर्तमान सैनिक प्रबंध ठीक है, तब तक विम्राट् बचाते रहना योग्य होगा।

इस प्रकार महाक्षत्रप से बात करके युवराज महोदय निवास-स्थान को पधारकर अपने प्रधान चाकर चंद्रचूड़ से बातें करने लगे।

सिंहसेन—आज मामाजी ने मुझसे आचरण-शुद्धि के विषय में कथनोपकथन किए, जो स्नेह-गर्भित होकर भी चिंता-जनक थे।

चंद्रचूड़—क्या बात हुई अन्नदाता ! क्या किसी ओर से चुग़ली पहुँच गई ?

सिंहसेन—कुछ ऐसा ही समझ पड़ता है। मैं तो मामाजी के डर से बहुत ही फूँक-फूँककर पैर रखता हूँ। ध्रुवस्वामिनी भी चली गई, किंतु मैंने कोई प्रयत्न न किया। केवल दो-एक अवंती की ही सुंदरियाँ तुम्हारी सहायता से यदा-कदा आती हैं। न-जाने कौन-सा बदमाश वहाँ तक समाचार पहुँचा देता है?

चंद्रचूड़—ध्रुवस्वामिनी तो मानो स्वर्ग की अप्सरा थी। अभी तो बालिका है, किंतु साल-दो साल में अपूर्व रूप-राशि फैलाएगी।

सिंहसेन—वह तो जा ही चुकी, अब उसका क्या सोचना है? जो काम हो रहा है, वह अत्यंत गुप्त भाव से, सजगता-पूर्वक होना चाहिए।

चंद्रचूड़—इसमें चूक न पड़ेगी अन्नदाता!

सिंहसेन—ज़रा प्रतिहारी भेजकर महाबलाधिकृत को तो बुलवाना।

चंद्रचूड़—"जो आज्ञा" कहकर बाहर गया।

थोड़ी देर में महाबलाधिकृत ने आकर युवराज का अभिवादन किया। इन्हें भी पीठ पर बिठलाकर आपने वार्तालाप आरंभ की।

युवराज—कहिए आर्य! आजकल अपनी सेना की क्या दशा है?

महाबलाधिकृत—वह तो बहुत ठीक है। इस विषय पर महा-क्षत्रप महोदय का सदैव विशेष ध्यान रहता आया है।

युवराज—दाक्षिणात्य कोई और शक्ति तो इस अवसर पर गुप्तों के सम्मुख प्रस्तुत हो नहीं सकती?

महाबलाधिकृत—जब से प्रायः ३० साल हुए, सम्राट् समुद्र-गुप्त ने दाक्षिणात्य शक्तियों का दमन किया, तब से सिवा वाकाटकों के और कोई अपने साथ उनके सामने खड़े होने को तैयार न होगा।

युवराज—वाकाटकों के विषय में भी बहुत कुछ संदेह है।

महाबलाधिकृत—सो तो हई है। गुप्त-शक्ति का प्रभाव कुछ

ऐसा बैठा हुआ है कि यदि वे अपने लोगों से झगड़ा उठाते, तो भी कुछ कठिनता संभव थी।

युवराज—अच्छा, शुद्ध सामरिक दृष्टि से अपने बल का क्या अनुमान है?

महाबलाधिकृत—मैं समझता हूँ, उत्तर जाकर तो हम लोग उन्हें पराजित कर सकते नहीं, किंतु मध्य भारत में आकर वे भी हमें दबा न सकेंगे।

युवराज—जब ऐसा था, तब वाकाटकों की सहायता करके उसी समय उन्हें विचलित करने की युक्ति क्यों न बाँधी गई?

महाबलाधिकृत—यही तो समुद्रगुप्त के युद्ध-कौशल की मुख्यता थी। जब तक वाकाटक और पल्लव मिलकर उनसे लड़ने का प्रबंध करें, तब तक शीघ्रता-पूर्वक बढ़कर उन्होंने दोनो को पृथक् युद्धों में अलग-अलग ध्वस्त कर दिया। उस काल अपना वाकाटकों से मेल न था, और न यह विचार में आता था कि सम्राट् प्रवरसेन की महती शक्ति नाग-साम्राज्य की अधिकारिणी होकर भी उन्हीं के पुत्र सम्राट् रुद्रसेन के ही समय में एकाएक ध्वस्त हो जायगी। अपनी शक्ति भी तब आजकल की-सी न थी।

युवराज—सब बातों का निष्कर्ष यह निकलता है कि गुप्तों से बिगाड़ तो करने का अभी समय है नहीं, किंतु अपने बल-वर्द्धन में ढील किसी दशा में न होनी चाहिए। और विषयों में घटाकर सामरिक व्यय-वृद्धि आवश्यक है।

महाबलाधिकृत—जब स्वामी की ऐसी कृपा इस विभाग पर रहेगी, तब यह यदि उन्नत न हो, तो हमीं लोगों की कमी प्रमाणित होगी।

युवराज—ऐसा क्यों होने लगा? कोई और बात तो शेष नहीं है?

महाबलाधिकृत—विनतियाँ तो सदैव होती ही रहेंगी, किंतु इस समय अब कोई बात स्मरण नहीं आती।

यह कहकर महाबलाधिकृत प्रणाम करके चल दिए, और युवराज महोदय ने प्रधान चाकर को बुलवाकर गुप्त मंत्रणा फिर से आरंभ की।

युवराज—अरे, मल्लिका के विषय में तो मामले पूछना मैं भूल ही गया था।

चंद्रचूड़—दीनबंधु! वह मामला बड़े झमेले का है। जितना उसका रूप है, उससे चौगुना मान। फिर उसके स्वामी का पचड़ा अलग लगा हुआ है। मैं बिनती करूँगा कि जो दो सुंदरियाँ देव को प्राप्त रहती हैं, उनसे यह क्या अच्छी है, जो इतनी अटर उठाई जाती है?

युवराज—यह तुम क्या समझ सकते हो? प्रेम अंधा होता है। प्रेमिका को प्रेमी की दृष्टि से देखनेवाला ही संसार की ऐसी गुत्थियों को समझ सकता है।

चंद्रचूड़—यदि कृपा रही, तो एक नहीं, चार गुत्थियों के सुलझाने की शक्ति दास में कदाचित् पाई जायगी, किंतु प्रचुर धन-व्यय अथवा बल-प्रयोग में से एक का भार स्वामी को उठाना होगा। उसका रूप देखते हुए मैं तो इसकी आवश्यकता समझता नहीं।

युवराज—उपदेशक का रूप छोड़कर कृपया आज्ञाकारी-भर बने रहिए।

चंद्रचूड़—इसमें मुझे क्या इनकार है, दीनबंधु! अच्छा, फिर आज्ञा हो कि कौन-सा मार्ग पसंद है?

युवराज—थोड़ा भी बल-प्रयोग असंभव है, क्योंकि उसका समाचार पूज्य मामाजी तक अवश्य पहुँचेगा।

चंद्रचूड़—यह क्यों ? ऐसा गुप-चुप मामला हो सकता है कि कोई कानोंकान जान ही न पावेगा कि कौन काम कर गया ?

युवराज—एक तो किसी निरपराध व्यक्ति की हत्या ठीक नहीं, दूसरे मल्लिका जाने ही गी और मामाजी पर भेद खोल देने की धमकी के सहारे मुझे स्ववश रखने का प्रयत्न करेगी।

चंद्रचूड़—क्या उसके प्रेम पर भरोसा नहीं है ?

युवराज—उप-पत्नियाँ झूठा-सच्चा अपमान समझकर प्रायः काली नागिन हो जाती हैं। स्व स्त्री की बात थोड़े ही है कि कुछ भी हो, प्रेम और पति के उपकार में कमी न आवे।

चंद्रचूड़—जब ऐसी बात है, तब रानी के सामने दूसरों की ओर निगाह उठाने ही की क्या आवश्यकता है ?

युवराज—अब तुम फिर उपदेशक बनने लगे। भला, किसी सौंदर्योपासक की मनस्तुष्टि कभी विना नवीनता के होती है ?

चंद्रचूड़—फिर तो व्यय का ऐसा प्रश्न उठेगा कि युवराज महोदय को मेरी भी सचाई पर संदेह होने लगेगा।

युवराज—अब गोल बातें छोड़कर मामले पर आओ।

चंद्रचूड़—दीनबंद ! उसका पति है तो एक साधारण व्यापारी, किंतु अपने कौटुंबिक मान का उसे इतना गर्व है कि उससे बात करने का भी साहस नहीं हो सकता। आपकी प्रेमिका से पूछ-गछ की, तो कहती है कि व्याहुत में विना तीन-चार लक्ष भरण लिए वह प्रसन्नता-पूर्वक न मानेगी।

युवराज—मल्लिका अपने लिये तो बहुत मुँह नहीं फैलाती ?

चंद्रचूड़—वह रहेगी पवित्र, किंतु थोड़ी-बहुत आत्मीय स्वच्छंदता भी रखना चाहती है।

युवराज—मामले दोनो ओर से चित्य हैं। सोच-विचार कर निश्चय करने की बात समझ पड़ती है।

पंचम परिच्छेद

अयोध्या

सिंहसेन से प्रेम-पूर्वक मिलकर अवंती से चलने पर इधर-उधर की सैर करते हुए युवराज इंद्रदत्त, ध्रुवस्वामिनी तथा कविवर कालिदास को साथ लिए गुप्तराजकुमार यथासमय उत्तरी पंजाब में पहुँचकर महाराजा शक्तिसेन के अतिथि हुए। पुत्र के मित्र तथा गुप्त महाशक्ति के राजकुमार समझकर महाराजा ने इनका अभूत-पूर्व समादर किया। दो-चार दिनों के पीछे समय पाकर युवराज इंद्रदत्त ने अपने पिता से चंद्रगुप्त के स्वप्न का अर्थ पूछा, तो उन्होंने सोच-विचारकर कहा कि "यह बड़ा ही विचित्र विषय है, जिस पर निश्चय-पूर्वक कुछ बतलाना कठिन है।"

चंद्रगुप्त—आपका नाम सुनकर मैं बहुत चक्कर काटता हुआ विना पितृ-चरण की आज्ञा के ही यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।

महाराजा—हम सब पंजाबी शासक परम भट्टारक के दास ही हैं। यहाँ पधारने में आप कौन साम्राज्य के बाहर आए हैं; मानो अपने ही देश का दौरा कर रहे हैं।

चंद्रगुप्त—ऐसा कहना आपकी कृपा है। फिर भी कुछ सोच-साचकर थोड़ा-सा ही बतलाइए।

महाराजा—इस विषय पर कुछ कहना छोटे मुँह बड़ी बात होगी। बहुत दुस्साहस-पूर्ण कथन होगा, और मेरे लिये जोखिम की मात्रा भी कम न होगी।

चंद्रगुप्त—आप एक गुप्त वंशज से कुछ न कहकर विश्वस्त भाव

से अपने अतिथि की मनस्तुष्टि कीजिए। मैं इस अवसर पर सम्राट् का प्रतिनिधि न होकर आपके युवराज का मित्र-मात्र हूँ।

युवराज—पूज्य पिताजी! ऐसा मान लीजिए कि आप मेरे एक सहपाठी छात्र से ही बात कर रहे हैं।

कालिदास—फिर अपनी ओर से तो आप कुछ कहते नहीं, न महाराजा साहब यहाँ प्रस्तुत हैं। यहाँ तो एक कवि किसी ज्योतिर्विद् से अपने प्रश्न शिष्य-भाव से पूछ रहा है।

महाराजा—तब इतना ही रहा कि एक ज्योतिर्विद् विश्वसनीय रीति से अपने प्रश्नकर्ता को उत्तर देता है। इसे आप लोग किसी से मेरे कथन के रूप में न कह सकिएगा। यथासाध्य तो छिपा ही रखिए, किंतु यदि प्रकट भी कीजिए, तो अपने ही विचार के रूप में।

चंद्रगुप्त—नितांत यथार्थ है।

महाराजा—राजकुमारजी! यह स्वप्न बड़ा विकट है। इसका अर्थ यह समझ पड़ता है कि आपके पूज्य पिता के पीछे साम्राज्य पर कोई भारी संकट पड़ेगा, जो किसी स्त्री की सहायता से एक वीर पुरुष द्वारा सुलझेगा, सो भी कुछ काल के लिये साम्राज्य-शक्ति के छिन्न हो जाने के पीछे।

चंद्रगुप्त—तरंगित चंद्र से क्या प्रयोजन है?

महाराजा—समुद्र में तरंगें उठा ही करती हैं। आपके पूज्य पिता के नाम ही में समुद्र लगा हुआ है, तथा उनके यश का चंद्र निशापति से विशेष प्रकाशवान् है ही।

चंद्रगुप्त—पहला सिंह कौन है, मृग होकर कौन आवेगा तथा सिंहनी और दूसरा सिंह किन्हें मानें?

महाराजा—ये प्रश्न समय के साथ सुलझेंगे। कोई भारी योद्धाओं तथा राजकर्मचारियों से प्रयोजन हो सकता है। अभी से

अधिक स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। किसी प्रबल शत्रु से संकट संभव है, जो कुछ काल पीछे शांत हो जायगा, ऐसा दिखाई देता है।

चंद्रगुप्त—महाराज! आपके विचार बहुत कुछ ठीक जँचते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक संकट पूज्य पितामहजी के समय में पड़ चुका है, और दूसरा अब भी सामने आता-सा है।

कालिदास—अभी से इतनी चिंता की आवश्यकता नहीं। स्वप्नों का विषय पूर्ण निश्चय-युक्त प्रायः नहीं होता

महाराजा—यही बात है राजकुमारजी!

इस प्रकार बातें करके तथा दो-एक दिन आतिथ्य में बिताकर चंद्रगुप्त अपने मित्र कालिदास तथा स्ववर्ग के साथ अयोध्या के लिये प्रस्थित हुए। इधर महाराज अपने युवराज से यों वार्तालाप करने लगे—

महाराजा—बेटा! मुझे तो ऐसा दिखता है कि समुद्रगुप्त के पीछे यह साम्राज्य इनके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त का चलाया न चलेगा। वह है भी कादर, हठी, क्रोधी और मूर्ख।

युवराज—आपने उनसे ऐसा क्यों न कहा?

महाराजा—प्रत्यक्ष कथन करना मुझे बहुत उचित न जँचा। न-जाने क्या सोचते?

युवराज—जब आपके ऐसे विचार हैं, तब बहनजी का इन्हीं के साथ विवाह होना क्या अच्छा न होगा?

महाराजा—है अच्छा विचार; चंद्रगुप्त बहुत गुणी हैं भी।

युवराज—दोनो की प्रकृति भी मिलती है। अब तक इनमें भाई-बहनवाला निस्संकोच भाव था, किंतु संबंध के विचार को पसंद शायद दोनो करें।

महाराज—तब तो बहुत अच्छी बात है। दो वर्षों में बेटी विवाह के योग्य हो ही जायगी। महाराज लोग प्रायः अपनी कन्याओं को राजपुत्रों से विवाहार्थ भेंट किया ही करते हैं।

युवराज—फिर ऐसा ही विचार समय पर सफल किया जाय। मैं बहनजी का आशय भी आगे-पीछे ज्ञात कर लूँगा।

महाराजा—बहुत ठीक है।

इस प्रकार सलाह करके महाराज और युवराज इंद्रदत्त तो इधर अपने राज-काज में लगे, उधर राजकुमार चंद्र सानंद अयोध्या पहुँचकर पितृ-सेवा में उपस्थित हुए। इनकी शस्त्रास्त्र-शिक्षा का परिणाम तथा साहित्यिक प्रवीणता की प्रबलता से सम्राट् बहुत प्रसन्न हुए, और कालिदास का उन्होंने प्रचुर मान किया। राजपुत्र के पंजाब जाने तथा युवराज इंद्रदत्त से विशेष मैत्री पर भी सम्राट् ने प्रसन्नता प्रकट की। उधर युवराज रामगुप्तजी इन्हीं बातों से कुछ ईर्ष्यालु हो गए। तो भी उनसे जब चंद्रगुप्त मिले, तो दोनो ने प्रेम-पूर्वक व्यवहार आरंभ किया। बात यों चली—

रामगुप्त—कहो, चंद्र! तुमने अवंती में क्या-क्या विद्याएँ प्राप्त कीं?

चंद्रगुप्त—भाईजी! दो साल में सीख ही बहुत क्या लेता? हाँ, थोड़ा-सा शस्त्रास्त्र-ज्ञान, समर-कौशल और साहित्य में परिश्रम किया था।

रामगुप्त—इन विषयों में तो तुम यहाँ भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुके थे।

चंद्रगुप्त—जी हाँ, थोड़ा-सा परिश्रम यहाँ भी किया था।

रामगुप्त—मैं पूछता हूँ, तुम साधारण मनुष्यों की भाँति इतनी दौड़-धूप क्यों करते रहते हो? क्या साम्राज्य के प्रताप से यों ही यथोचित मान नहीं हो सकता?

चंद्रगुप्त—हो क्यों नहीं सकता, दादाजी! किंतु छोटे राजकुमारों को योग्यता संपादित करनी ही पड़ती है, नहीं तो समय पर भवदीय साम्राज्य की पूरी सेवा क्या कर सकूँगा? आप सम्राट् होंगे, किंतु मैं तो प्रजा-मात्र रहूँगा।

रामगुप्त—क्या मेरे इस पद से तुम्हें ईर्ष्या है, जो अपना प्रजा-मात्र होना इतना हेय समझ रहे हो? भाई भी तो हो।

चंद्रगुप्त—ईर्ष्या की क्या बात है? यदि लक्ष्मण में मेघनाद के जीतने की पात्रता न होती, तो भगवान् रामचंद्र को लंका-विजय में क्या कुछ विशेष कष्ट न पड़ता?

रामगुप्त—क्या अपना सारा साहित्यिक ज्ञान यहीं ख़र्च कर डालोगे? राम के साथ अकेले लक्ष्मण थे। इधर यहाँ सारा साम्राज्य ही प्रस्तुत है।

चंद्रगुप्त—कम-से-कम शस्त्रास्त्र-ज्ञान मृगया में विशेष लाभकारी होगा।

रामगुप्त—पंजाब में पधारने की क्या आवश्यकता थी? मैंने बंग का दौरा किया था, क्या उसी का प्रत्युत्तर ध्यान में था? क्या उधर के महाराजाओं से मेल उत्पन्न किया जा रहा है?

चंद्रगुप्त—इंद्रदत्त युवराज मेरे सहपाठी और प्रिय मित्र हैं। यात्रा लंबी थी ही, सो थोड़ा-सा और चक्कर सह्य मानकर उन्हीं का आग्रह ठीक समझ लिया। और किसी से तो मिला नहीं।

रामगुप्त—आगे-पीछे औरों से मिलना भी आरंभ होगा। इधर प्रेम का संबंध जोड़ा जा ही रहा है।

चंद्रगुप्त—आज आपके चित्त में संदेह की मात्रा बड़ी प्रबल हो रही है। अब आज्ञा दीजिए, फिर कभी दर्शन करूँगा।

रामगुप्त—हाँ, ठीक है। यहाँ काँटों में उलझने से क्या लाभ? किंतु स्मरण रखिएगा, राजकुमार महोदय, कि अंत में इसी तुच्छ से काम पड़ना है।

चंद्रगुप्त—जब तक पितृचरण की पूज्य छाया माथे पर प्रस्तुत है, तब तक तो किसी की झाड़ें सहने का अभ्यास हुआ नहीं है; आगे जैसा होगा, देखा जायगा।

रामगुप्त—समझा कि यह सारी योग्यता मेरे ही लिये संपादित की जा रही है।

चंद्रगुप्त—आपके विचारों का परिवर्तन तो मैं अभी कर न सकूँगा, अतएव प्रार्थना-मात्र करता हूँ कि शुद्ध भाव से यदि सोचिएगा, तो मेरे कार्यों से प्रेम-पूर्ण भ्रातृत्व का विच्छेद न पाइएगा।

रामगुप्त—शुद्ध भाव भी तो अवंती से ही प्राप्य है।

इन कटु बातों के पीछे राजपुत्र चंद्र प्रणाम करके निवास-स्थान को पधारे। उधर विनयशूर (महाप्रतिहार) द्वारा नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह और प्रथम कुलिक को बुलाकर युवराज रामगुप्त यों कथनोपकथन करने लगे—

रामगुप्त—क्यों महाशयो! आप लोग भाई चंद्र की पंजाब-यात्रा को कैसी समझते हैं?

श्रेष्ठी—युवराज महोदय! इसमें कोई राजनीतिक तत्त्व तो समझ नहीं पड़ता। वहाँ के युवराज इंद्रदत्त से उनकी सहपाठीपन की प्रगाढ़ मैत्री सुनने में आती है। उन्हीं के आग्रह से चले गए होंगे।

कुलिक—दीनबंधो! उनके पिता महाराजा शक्तिसेन प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् हैं। संभवतः उनसे कुछ पूछने अथवा ज्योतिष का विशेष ज्ञान प्राप्त करने गए हों।

रामगुप्त—यदि यही होता, तो मुझसे बतलाने में क्या दोष था?

सार्थवाह—इसका उत्तर हम लोग क्या दे सकते हैं? संभवतः केवल मित्रता के आग्रह से गए हैं।

रामगुप्त—मुझे तो इसमें कुछ राज्य विरोध की दुर्गंध आती है। मेरी बंग-यात्रा का यह उत्तर-सा दिखता है।

श्रेष्ठी—दीनबंधो! बंग यात्रा का फल तो कुछ उलटा-सा देख

पड़ता है। उधर कई गुप्त गोष्ठियों के समाचार कुछ उड़ते-उड़ते मिले हैं।

रामगुप्त—क्यों? आख़िर बात ही क्या थी?

कुलिक—युवराज महोदय से उनका जो वार्तालाप हुआ तथा उनके साथ जैसा बर्ताव हुआ, शायद वे बातें उन्हें अखर गई हों।

रामगुप्त—मैंने उनसे कहा ही क्या था? तुम्हारी भी बुद्धि मानो चरने गई है। अपनी ही प्रजा की क्या ख़ुशामद की जाय?

श्रेष्ठी—(हाथ जोड़कर) दीनबंधो! हम लोगों को इसमें कोई निजू ज्ञान तो है नहीं, सुनी-सुनाई बातें जो ज्ञात हों, सरकार में प्रकट करना हमारा धर्म है। मिथ्या भी हो सकती हैं।

रामगुप्त—अच्छा, चंद्रवाली शक्तिपुर की यात्रा में क्या तुम लोगों को कोई भी संदिग्ध बात नहीं दिखती?

सार्थवाह—यह तो परम साधारणी घटना जँचती है। यदि ऐसी-ऐसी साधारणी बातों से ऐसे भारी निष्कर्ष निकाले जायँ, तो किसी का भी आचरण संदिग्ध हो सकेगा।

रामगुप्त—मुझे समझ पड़ता है कि विषय पतियों द्वारा मन्त्रणाओं में सम्मिलित किए जाने के कारण तुम लोगों को अपनी-अपनी बुद्धि पर बड़ा घमंड हो गया है।

श्रेष्ठी—(हाथ जोड़कर) युवराज महोदय! हम लोग क्षमा के प्रार्थी हैं। करें, तो क्या करें? सम्राट् महोदय की कई घोषणाएँ निकल चुकी हैं कि सम्मति माँगी जाने पर हम लोगों को निजू विचार ही प्रकट करने चाहिए, चाहे वे अप्रिय ही क्यों न हों।

रामगुप्त—अच्छा, अब तुम लोग जा सकते हो। तुम्हारी उद्दंड सम्मतियाँ सुनकर मुझे तो रोमांच हो आया है।

कुलिक—तो युवराज महोदय! हम लोगों के विचार अशुद्ध मान लिए जायँ, किंतु अपराध क्षमा हो।

रामगुप्त—मैं कहता हूँ, अब तुम लोग जा सकते हो।

यह सुनकर वे तीनो प्रणाम करके हर्म्यों को सिधारे। उधर महा-देवीदत्त देवी से रामगुप्त की कई मासवाली उद्दंडताओं के समाचार सुनकर सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने महामंत्री, संधिविग्रहिक, अच-पटलाधिकृत, महादंडनायक तथा महाबलाधिकृत नामक पाँच मंत्रियों को बुलाकर मंत्रणा की।

सम्राट्—आजकल इस साम्राज्य का भविष्य मुझे कुछ संशया-कीर्ण-सा दिखने लगा है। अवती के महाक्षत्रप तृतीय रुद्रसेन बड़े श्रेष्ठ भूपाल थे। वह तीस वर्ष राज्य करके इसी साल स्वर्गवासी हो गए, और उनका उत्तराधिकारी भागिनेय सिंहसेन महाक्षत्रप हुआ है। है तो वह बड़ा उद्दंड और स्त्रैण, किंतु सेना के लिये विशेषतया प्रबंध-पटु है। आगे-पीछे उससे भिड़ंत भी संभव है। इधर अपने यहाँ दोनो पुत्रों में अभी से वैमनस्य का कुछ रूप दिखलाई देता है, तथा मेरा शरीर बहुत स्वस्थ रहता नहीं।

महामंत्री—अभी चिंतित होने की आवश्यकता महाभिषज की सम्मति में तो है नहीं, देव!

सम्राट्—मैं क्या कुछ कहता हूँ। केवल जैसा समझ पड़ता है, वैसा मुख से निकल गया। फिर भी राजवैद्य की सम्मति मान्य है ही। मुख्य बात दूसरी है, जिस पर विचार किया जाय।

महाबलाधिकृत—अपनी सामरिक शक्ति में तो कोई कमी है नहीं, देव!

सम्राट्—ऐसा मैं भी मानता हूँ, आर्य! किंतु मेरे पीछे दोनों राजपुत्रों का वैमनस्य संकट उपस्थित कर सकता है।

अक्षपटलाधिकृत—छोटे राजकुमार की विद्या, बुद्धि, विनय और योग्यता शतमुख से सराहनीय है ही।

सम्राट्—यह भी यथार्थ है, किंतु प्रश्न इतना है कि क्या रामगुप्त ऐसा अयोग्य है कि अपने प्राकृतिक अधिकार से वंचित कर दिया जाय ?

महादंडनायक—वंग देशवाली उनकी यात्रा कम-से-कम सफल नहीं कही जा सकती। उधर की प्रजा उखाड़े हुए प्राचीन शासकों के भी कुछ दबाव में है। इनके उद्दंड आचरण से इधर राजभक्ति में न्यूनाधिक हीनता समझ पड़ती है।

सांधिविग्रहिक—क्या आप समझते हैं कि उस ओर द्वितीय सेन-संधान की आवश्यकता होगी ?

महाबलाधिकृत—अभी तो ऐसा दिखता नहीं; समय के साथ इस प्रश्न का खुलाव खुलेगा।

सम्राट्—रामगुप्त का तो कहना था कि प्रजा की उद्दंडता के कारण यदि बहुत विनम्र भाव दिखलाया जाता, तो उन लोगों को साम्राज्य के दबाने का भान हो सकता था।

सांधिविग्रहिक—यह भी संभव है, किंतु प्रत्येक क्रोधी प्राय: ऐसा ही कहने लगता है।

महादंडनायक—इस प्रश्न का ठीक निर्णय विशेष घटनाओं के खुलाव से हो सकता है, अभी नहीं।

सम्राट्—यही मुझे भी समझ पड़ता है।

महामंत्री—दोनो राजकुमारों की मनमैत्री का आरंभ ज्येष्ठ बंधु के अनुचित संदेह प्रकाशन से हुआ ही।

सम्राट्—यह कौन नहीं जानता कि चंद्र सभी के साथ बड़ा ही विनम्र रहता है। प्रेम ज्येष्ठ भ्राता से भी बहुत करता था, और कभी बराबरी का विचार मन में नहीं लाया। उसके श्रेष्ठतर होने में संदेह नहीं हो सकता। प्रश्न केवल रामगुप्त के गुणों का है।

महादंडनायक—इस विषय पर अभी निश्चय नहीं जमता। मेरा

काम ही सभी के साथ विचार-पूर्वक न्याय करने का है; तब फिर राजकुमार के प्रतिकूल शीघ्रता से निर्णय कैसे कर दूँ ?

महाबलाधिकृत—इतना तो मानना ही पड़ेगा कि दो-चार बातों में अनुचित व्यवहार से भी कोई अधिकार-च्युत नहीं किया जा सकता।

सम्राट्—यहाँ दो-चार नहीं, बहुतेरी अनुचित घटनाओं का प्रश्न है, फिर भी उनकी मात्रा अधिकार-हरण के लिये पर्याप्त है या नहीं, इतना ही प्रश्न है।

सांधिविग्रहिक—जब कुछ संदेह उपस्थित है ही, तब शीघ्रता क्या है ? भविष्य की घटनाएँ जैसी प्रस्फुटित होंगी, वैसा निर्णय आप-से-आप ठीक दिखने लगेगा।

अक्षपटलाधिकृत—यही बात मुझे भी उचित जँचती है।

सम्राट्—(महामंत्री से) क्यों आर्य ! आप क्या समझते हैं ?

महामंत्री—मेरा भी यही विचार है, देव ! है कुछ संदेह अवश्य, किंतु आगे देखा जायगा।

सम्राट्—तब फिर अभी यही ठीक रक्खा जाय।

षष्ठ परिच्छेद

शक्तिपूर

उत्तरी पंजाब में शक्तिपूर एक प्रसिद्ध राजधानी है, जहाँ के शासक चिरकाल से महाराजा शक्तिसेन हैं। नगर चारो ओर से पाषाण-प्राकार से परिवेष्टित है, जिसमें बीच-बीच में इधर-उधर शिखर आदि बने हैं, जिनमें बैठकर योद्धागण आक्रमणकारियों पर प्रहार कर सकते हैं। नालियों आदि तथा वर्षावाले जल के निकास का ठीक प्रबंध है। नगर विपासा-नदी के किनारे स्थित है, जिसमें स्नानार्थ अच्छे-अच्छे घाट बने हुए हैं। उचित स्थानों पर नदी के भीतर इधर-उधर दो-दो चतुष्क बने हैं, जिनमें लोहे के तार कई पाषाण-स्तंभों के सहारे से खिंचे हुए हैं। चतुष्कों तक पहुँचनेवाली पतली दीवारों में जल निकलने के बड़े-बड़े मार्ग हैं, जिनमें होकर धाराचाहिता से नदी का जल द्रुत गति से बहता है। इस प्रकार बीच में तालाब-सा बन गया है। उसकी भूमि पक्की बनी है, जिस पर प्रायः तीन हाथ ऊँचा पानी भरा हुआ है। जिसमें धारा तीव्रता से बहती है। इस स्थान पर तैरना न जाननेवालों के भी डूबने का भय नहीं है, और वे तैरना सीख भी सकते हैं। नदी में राजन्यवर्ग, उच्च कर्मचारियों, मध्यमवर्ग एवं साधारण प्रजा के लिये उचित स्नान-संबंधी प्रबंध प्रस्तुत हैं। स्त्रियाँ विशेषतया इनका उपयोग करती हैं। राजप्रासाद बहुत ही सुंदर और ऊँचे हैं। उनके चारो ओर समुचित मात्रा में प्रमद बन का प्रशस्त प्रांगण है, जिसमें चौगान आदि का भी प्रबंध है। कटी हुई छोटी-छोटी दूर्वा दूर तक लगी है। जल-यंत्रों से पानी

उठता है, जिसकी छटा विलक्षण है। इन फुहारों में विविध रंगों के प्रकाश डाले जाते हैं, जिनसे उनकी शोभा और भी अकथनीय हो जाती है। स्थान-स्थान पर बाँसों के भारी-भारी तोरणद्वार बनवाए गए हैं, जिनमें प्रकाश का विश्व-विमोहक प्रबंध है। दूर-दूर तक रंगीन प्रकाशों के वृत्तक बनाए गए हैं, जिनसे दर्शकों को अतीव आनंद प्रतीत होता है। नदी के किनारे जहाँ-तहाँ प्रकाश की दीवारें खड़ी हैं, जिनका ज्योति-पुंज नदी से प्रतिबिंबित होकर दर्शकों को चकाचौंध में डालता है। नदी के निकट सौ-सौ हाथ चौड़े मार्ग डेढ़-दो कोस तक बने हुए हैं, जिनमें नियमित रूप से कटे हुए बराबर दूर्वा के मैदान चले गए हैं, तथा स्थान स्थान पर बैठने के लिये खुले अथवा कहीं-कहीं छत-युक्त मंडप बने हैं, जिनमें वायु-सेवन करनेवाले लोग शिला-पट्टों पर बैठ सकते हैं। उनके लिये प्रचुर मात्रा में बैठकें रक्खी गई हैं। प्रातःकाल तथा संध्या को वायु सेवनार्थ लोग यहाँ बराबर आते-जाते हैं।

नगर में अनेकानेक सर, कूप, वापी आदि प्रस्तुत हैं। तड़ागों में जल-क्रीड़ा के लिये छोटी-छोटी नौकाएँ पड़ी हैं, जिनमें बैठ-बैठकर लोग स्वल्प भाड़े से जल-केलि करते हैं। चमड़े के छोटे-छोटे गोले पानी में पड़े हैं, जिनके सहारे तैरना न जाननेवाले भी, निर्भयता-पूर्वक स्नान करते तथा तैरना भी सीखते हैं। ऐसे ही प्रबंध सरिता में भी हैं। सड़कों पर स्थान-स्थान पर प्रकाशार्थ लौह-स्तंभ गड़े हैं! जिनमें प्रखर ज्योति-युक्त दीपकों का प्रबंध रहता है। मार्ग प्रशस्त, पक्के बने हुए हैं, जिनमें रथों, गजों, तुरंगों आदि के जाने-आने का ठीक प्रबंध बीच में है, तथा किनारों पर कुछ ऊँचे भाग में पदाति, लोग आते-जाते हैं। नगर में अनेक मैदान, उपवन, फल-वाटिकाएँ, पुष्प-वाटिकाएँ आदि बनी हुई हैं, जिनमें नागरिक स्वच्छंदता से सैर कर सकते हैं। अनेक सुंदर लहरें लहरा रही हैं। बहुतेरे मकानों

के फाटक उन्हीं में खुलते हैं। नहरों का ऐसा सुंदर प्रबंध है कि नगर के विविध स्थानों पर कोई चाहे सड़कों पर से जाय, चाहे नौकाओं द्वारा नहरों से। अनेकानेक व्यायामशाला, मल्लों के लिये अखाड़े, पटा, भाला आदि के काम सिखलानेवाले स्थान, विद्यालय, औषधालय आदि वर्तमान हैं, जिनसे लोगों को लाभ पहुँचता है। राजकी औषधालय में निःशुल्क चिकित्सा होती है। पथिकों, अतिथियों आदि के लिये अनेक धर्मशाला, विश्राम-स्थल आदि प्रस्तुत हैं, जिनमें निर्धनों तथा सधनो, दोनों के लिये यथायोग्य प्रबध हैं। पौर और जानपदों के लिये सरकारी मंत्रागार बने हुए हैं, जहाँ एकत्र होकर वे सर्व-साधारण की आवश्यकताओं पर विचार करते हैं।

उचित स्थानों पर राजकीय अश्वशाला, गजशाला आदि प्रस्तुत हैं, जिनमें एक ही प्रकार के स्थान सवारियों के लिये बनाए गए हैं। पशु-चिकित्सालय भी नगर में हैं, जिनमें प्रवीण शालिहोत्री नियुक्त हैं। योद्धाओं के लिये कोसों तक फैली हुई एक ही प्रकार की स्कंधावार परंपराएँ हैं, जिनके निकट सामरिक शिक्षाओं आदि के लिये विस्तृत मैदान छोड़ा गया है। सेनापति लोग अपने-अपने दलों का नियम से शिक्षण करते हैं। सिपाहियों के लिये चमूपों की आज्ञा अटल है। इसी प्रकार चमूप अपने प्रधानों की आज्ञाएँ मानते हैं। सबके ऊपर महाबलाधिकृत हैं, जिनका मान शासक भी मित्रों की भाँति करते हैं। सूर्य-किरणों के प्रकाश चमकदार वस्तुओं पर ऊँचे स्थानों से डालकर सौ-पचास कोस तक संकेत भेजे जाते हैं। थोड़ी दूरियों के लिये ऐसे ही संकेत झंडियों से जाते हैं। मृगयार्थ भारी-भारी रक्खे वर्तमान हैं, जिनमें मचान आदि पहले ही से तैयार रहते हैं। प्रजा के लाभार्थ अनेक पुस्तकालय नगर में प्रस्तुत हैं, जिनमें सर्व-साधारण निःशुल्क रीति से लाभ उठाते हैं। उनमें हर प्रकार की पुस्तकें सबके लिये

एकत्र हैं। पत्र भेजने के लिये थोड़े व्यय पर सर्व-साधारण को सुविधा दी गई है। राजकीय सभाओं, न्यायालय, प्रबंधशाला आदि के लिये राजा की ओर से प्रासाद बने हैं, और अच्छे कार्यकर्ता नियुक्त हैं, जो प्रजा को हाथोहाथ लिए रहते हैं।

सर्व प्रकार के प्रजावर्ग वाले झगड़े विविध उच्च पदाधिकारियों द्वारा निर्धारित होते हैं। प्रत्येक मामला अंत में महादंडनायक के न्यायाधीन है। बड़े-बड़े मामले युवराज तथा महाराजा के सामने तक पहुँच सकते हैं। प्राड्विवाक लोग वादियों-प्रतिवादियों आदि के सहायतार्थ नियुक्त हैं। मनुष्य सभ्य, सबल और रूपवान् हैं। राज्य प्रजा को पूरी स्वतंत्रता दिए हुए हैं। जब तक इनके द्वारा किसी अन्य की स्वतंत्रता का अनुचित अपहरण न हो, तब तक वे आत्म-हत्या के अतिरिक्त चाहे जो कर सकते हैं। स्त्रियाँ परदे में नहीं रहतीं, केवल उच्च कुटुंबियों की महिलाएँ इधर-उधर डोलती नहीं हैं। सारे राजकीय विभाग प्रजा-प्रिय हैं, केवल दंड-पाश-विभाग (पुलीस) के निम्न कर्मचारी चाट और भट नामधारी लोग उत्कोचों आदि के कारण कुछ अप्रिय हैं। चर-विभाग का गुप्त कार्य दूतों द्वारा अच्छा चलता है। नगर में अच्छी हाटें हैं, तथा चौपड़ बाज़ार सर्वोत्कृष्ट है। उस ओर की सारी वीथियाँ उसी हाट को पहुँचती हैं। सड़कें, वीथियाँ आदि पक्की बनी हैं। दूकानें प्रायः समान रूप में निर्मित हैं। बाज़ार लगभग एक कोस लंबा है। उसके दोनो ओर शुभ्र तोरण-युक्त फाटक बने हैं। पण्य-वीथी (दूकानों के बीच की सड़क) न तो सकरी है न बहुत चौड़ी। नीचे दूकानें हैं और ऊपर निवास-स्थान। इसे चौक कहते हैं। इसी प्रकार नगर के अन्य विभागों में भी दूकानों तथा निवास-स्थानों की बनक है। कपड़ों अनाजों, बिसाता, मिष्टान्न, मेवा, फल, तरकारी आदि से संबंधवाले बाज़ार-विभाग अलग-अलग हैं। गोटा, पट्टा, चिकन आदि की दूकानें भी हैं, तथा सोना,

चाँदी, मोती, मूँगे, रत्न आदि भी प्रचुर मात्रा में बिकते हैं। हुंडी-पुरज़ों के काम चलानेवाले व्यापारी बहुतेरे हैं, जिनकी साख सारे भारतवर्ष में है, और हुंडियाँ सभी कहीं सकारी (सत्कारी) जाती हैं। पश्चिम में रोम तक से व्यापार होता है, जहाँ के दीनार भारतीय स्वर्ण-मुद्राओं के साथ प्रायः सब कहीं चलते हैं। रोम को इतना भारतीय निर्यात जाता है कि वहाँ से मानो सोने की नदी देश में बही चली आती है। इधर पूरब में जावा, सुमात्रा, स्याम, बाली आदि से भी प्रचुर मात्रा में व्यापार होता है। उस ओर अपने कई उपनिवेश भी स्थापित हैं, जिनका भारतीय व्यवहार बहुत प्रेम-पूर्ण तथा दोनो पक्षों के लिये लाभदायक है। उत्तर में महाचीन और दक्षिण में लंका तक से व्यापारिक व्यवहार प्रचुर मात्रा में है। महाचीनी पाटंबर भी आता है, जिसे चीनांशुक कहते हैं।

चौक में सहस्रों मनुष्यों की भीड़ सायंकाल को रहा करती है। विलासी लोग पानवाली की दूकान पर झुंडों तक में कभी-कभी दिखलाई देते हैं। विदेशी लोग भी माल ख़रीदने-बेचने बहुतेरे आते-जाते हैं। क्रय-विक्रय का काम बहुतायत से चला करता है। विदेशी लोगों में दो रूपवान् पुरुष घूम रहे हैं, और आपस में बात भी करते जाते हैं। एक का नाम महाशक्ति है, और दूसरा है उसका साथी।

महाशक्ति—देखो यार, यहाँ के लोगों में हंस-चिह्नित रेशमी उत्तरीयों का कितना व्यवहार है?

साथी—यह राजधानी संपन्न समझ पड़ रही है। उष्णीषों में भी अच्छे-अच्छे झब्बे बहुधा लगे रहते हैं।

महाशक्ति—देखो, जो मनुष्य सामने से आ रहा है, उसका उत्तरीय रत्न-ग्रथित होने से कैसा सुशोभित है? वह अन्य मनुष्य मौक्तिक-ग्रथितोत्तरीय धारण किए हुए है।

साथी—यहाँ दुकूल-युग्म लोग अच्छे-अच्छे पहनते हैं। कोई-कोई रेशम के साथ ऊन बुनकर कुछ गरम उत्तरीय भी धारण किए हुए हैं। वेष्टनों के रूप भी विविध प्रकार के हैं। ऊपरी उत्तरीयों के फेंडे भाँति-भाँति के हैं, जो चित्त को चुराते हैं।

महाशक्ति—निम्न दुकूल यहाँ देखो, गुल्फों-पर्यंत पहना जाता है। स्त्रियों के स्तनांशुक भी विविध प्रकार के हैं।

साथी—पानवाली तक का कूर्पासक बहुत बढ़िया था, और नीवी भी अच्छी थी।

महाशक्ति—वह भी गुल्फों तक जाती है। उनके रंग और रूप विविध प्रकार के हैं। नीवी-बंधन के डोर भी बहुत ही बढ़िया देखने में आए। धन-हीन स्त्रियाँ तो चादरों से काम निकाल लेती हैं, किंतु अधिकतर प्रमदाएँ अच्छे-अच्छे शाल ओढ़ती हैं।

साथी—शालों, दोहरों आदि से घूँघट भी भाँति-भाँति के काढ़े जाते हैं। आज हम लोगों ने स्त्रियों के वस्त्रों पर इतना विचार किया है कि यदि कोई हमें न जाननेवाला सुनता, तो संभवतः आचरणों पर संदेह करने लगता।

महाशक्ति—अच्छा, चलो, दो-दो तांबूल ही खा आवें। देखो, उस तांबूलिका की दूकान पर कैसी भीड़ लगी हुई है?

इस प्रकार बातें करके ये दोनो पानवाली की दूकान पर गए, और अच्छे पान लेकर उसे दसगुने दाम इन्होंने बिना माँगे दे दिए। दूकानवाली बहुत ही प्रसन्न हुई, और दूसरे दिन जब वे उसी भाँति आने को थे, तब उसने पहले ही से दूकान पर अपनी बालिका को बिठला रक्खा था। विदेशियों के आते ही पानवाली ने उठकर महाशक्ति का स्वागत किया, तथा पान देकर और एकांत में ले जाकर विनीत भाव से पूछा—

पानवाली—महाशयजी! यदि आपका कोई कार्य इस नगर में हो,

तो मैं उसे भी संपादित करने में सहायता दे सकती हूँ। मुझे केवल पानवाली न समझिएगा ; मैं अनेक प्रकार से सेवा कर सकती हूँ।

महाशक्ति—बड़ी कृपा हुई। मैं तो यहाँ घोड़े बेचने तथा गोटे-पट्टे का माल ख़रीदने आया हूँ। पहले अपना माल बेच लूँगा, तब क्रय भी करूँगा।

पानवाली—तब तो शायद आपको कुछ दिन ठहरना पड़े। जब कभी कोई आवश्यकता हो, तब के लिये यह बाँदी प्रस्तुत है।

महाशक्ति—आपके सौजन्य से मैं बहुत प्रसन्न हुआ। यदि कुछ न हो, तो एक भद्दी-सी बात भी कहूँ।

पानवाली—निस्संकोच भाव से कहिए। मैं तो बिनती कर ही चुकी ; यदि किसी सुंदरी के विचार में हों, तो भी मैं सहायता कर सकती हूँ।

महाशक्ति—आपने तो मन की बात ताड़ ली। हम लोग परदेश में घरवालियों को तो ला सकते नहीं ; फिर भी अवस्था के कारण कभी-कभी विवश हो जाना पड़ता है।

पानवाली—ऐसा तो होता ही है, मालिक ! यदि आज ही इच्छा हो, तो मैं माधवी के यहाँ पहुँचा आऊँ। रूप उसका विश्व-विमोहक है, और वय भी अच्छी है।

महाशक्ति—बात तो ठीक है। भला, राजदरबार में कभी आती-जाती तो नहीं ?

पानवाली—नाचनेवाली वेश्याएँ पर्वों आदि के समय वहाँ जाती अवश्य हैं, किंतु राज-समाज में यहाँ कोई वैसिक है नहीं, सो आपको वहाँ जाने में किसी प्रकार का खटका न पड़ेगा।

महाशक्ति—बस, इतना ही मेरा प्रयोजन था। आप उसका घर मेरे साथी को बतलाने की कृपा कीजिए। मैं हाट से कुछ लेकर वहाँ जाऊँगा।

अनंतर साथी द्वारा माधवी का घर जानकर ये दोनो मित्र सामान लेने के लिये दूकानें देखने लगे। वहाँ इन्होंने विविध प्रकार के चूड़ामणि, रत्नजाल, मुक्ताजाल आदि देखे। भाँति-भाँति के किरीट भी वहाँ देखने में आए। कई चालों के मणि-कुंडल और कर्णपूर बिक रहे थे। अनेक प्रकार के अंगद, अंगुलीयक, मेखला, किंकिणी, रसना, नूपुर आदि दूकानदारों ने दिखलाए। अनंतर एक पण्यन में महाशक्तिजी ने गले के आभूषण देखने को माँगे। तब दूकानदार ने कई निष्क, मुक्तावली, तारहार, वैजयंतिका, हेमसूत्र आदि दिखलाए। आपने यथारुचि आभूषण मोल भी लिए। अनंतर सुगंधित द्रव्य-विक्रेताओं के यहाँ जाकर आपने इनका भी निरीक्षण किया। वहाँ इन्होंने भाँति-भाँति के अगर, चंदन, गंध, गोरोचन, शुक्लागरु आदि देखे। इनका प्रयोग भक्ति और विशेषक में होता था। लोगों ने बतलाया कि वहाँ मुख की गंध मिटाने को बीजपूरक, पान आदि का प्रयोग विशेषतया होता था। दर्पण शीशों अथवा चमकदार जिला-युक्त धातुओं के सुंदर चित्रकारियों-सहित प्राप्त थे। प्रसाधक और प्रसाधिकाएँ बहु संख्या में शृंगार करने को प्रस्तुत थीं। अनुलेपनों का भी आपने अच्छा व्यवहार पाया। फेनाक से लोग प्रायः हाथ धोते थे। आगे बढ़कर ये दोनो मित्र फूल-बाज़ार में पहुँचे। शक्तिपूर में इन्होंने पुष्पों का प्रचुर प्रयोग पाया। लीला कमल सुंदरियाँ हाथ में ही रखती थीं। कुंद और मंदार बालों में गूँथे जाते थे तथा कर्णिकार कानों में। पुष्पलावी बाज़ार में बहुतेरे फिरते थे, जिनके हाथों में भाँति-भाँति के गजरे आदि बेचने को रहते थे। माधवी के लिये कुछ अलंकारों के अतिरिक्त पुष्पमालाओं आदि को भी इन्होंने प्रचुर मात्रा में ख़रीदा। अनंतर साथी को डेरे पर भेजकर यदा-कदा आप माधवी बाई के यहाँ जाने-आने लगे। पानवाली से भी व्यवहार इन्होंने

स्थापित रक्खा। व्यय में इनका हाथ रुकता न था, जिससे बहुतेरे गुप्त अथवा प्रकट सहायक हो जाते थे। उधर चाटों और भटों ने इनका पता लिया, और पेंड़े-बेड़े प्रश्न किए, तो इतना भेद पड़ गया कि इनके लोगों ने बताया तो था अपने को राजपूताना के निवासी, किंतु बोली में इधर-उधर की भी रंगत निकल पड़ी, जिससे प्रचुर व्यय द्वारा इन्हें अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। उधर इनके व्ययाधिक्य से राजकीय गुप्तचरों का प्रधान दूत युवराज की सेवा में उपस्थित होकर प्रणामानंतर बोला—

प्रधान दूत—दीनबंधो! कुछ घोड़ों के सौदागर दस-पंद्रह दिनों से नगर में आए हैं। इनके मुखिया का व्यय तो राजसी है, किंतु घोड़े बेचने की कोई शीघ्रता नहीं दिखती। अपने को राजपूताना के निवासी बतलाते हैं।

युवराज—उधर के लोग गांधार की ओर से घोड़ों का व्यापार करने में देखे अवश्य गए हैं। फिर भी जो संदेह-युक्त बातें तुमने बतलाई हैं, उनसे उचित प्रतीत होता है कि तुम उनके पीछे गुप्त भाव से अपने कुछ दूत लगा दो। भादों पचमी शायद आज हो। तीन ही दिनों में अष्टमी से द्वादशी पर्यंत पाँच दिनों तक पुरहूतध्वज का ऐंद्र मेला होनेवाला है।

प्रधान दूत—इसी के लिये तो बहुत चैतन्यता की आवश्यकता है। उस संबंध में बौद्ध तथा हिंदू-दैवत प्रतिमाओं की सवारियाँ भी कई निकलती हैं।

युवराज—आप जानते हैं, उनमें राजपरिवार के भी लोग सैर देखने को सम्मिलित होते हैं। किसी पर चक्र का प्रश्न तो है नहीं, फिर भी सजग रहना आवश्यक है, आर्य!

प्रधान दूत—यही बात है दीनबंधो! इन लोगों के चलन कुछ संदिग्ध अवश्य हैं, यद्यपि कोई बात अभी सामने नहीं आई है।

युवराज—चार्टो आदि के परिभ्रमणों मे क्या कुछ प्रकट नहीं हुआ ?

प्रधान दूत—उनके मामलों पर मैंने बहुत निगाह रक्खी, किंतु पत्रों से तो कोई बात निकली नहीं। सुन अवश्य पड़ा था कि एक दिन चार्टो आदि से उनकी कहा-सुनी हुई थी, किंतु उसका कोई परिणाम सामने नहीं आया।

युवराज—संभवतः उन्हें कोई संदिग्ध बात नहीं दिखी, अथवा उनके हाथ चिकने हो गए हों।

प्रधान दूत—जो हो, अपनी ओर से चैतन्यता रक्खी ही जायगी।

इतनी बात करके प्रधान दूत महोदय प्रणामानंतर अपने काम पर चल दिए। उधर तांबूलिका से बात करनेवाले विदेशी महोदय महाशक्ति राजकुटुंब तथा नगर के विषय में गुप्त भाव से ज्ञान संपादन करते रहे। उनके साथ दस-बारह कार्यकर्ता थे, जो घोड़ों का काम तो थोड़ा ही बहुत करते थे, किंतु नगर के परिभ्रमण तथा अपने नेता की आज्ञाओं में विशेष उत्साह रखते थे। एक दिन युवराज इंद्रदत्त के साथ राजपुत्री ध्रुवदेवी वनस्पति-वर्ग-संबंधी राजकीय आराम के निरीक्षणार्थ पधारीं, तो देख पड़ा कि भाँति-भाँति के वृक्ष नदी के निकट प्रायः ५० बीघे के उपवन में लगे हैं। सारे भारत से पेड़ मँगवाकर उसमें नियमानुसार लगाए गए हैं। एक बरगद (वट-वृक्ष) इतना भारी है कि उसकी शाखाएँ वृक्ष-रूप में प्रायः पचास-साठ प्रस्तुत हैं। मूल वृक्ष का तना उखड़ गया है, किंतु इन शाखा-वृक्षों की सहायता से वट पूर्णतया जीवित है। इसीलिये यह वृक्ष काटे या जलाए न जाने से अजर-अमर कहलाता है। बीच में एक बहुत ऊँची मोटी लकड़ी एक अन्य स्थान पर गड़ी है, जिसके चारों ओर कुछ दूरी पर गोलाकार स्थान बहुतेरे स्तंभों के आरोपित होने से बनाया गया है। मुख्य स्तंभ से लोहे के मोटे तार इन स्तंभों से

बाँधे गए हैं, तथा उनमें पतले तारों की जाली-सी बनी है। इस जाली के विविध भागों में टट्टी, शीशा, पत्थर आदि के द्वारा अनेक प्रकार के ऐसे आच्छादन बने हैं, जिनसे अधिक अँधेरा तो रहता नहीं, किंतु उस स्थान में रक्षित भाँति-भाँति के पुष्पों तथा इतर पौधों का बचाव प्रचंड भानु-ताप से होता है। कहीं-कहीं किरणों से तो बचाव है, किंतु भानु-तापवाली ऊष्णता सुरक्षित होकर पौधों को पालती है। इस मुख्य स्थान में जल का भी प्रचुर प्रयोग समुचित रीति से है, जिससे भारतीय सभी प्रांतों के छोटे वृक्ष और पौधे इसके विविध भागों में अपने अनुकूल जल-वायु पाने से सुरक्षित रहकर फलते-फूलते है। इस अनुपम स्थान की शोभा युवराज महोदय भगिनी के साथ देर तक देखते रहे। अनंतर चार-छ परिचारिकाओं के साथ ध्रुवदेवीजी इतर वृक्षों को देखती हुई कुछ दूर निकल गईं, तो उन्होंने दो-चार अपरिचित लोगों को कुछ दूरी पर विचित्र प्रकार से देखा। सखियों के इंगित से कुछ राजसेवियों ने उन्हें पकड़कर पूछ-गछ की, तो उन्होंने अपना विदेशी होकर राज-परिवार के इधर पधारने का हाल न जानते हुए केवल उपवन-दर्शनार्थ वहाँ जाना बतलाया। प्रधान दूत के सामने जब ये लोग लाए गए, तब उन्हें संदेह के तो कुछ कारण मिले, किंतु निश्चय के अभाव में इनको नगर से चले जाने-भर की आज्ञा दी गई।

दो ही दिनों में पुरहूतध्वज-महोत्सव का समय आ गया। राज-सेवियों तथा प्रजावर्ग ने इस उत्सव के उपलक्ष में तोरण, पताकाओं आदि से नगर को और भी सजाया। पंद्रह-बीस सजे-सजाए रथों पर दैवत प्रतिमाएँ जलूस के साथ निकाली गईं। सबसे आगे राज-परिवार के दैवत रथ थे। पहले रथ में ध्वजा के साथ इंद्र की प्रतिमा निकली। अनंतर विष्णु, कृष्ण, सूर्य, शिव आदि की प्रतिमाएँ निकाली गईं। एक-दो रथों पर बौद्ध और जैन प्रतिमाएँ भी थीं।

इस पर दो-तीन त्रिचीवरधारी बौद्ध श्रमण आपस में यों बातें करने लगे—

पहला श्रमण—देखो भाई ! इतने भारी जलूस में महायानीय प्रतिमाओं के दो ही रथ हैं। केवल सौ-दो-सौ वर्षों के पूर्व इन्हीं नगरों में बीस-बीस रथों पर बौद्ध प्रतिमाएँ निकलती थीं; ऐसा सारे संघ कहते हैं।

दूसरा श्रमण—और नहीं तो क्या ? जब से गुप्त-साम्राज्य देश में स्थापित हुआ है, तब से अपने धर्म की ओर भी विशेष हानि है।

तीसरा श्रमण—किंतु इतना मानना पड़ेगा कि राज्य का कोई दबाव अपने धर्म के प्रतिकूल है नहीं, वरन् कई बौद्ध सज्जन राज्य के उच्च पदों तक पर नियुक्त हैं।

पहला श्रमण—इतना अवश्य है, किंतु यही तो यहाँ का भेड़िया-धसानवाला मामला है कि राजा हिंदू हुआ, तो सारी प्रजा उसी ओर दौड़ पड़ती है।

तीसरा श्रमण—यह बात अपने मत के संबंध में भी कही जा सकती है। राजा कुछ बौद्ध श्रमणों तक को वृत्तियाँ लगाए हुए हैं।

दूसरा श्रमण—किंतु हिंदुओं के लिये जितनी भुक्तियाँ लगी हैं, उसकी दशमांश भी बौद्धों के लिये नहीं हैं। तुम तो उलटी बातें करते हो, भाई !

तीसरा श्रमण—जब वे हिंदू हैं, तब अपने धर्म पर विश्वास करेंगे ही। आपत्ति आपको तब हो सकती है, जब आप पर कोई राजकोप हो।

पहला श्रमण—यह भी समझने की बात है ही। अपने यहाँ जो माता-पिता, गुरुओं आदि के मान पर विशेष आग्रह किया जाता है, तथा मांसाशन के प्रतिकूल भी हम लोग हठ करते हैं, उन्हीं बातों के कारण साधारण जनता अपने अधिकारों पर आक्रमण मानकर बिना दबाव के अब इस मत में रहना कम चाहती है।

दूसरा श्रमण—क्या कहें लोगों की बुद्धि पर कि भली बात के समझने में भी उन्हें विपदा दिखती है। जब भगवान् बुद्धदेव ही उनमें ऐसी मति उत्पन्न करते हैं, तब कहा ही क्या जाय ?

इनमें इधर ऐसी बातें हो ही रही थीं, और उधर उच्च वर्ग की सारी प्रजा हंस-चिह्नित पाटंबरी दुकूल धारण किए मेले का आनंद ले रही थी। राजपरिवार की स्त्रियाँ रथों पर जा-जाकर एक देव-मंदिर के सजे-सजाए चबूतरे पर बैठी जलूस की शोभा का निरीक्षण कर रही थीं। संध्या हो जाने पर प्रकाश का भी अच्छा प्रबंध किया गया था। इतने ही में मेले से शोर मचता हुआ यह कोलाहल उठा कि दो मस्त हाथी छूट गए हैं, जिससे लोगों के कुचले जाने का भय है। सैकड़ों लोग अस्त-व्यस्त दशा में इधर-उधर भागने लगे। स्त्रियों के रक्षकों का भी प्रबंध इस गड़बड़ में बहुत कुछ ढीला हो गया।

इतने में उपर्युक्त पानवाली ने समय पाकर ध्रुवदेवी से कहा—

पानवाली—देवीजी! जल्दी से आप इस रथ पर बैठ लीजिए, जिसमें मैं आपको राजप्रासाद में पहुँचा दूँ।

ध्रुवदेवी—रथ है किसका, और आप कौन हैं ?

पानवाली—रथ सरकारी है। मैंने कई बार महलों में आपको पान खिलाए हैं; क्या याद नहीं है ? जल्दी कीजिए, जल्दी। वह देखिए, हाथियों के आगे से भागती हुई भीड़ आ रही है।

ध्रुवदेवी—तुम मुझे ले किस मार्ग से चलोगी ?

पानवाली—राजमार्ग से तो जा सकती नहीं, क्योंकि उधर ही मस्ताए हुए दोनो हाथी फिर रहे हैं। बाज़ू के एक मार्ग से ले चलूँगी; मालिक! देर न हो, नहीं तो भय सामने है।

ध्रुवदेवी—राजमाता और भाभीजी किधर हैं ?

पानवाली—वे जा चुकीं, मालिक! उन्हीं को तो जाते देख मैं

इधर आई हूँ। जब ढूँढ़ने से भी जल्दी में आप न मिलीं, तब वे करती ही क्या।

ध्रुवदेवी—इधर भभ्भड़ में कई बेजाने पुरुष तक घुस आए, जिससे मैं औरों से छूट गई।

पानवाली—तो क्या डर है? मैं तो प्रस्तुत ही हूँ। अब शीघ्रता हो। भय निकट ही है।

ध्रुवदेवी—अच्छा, यही सही, अब किया ही क्या जाय?

इस प्रकार ध्रुवदेवी रथ पर बैठकर चलीं। भीड़-भाड़ के कारण रथ में पर्दे डाल दिए गए। उधर राजपरिवार ने एकत्र होकर जब इन्हें न पाया, तो रक्षकों और राजदूतों से हाल बताया। प्रायः १५ सशस्त्र पुरुष रथ को घेरे हुए जा रहे थे। राजदूतों ने सब गलियों, राजमार्गों आदि में विश्वस्त दूत लगा रक्खे थे। उनमें से एक ने इस रथ को टोका, तो ध्रुवदेवी के भय से रथ-प्रबंधक लोग अंड-बंड बात न कह सके, और उनके स्वामी को भंडा फूटना देख पड़ा। अतएव उसके इंगित से एक साथी ने ऐसा तीर मारा कि दूत वहीं-का-वहीं ढेर हो गया। अँधेरे में रथ के एक रक्षक ने उसे वहीं छिपाकर आगे का रास्ता लिया। फिर भी ध्रुवस्वामिनी के एकाएक खोज-रहित हो जाने से सब ओर दौड़-धूप मच गई थी, जिससे महादूत द्वारा नियोजित दस-पंद्रह योद्धाओं ने आकर इस रथ को भी खोज लिया। अधिक गड़बड़ देखकर ध्रुवदेवी ने उन्हें डाँटकर कहा—

"तुम लोग भड़भड़ क्या मचाए हुए हो। मैं तो हाथियों से बचने को सरकारी रथ पर चढ़ी हुई शीघ्रता में राजप्रासाद को जा रही हूँ।"

यह सुनकर उनके नेता ने कहा—

नेता—देवी जी! आप किस धोखे में हैं? न कहीं हाथी मस्ताए

थे, न कोई भय था। किसी लफंगे ने चोरी करने को ही ऐसा गड़बड़ मचा दिया था। क्षमा कीजिएगा, आप डकैतों के हाथ में हैं।

ध्रुव देवी—क्या ऐसी बात है? मार्ग में राजदूत ने रथ को टोका भी था, किंतु कुछ कहा नहीं।

नेता—शायद वह बाण द्वारा समाप्त हो गया, नहीं तो छोड़ कैसे देता?

महाशक्ति—शुभे! ये लोग स्वयं डकैत हैं, जो हम लोगों को चोर बतला रहे हैं।

नेता—अच्छा, रथ तो राजप्रासाद से विपरीत मार्ग को जा रहा है; यह क्या बात है?

महाशक्ति—हम लोग हाथियों का मार्ग बचाकर टेढ़े रास्ते से देवी को लिए जा रहे थे।

नेता—(अपने पद का चिह्न दिखलाकर) अच्छा, मैं तो राज-सेवक हूँ ही; मैं रथ को अपने अधिकार में लेता तथा तुम सबको बंदी करता हूँ। तुम्हें दंड-विभाग में उत्तर-प्रत्युत्तर देने होंगे। इतना सुनकर महाशक्ति और उसके सहायक धनुष-बाण तान तानकर युद्धार्थ सन्नद्ध हो गए। युद्ध का मामला देख और राजकुमारी पर संकट समझकर कुछ मार्गस्थ लोग भी दूत-दल को सहायता देने लगे, और १५ डकैतों में से प्रायः १० समाप्त हुए, तथा महाशक्ति के साथ शेष पाँचों सहायक क्षत-विक्षत होकर अँधेरे में निकल गए। ध्रुवदेवी का रथ राजप्रासाद को पहुँचाया गया, तथा इस मामले की जाँच होने से प्रकट हुआ कि घोड़ों पर चढ़-चढ़कर छओ आदमी निकल भागे। अब शेष अश्व सरकारी हयशाला में रख लिए गए। पानवाली ने कहा कि वह तो उन्हें सरकारी आदमी समझकर देवीजी को रथ पर चढ़ा ले गई थी। इससे अधिक वह उन्हें जानती भी न। जब उन लोगों से उसके पहले के संबंध प्रकट हुए, तब उसे दंड

दिया गया। वेश्या के प्रतिकूल कुछ भी प्रमाणित न हो सका। राजदूत ने समय पर युवराज महोदय से यों बात की—

राजदूत—विशेष जाँच से ऐसा प्रकट होता है कि वे लोग कहते अपने को तो ढुँढाहर-निवासी थे, किंतु समझ कहीं बाहर के पड़ते थे। किस नगर के थे, सो प्रकट न हुआ!

युवराज—स्वयं उनका इतना बड़ा साहस ज्ञात नहीं होता कि शक्तिपुर में ही आकर राजकन्या के अपहरण का डौल डालते।

राजदूत—ऐसा ही समझ पड़ता है। जो लोग उस दिन उपवन की सैर में पाए गए थे, वे भी संभवतः इसी मंडली के हों।

युवराज—हो सकता है। जो लोग मरे हैं, उनके वस्त्रों आदि से क्या कोई पता नहीं चलता?

राजदूत—कुछ नहीं दीनबंधो! उन्होंने वस्त्रादि शक्तिपुरवालों के समान ही धारण कर रक्खे थे, तथा उनके सामान में कोई पत्रादि न मिले।

युवराज—जब वे बोली-भाषा आदि से कहीं बाहर के थे, तब यदि शाहानुशाही के चाकर हों, तो असंभव नहीं।

राजदूत—हो सकता है।

युवराज—अब भविष्य का क्या विचार है, आर्य!

राजदूत—अभी कोई निश्चय तो हो नहीं सकता, किंतु संभव है, इस आरंभ के असाफल्य से वे लोग कोई घोरतर प्रयत्न करें।

युवराज—अब उनसे कुछ भी असंभव नहीं। इस विषय पर देव से निवेदन करके कोई विशेष प्रबंध करना पड़ेगा।

राजदूत—भय की तो कोई बात है नहीं, किंतु शृगाल के शिकार को चलकर भी सिंह-वध का प्रबंध कर लेना चाहिए।

युवराज—यही बात है, आर्य!

राजदूत से यों बात करके युवराज महोदय पितृसेवा में उपस्थित होकर बोले—

युवराज—देव ! मैंने भगिनीजी का आश्वासन तो कर दिया है ; बेचारी बहुत रोती थीं ; किंतु भविष्य पर विचार अब आवश्यक है ।

शक्तिसेन—क्या कहूँ बेटा ! यह कौन जानता था कि अपनी ही राजधानी में राजकुमारी पर डाका डालने का दुस्साहस लोग करेंगे ?

युवराज—पूज्य पिताजी ! मुझे किसी विशेष प्रमाण के न रहते हुए संदेह किसी पर नहीं होता है । सारा हाल आपकी सेवा में निवेदन किया जा ही चुका है ।

शक्तिसेन—समझ मुझे भी यही पड़ता है । कन्या का विशेष सौंदर्य हम लोगों के लिये संकट उपस्थित कर सकता है । अब विवाह का समय आ ही चुका है । यदि सम्मति हो, तो इन्हें अयोध्या पहुँचा दिया जाय ?

युवराज—यही बात उचित समझ पड़ती है, देव !

सप्तम परिच्छेद

अयोध्या का घटना-चक्र

प्राय: समग्र उत्तरी और मध्य भारत की राजधानी अयोध्या की शोभा अकथनीय है, जहाँ आठ वार नौ त्योहारों की-सी बात रहती है। आज भी वहाँ की विश्रामशाला में अच्छी चहल-पहल है! प्रबंधक महोदय प्रासाद के भारी आँगन में बैठे हुए मोल के अनुसार आगंतुकों के ठहरने का प्रबंध कर रहे हैं। चार छ आने-जानेवाले लोग भी वहीं बैठे हुए गप्प लड़ा रहे हैं।

प्रबंधक—क्यों यारो! आजकल अतिथियों की संख्या में कुछ कमी-सी दिखती है; क्या बात है?

नापित—जब से महाराजाधिराज की रहाइम महीने-दो महीनों से बहुत अच्छी नहीं सुन पड़ती, तभी से कुछ ढीलापन-सा दिखने लगा है।

कर्मकार—यहीं मारे पथिकों के साँस लेने को दम नहीं मिलता था। अब तो दिन-भर में चार-छ टके कहापनों (कार्षापण) से भी भेंट नहीं होती।

एक्केवाला—यही तो बात है यारो, इसी बिसरामसाला से इतनी सवारियाँ निकलती थीं कि घड़ी-भर बैठने का मौक़ा नहीं मिलता था। अब तो भाई, मक्खियाँ भिनक रही हैं।

पानवाला—तुम तो फिर भी दो-एक घरण पीट ही लेते हो, यहाँ पान खानेवालों के दर्शन ही नहीं होते।

आवेदन-लेखक—तुम लोगों का तो काम यारो, चला ही जाता है,

कुछ दिनों से बितवारों का पता ही नहीं लगता। दिन-भर न्यायालय के सामने नीम के नीचे बैठे रहते हैं, और साँझ को भोजनों का भी ठिकाना नहीं दिखता।

प्राड्विवाक के कायस्थ—तुम तो भाई, यों ही गप्पें मारते हो। उधर आवेदकों से वसूल करते हो, और इधर हम लोगों के मालिकों से कुछ ले ही मरते हो।

आवेदन-लेखक—अरे, तुम्हीं कब छोड़ते हो? अपने मामले दूसरों के यहाँ तक भिड़ाकर दाम खड़े कर लेते हो?

प्राड्विवाक के कायस्थ—यह भाई, बेईमानों का काम है। जब अपने मालिक ने कोई मामला न लिया, तभी दूसरों के यहाँ जाना होता है। ऐसे अवसरों पर वे कुछ दे ही निकलेंगे।

प्रबंधक—एक तो इस राज्य में झगड़े ही बहुत कम होते हैं, क्योंकि उदनकूप-परिषदों के लोग इधर अपना धरम सँभाले रहते हैं, और उधर सरकार के यहाँ से कोई उठाए नहीं जाते।

आवेदन-लेखक—बात यह भी है कि ग्रामों आदि के प्रबंध वहीं के लोग करते हैं, जिससे कोई वादी झूठे मामले उठा नहीं पाते, क्योंकि मुखियाओं को सब हाल पहले ही से विदित रहता है।

प्राड्विवाक के कायस्थ—इसी से लोग न तो झूठी बातें कर सकते हैं, न पड़ोसियों के खेत, गृह, आराम आदि के भाग अपने में मिलाने के डौल करते हैं।

प्रबंधक—इन्हीं बातों से तो ग्रामों आदि में दलबंदी का अभाव रहता है; सब लोग मिलकर काम करते हैं।

आवेदन-लेखक—इसी से तो इने-गिने ही बिनती-लेखक और प्राड्विवाक हैं।

पानवाली—फिर भी जो हैं, वे माल मारते हैं।

प्राड्विवाक के कायस्थ—यदि कुछ मिले ही नहीं, तो बरसों

व्याकरण घोखकर तथा राजनियमों को कंठ करके कोई इतनी अड़चन उठावे ही क्यों ?

प्रबंधक—बिलकुल ठीक कहा, भाईजी ! ईश्वर की कृपा से अपने यहाँ जब से महाराजाधिराज का समय आया है, तब से प्रजा बहुत चैन में है।

आवेदन-लेखक—और नहीं तो क्या ? महाचीन तक से घूमने-फिरनेवाले लोग जो यहाँ आते-जाते हैं, वे यही देखकर बड़े प्रसन्न हो जाते हैं कि यहाँ लोगों को बिना मुख्य कारणों के न्यायालयों आदि में व्यवहार-विधान को घड़ी-घड़ी दौड़ना नहीं पड़ता। लोक-तंत्र चल बहुत अच्छा रहा है।

प्रबंधक—न्यायाध्यक्ष और राजदूत भी कितना धरम सँभाले रहते हैं ?

एक्केवाला—चाटों और भटों की नहीं कहने।

नापित—उनके भी ऊँचे अधिकारी धरम नहीं छोड़ते, जिससे वे लोग भी बहुत कुछ हाथ-पैर बचाकर काम करते हैं।

कर्मकार—परमान मिलने पर दंड भी तो पूरा पाते हैं।

पानवाली—इन्हीं बातों से तो प्रजा चैन में है।

एक्केवाला—बरकत भी बहुत कुछ है।

आवेदन-लेखक—विदेशों में अपने माल की ऐसी खपत है कि सोने का रोमक दीनार सब कहीं मारा-मारा फिरता है।

प्रबंधक—आजकल जो कष्ट है, सो कैसा ?

प्रबंधक—यह केवल महीने-दो महीनों की बात है। दो दिनों में फिर वही चैनचान हो जायगी।

नापित—आजकल साल-डेढ़ साल से जो नए वैद आए हैं, उनकी बैदकी इतने ही दिनों में कैसी चटकने लगी है ?

कर्मकार—किरपा भी तो सब पर कितनी करते हैं ?

प्रबंधक—यही तो बात है; दीन-दुखियों को बेदाम-कौड़ी के दवा तक दे देते हैं।

इक्केवाला—जो बुलाए, उसके यहाँ भी तुरंत जाते हैं; चाहे कुछ दे या नहीं। रोगी के लिये पूरे धन्वंतरि हैं।

आवेदन-लेखक—फिर दवा ऐसी बढ़िया लिखते हैं कि चार ही दिनों में रोगी चंगा हो जाता है।

इक्केवाला—इनकी पुत्री जो इनके साथ है, वह भी नगर की स्त्रियों को बहुत लाभ पहुँचाती है।

नापित—उसका तो मान युवराज के यहाँ भी बहुत है।

प्राड्विवाक के कायस्थ—सुंदरी भी हज़ारों में एक है।

नापित—हमारे युवराज की रानी का तो स्वर्गवास परीसाल हो चुका है, बेचारे करें, सो क्या करें ?

प्रबंधक—यह तुमने क्या कह दिया ? कहीं गड़बड़ में न पड़ना।

प्राड्विवाक के कायस्थ—इतना ही तो यहाँ न्याय अच्छा है। जब तक कोई निश्चित बात न कहो, तब तक केवल संदेह-प्रकाशन में राजकोप नहीं होता।

आवेदन-लेखक—हमारे श्रेष्ठीजी तो कुछ काँपते हुए-से दिखते हैं। युवराज का नाम सुनते ही उन्हें जूड़ी-सी चढ़ती है।

इक्केवाला—एक दिन विषयपति के तीन सम्मतिदाताओं पर सुना, डाट भी तो अच्छी पड़ी थी।

नापित—इसी से तो सब घबराते हैं।

प्रबंधक—तुम तो यारो, राजपरिवार पर भी छींटे छोड़ रहे हो। कहीं ऐसा न करना कि विश्रामशाला हाथ से जाय, जो मैं तो भीख माँगने के भी योग्य न रह जाऊँ।

प्राड्विवाक के कायस्थ—ऐसा क्या घबराते हो ? ख़ास अयोध्या में कहीं किसी पर अन्याय हो सकता है ?

प्रबंधक—सो तो हुई है, फिर भी कहावत चलती है कि "कर तो डर, न कर तो ईश्वरीय कोप से डर।"

आवेदन-लेखक—कवियों ने भी तो कहा है—

"करिए तौ डरिए, न करिए तौ डरिए जू;
सबकी भलाइए, भलाई चित धारिए।"

प्राड्विवाक के कायस्थ—यह तो स्वयं कालिदास की एक रचना का सारांश समझ पड़ता है।

आवेदन-लेखक—उनके किसी ग्रंथ में तो है नहीं।

प्रबंधक—स्फुट रचनाएँ भी सैकड़ों ही हैं।

(ब) युवराज रामगुप्त

इस प्रकार बातचीत करके लोग अपने-अपने स्थानों को गए। उधर युवराज महोदय के प्रधान चाकर ने उनके आज्ञानुसार जाकर अभिवादन किया।

युवराज—तुमसे मैंने शक्तिपुर की राजकन्या का चित्र युक्ति-पूर्वक मँगवाने को कहा था, उसका क्या कोई प्रबंध नहीं हो सका ?

प्रधान चाकर—दीनबंधो! अभी कल ही तो आया है। ऐसा रूप है कि चित्र की सत्यता पर विश्वास नहीं होता। उसके विषय में तो यह छंद स्मरण आता है—

आई हौं देखि बधू इक 'देव', सु देखत भूली सबै सुधि मेरी;
राख्यो न रूप कछू विधि के घर, ल्याई है लूटि लोनाई कि ढेरी।
एबो अबै वहि ऐबे है बैस, मरैंगी हराहर घेंटि घनेरी;
जे-जे गुनी गुन-आगरी नागरी ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी।

युवराज—लाओ, देखें तो सही कि कैसा है? (चाकर चित्र दिखलाता है।) वाह! ऐसा रूप तो संसार में देखा गया नहीं। नख से शिखा-पर्यंत कहीं कोई दोष ही नहीं। यह चित्र अवश्य काल्पनिक होगा। ऐसा सौंदर्य वास्तविक कैसे हो सकता है? न तो मोटापन दिखता है न दुबलापन। रंग ऐसा अनमोल है कि

सोना, चंपक और केसरि भी सामना नहीं कर पाते। आँखें कैसी बड़ी-बड़ी चित्त को चुराती हैं? मुख का सौंदर्य उनसे और भी चतुर्गुणित हो गया है। वदन पर का मौक्तिक अधरों को कैसी शोभा दे रहा है? मंद मुसक्यान से जो थोड़ा-सा दाँत खुल गए हैं, उनसे सौंदर्य में मुक्ता होड़ नहीं लगा पाता। जितनी अनमोल शोभा अधरों को मुक्ता से मिलती है, उससे कहीं अधिक लघु दंतावलि से। नासिका की मंद श्वास से मोती को जो थोड़ा-सा कंपन मिलता है, उसका भी प्रभाव मुक्ता और अधर पर उसकी छाया में दर्शाया गया है। भौंहें नेत्रों के ऊपर ऐसी शोभित हैं, मानो जगत् जीतने को कामदेव ने धनुष ताना हो। उन्नत ललाट-पटल दूर तक ज्योति फैलाता है। काले बालों पर रत्न-जाल की अनमोल शोभा है, जिसके बीच वेणी ऐसी लहराती है, मानो अंधकार-पूर्ण रात्रि में रूप का प्रतिद्वंद्वी खोजने आकाश की ओर जाने को नागिनी उछल-कूद मचाए हो। स्तनांशुक के भीतर से भी अंग की आभा नेत्रों को चुराती है। अंशुक पर वैजयंतिका क्या ही लहरा रही है? सारा चित्र रूप का कोष-सा सम्मुख उँडेलता है।

प्रधान चाकर—क्षमा करें, देव! आज तो आप कवियों के भी आगे निकले जा रहे हैं।

युवराज—इतने से भी तो रूप का शतांश वर्णन से व्यक्त नहीं हो सका है।

"लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि-गहि गरुब गरूर;
भए न केते जगत में चतुर चितेरे कूर।"

क्या इसमें चित्राबाई से भी अधिक आकर्षण है?

युवराज—दुर मूर्ख कहीं के! क्या सूर्य के सम्मुख खद्योत का बखान कर रहा है?

प्रधानचाकर—इतनी रसिकता तो अब तक देख न पड़ी थी। आपका तो काम-काजू प्रेम-भाव समझ पड़ता था।

युवराज—सो कैसे ?

प्रधान चाकर—हमारी चिप्राबाई अबतक वैद्यक का भी काम करती और अपने पिता के ही यहाँ रहती हैं।

युवराज—ऐसा न हो, तो परम भट्टारक के पास तक समाचार न पहुँचे ?

प्रधान चाकर—अब राजकुमारीजी के विषय में क्या आज्ञा है ?

युवराज—यह कठिन समस्या है। इस पर देव से निवेदन कराने की आवश्यकता पड़ेगी, सो भी युक्ति-पूर्वक।

प्रधान चाकर—क्षमा कीजिएगा युवराज महोदय! केवल ऐसी ढीली कमानों से खींचने पर ऐसे-ऐसे महत्कार्य पूरे नहीं पड़ते।

युवराज—तब तुम्हारी क्या सम्मति है ?

प्रधान चाकर—मैं तो समझता हूँ कि राजपुत्री को भी बिना प्रसन्न किए केवल राजाज्ञा से काम न चलेगा।

युवराज—है तो ठीक; फिर किया क्या जाय ? राजपुत्री का सत्संग प्राप्त कैसे हो सकता है ?

प्रधान चाकर—इसमें कौन-सी कठिनता है ? राज्य का दौरा करने के ब्याज से चार-छः दिनों के लिये उधर जाकर महाराजा शक्तिसेन के अतिथि बनिए। वह भी चाहें या न चाहें, पूर्ण मान के साथ आतिथ्य करेंगे ही। उसी अवसर पर राजकुमारी से मिलकर उसे रिझाने के प्रयत्न कीजिए।

युवराज—युक्ति तो अच्छी दिखती है।

प्रधान चाकर—अपराध क्षमा हो, तो एक बिनती और कर दूँ।

युवराज—हाँ कहो, क्या कहते हो ?

प्रधान चाकर—राजकुमारी तथा उनके लोगों से बात करने में

अपना चित्त सँभाले रहने की विशेष आवश्यकता है, जिसमें किसी भाँति क्रोधादि की छाया न पड़ने पाए।

युवराज—है तो यह भी ठीक, किंतु जब कोई अनुचित बात कह बैठता है, तब मेरे लिये शांतता बहुत कठिन हो जाती है।

प्रधान चाकर—इसीलिये तो विनती पहले ही से कर दी गई है।

युवराज—प्रयत्न इसका भी करूँगा।

इस भाँति विचार दृढ़ करके तथा सम्राट् की भी आज्ञा लेकर मृगया तथा राज्य का दौरा करने के व्याज से युवराज रामगुप्त शक्तिपूर जाकर महाराजा के अतिथि हुए। उच्च पद के कारण इनका वहाँ भारी मान हुआ। मृगयादि के संबंध में युवराज इंद्रदत्त तथा ध्रुव-स्वामिनी से बात करने के अवसर प्रायः मिले। एक दिन इंद्रदत्त और ध्रुवस्वामिनी से इस प्रकार वार्तालाप हुवा—

रामगुप्त—इंद्रदत्तजी! उज्जयिनी में विद्या-लाभ के संबंध में आपने कौन-कौन-सी विद्याओं तथा कलाओं में परिश्रम किया?

इंद्रदत्त—युवराज महोदय! मैंने वहाँ दो-तीन वर्ष परिश्रम किया, तथा बहन ने केवल एक वर्ष। मैंने साधारण अध्ययन के अतिरिक्त शस्त्रास्त्र-प्रहार तथा युद्ध-शास्त्र में विशेष ध्यान दिया। वहाँ युद्ध-विद्या का अध्यापन था भी अच्छा।

रामगुप्त—(ध्रुवस्वामिनी से) आपने, राजकुमारीजी! क्या-क्या सीखा?

ध्रुवस्वामिनी—मेरा तो युवराज महोदय! वहाँ कोई विशेष लाभ हुआ नहीं; केवल एक वर्ष रहकर साधारणी शिक्षा-मात्र प्राप्त कर सकी। वहाँ से पलटने पर जो कुछ सीखना था, यहीं घर पर सीखा।

रामगुप्त—सामाजिक वार्तालाप तो आप श्रेष्ठ कर सकती हैं। अब तो आपका विद्याध्ययन समाप्त हो गया होगा?

ध्रुवस्वामिनी—ऐसा तो है ही ; मैंने विद्योन्नति में कोई विशेष योग्यता न प्राप्त कर पाई ! साधारण बोध-मात्र है ।

रामगुप्त—सौंदर्य तो आपने परमोच्च कक्षा का उपार्जित कर रक्खा है ।

ध्रुवस्वामिनी—यह क्या आज्ञा होती है ? मुझसे बढ़कर सैकड़ों सुंदरियाँ मुझी को ज्ञात हैं । फिर भी जो हो, मैं इस विषय पर किसी से कभी वार्तालाप नहीं करती । अपराध क्षमा हो ।

रामगुप्त—यह तो उचित ही है । क्षमा कीजिएगा; मैंने यों ही एक बात कह दी ।

इंद्रदत्त—मेरी बहनजी बड़ी लाजवंती हैं, कभी किसी से ऐसे विषयों पर कथनोपकथन नहीं करतीं । फिर भी युवराज महोदय से क्षमा का प्रार्थी हूँ ।

रामगुप्त—कोई बात नहीं है ; उज्जयिनी में आप दोनो का साथ मेरे अनुज चंद्र से क्या कभी हुआ था ?

इंद्रदत्त—उनका तो वहाँ हम दोनो से सदैव साथ रहा ; हम लोगों पर बड़ी ही कृपा करते थे । बड़े ही उच्च मानस-पूर्ण राजपुरुष हैं । उनसे मिलकर चित्त सदैव प्रसन्न हो जाता था ।

रामगुप्त—मुझसे मिलकर क्या कोई अप्रसन्नता हुई ? मैं तो उनमें ऐसे गुणगण देख नहीं पाता ।

इंद्रदत्त—क्षमा का प्रार्थी हूँ युवराज महोदय ! अपना-अपना मत है; हम लोगों को उनमें असंख्य गुणगण दिखे ।

रामगुप्त—और मुझमें ?

इंद्रदत्त—युवराज महोदय उनके भी ज्येष्ठ भ्राता हैं; संभवतः गुणों में भी उनसे ज्येष्ठ होंगे, किंतु हम लोगों का दुर्भाग्य है कि आपकी चिर-संगति के अवसर न प्राप्त हुए ।

रामगुप्त—इसीलिये शायद अभी तक गुणों में आप उन्हें ही ज्येष्ठ पाते हों।

ध्रुवस्वामिनी—युवराज महोदय ! हम दोनो क्षमा के प्रार्थी हैं। आपमें भी गुणगण असंख्य होंगे क्या, हैं ही; केवल दुर्भाग्य-वश हम लोगों को उनके जानने के अवसर नहीं मिले हैं।

इस प्रकार बात होने के पीछे यह सभा भंग हुई, और इंद्रदत्त ने युवराज के अनुचित क्रोध-पूर्ण व्यवहार का सारा वृत्तांत अपने पिता को भी सुनाया। अनंतर एक दिन युवराज रामगुप्तजी का वार्तालाप उनसे भी हुआ।

रामगुप्त—प्रियवर महाराजा ! मैंने कई दिन आपके उदार आतिथ्य से प्रसन्नता प्राप्त की। अब यदि आज्ञा हो, तो अयोध्या पलटने का विचार दृढ करूँ। आप के कृपा-पूर्ण व्यवहार के निमित्त अनेकानेक धन्यवाद अर्पित हैं।

शक्तिसेन—बड़ी ही अनुग्रह हुई कि युवराज महोदय ने अपने शुभागमन से इस कुटुंब को महत्ता प्रदान की। जितने दिन आप यहाँ विराज सकें, उतनी ही कृपा होगी।

रामगुप्त—अब तो चलने का ही मेरा विचार है; केवल एक बात कहने को शेष है।

शक्तिसेन—वह आज्ञा भी पाकर क्या मैं कृतार्थ हो सकता हूँ ?

रामगुप्त—आपकी कन्या-रत्न ध्रुवस्वामिनी से मैं बहुत ही प्रसन्न हो रहा हूँ। यदि आपने अब तक उसे किसी को देने का संकल्प दृढ़ न कर लिया हो, तो क्या मैं उसे अपनी भार्या बनाने को माँग सकता हूँ ?

शक्तिसेन—कन्या उत्पत्ति-मात्र से योग्य वर को देय होती है। अभी तक मैंने इस विषय में कोई दृढ़ विचार नहीं किया है। आपसे बढ़कर श्रेष्ठ वर उसके लिये कौन होगा ? आप की रानीजी

का भी स्वर्गवास हो चुका है। केवल इतना संकोच होता है कि मेरी पदवी आपके देखते हुए कुछ भी नहीं है। अब तक कन्या ने किसी ओर झुकाव प्रकट नहीं किया है। मेरा भी चित्त दृढ़ नहीं हुआ है। अपनी हीनता के देखते हुए संकोच अवश्य होता है।

रामगुप्त—ऐसे आप कौन गए-बीते हैं ? ऐसे संबंध प्रायः हुआ करते हैं। इस विषय में आपको कोई और संकोच तो नहीं है ?

शक्तिसेन—और क्या संकोच हो सकता है ? मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि इतना महान् युवराज मुझे संबंधार्थ मिले ? फिर भी साम्राज्य का नियम ऐसा है कि हम लोग अपनी-अपनी कन्याएँ अयोध्या भेज देते हैं, जहाँ सम्राट् के आज्ञानुसार परिणय हो जाता है।

रामगुप्त—ऐसा तो है ही।

इस प्रकार बात करके युवराज महोदय यथासमय अयोध्या वापस गए।

(ख) विवाह

वहाँ राजधानी में राजकुमार चंद्रगुप्त के यहाँ एक दिन कविवर कालिदास तथा सांधिविग्रहिक वीरसेनजी बैठे हुए उनसे विचार-विनिमय कर रहे थे।

कालिदास—अब तो आप भी साहित्य-रचना अच्छी करने लगे हैं।

चंद्रगुप्त—इसके लिये केवल इच्छा-शक्ति के प्रयोग और समय-प्रदान से काम नहीं चल सकता, मनश्चांचल्य, प्राकृतिक शक्ति और सांसारिक विषयों का समुचित ज्ञान भी आवश्यक हैं।

वीरसेन—मृगया का तो अनुभव आपको अमूल्य है। उस पर छंद भी अनमोल बने हैं।

कालिदास—सो तो हुई है ; पढ़े बँधवाकर केवल खड्ग-चर्म की

सहायता से न-जाने कितने सिंहों, नाहरों आदि का शिकार हो चुका है। इस विषय पर आपकी रचना के समान मेरी भी नहीं है।

चंद्रगुप्त—यह आपकी कृपा है कि ऐसे उच्च विचार प्रकट करते हैं। यह भूल शायद आपकी मित्रता कराती है। अब तो भाई साहब की ओर से भी कम-से-कम कोई उपद्रव नहीं उठता।

वीरसेन—उनके कार्यों पर मुझे निश्चय कभी नहीं होता; न-जाने कब क्या कह बैठें ?

चंद्रगुप्त—आज एक परम गुह्य विषय पर आप दोनो से मंत्र लेना है; साधारण बातों के लिये इस समय अवकाश नहीं है।

कालिदास—कहिए, क्या बात है ? क्या इसीलिये हम दोनो को स्मरण किया था ?

चंद्रगुप्त—कुछ ऐसी ही बात थी, यद्यपि उसके न होने से भी दर्शनेच्छा सदैव जाग्रत् रहती है ही।

वीरसेन—इसमें क्या संदेह है ? अच्छा, आज्ञा हो, क्या बात है ?

चंद्रगुप्त—शक्तिपुर के युवराज इंद्रदत्त का एक अनोखा सा पत्र आया है।

कालिदास—क्या कहते हैं ?

चंद्रगुप्त—इनकी भगिनी को मैं सदैव स्वसा कहता रहा, किंतु उन्होंने यह पत्र भेजा है। (दोनो को पत्र दिखलाते हैं।)

कालिदास—बहन आदि तो समाज में लोग स्त्री-मित्रों को कहा ही करते हैं; ऐसा कहने-भर से क्या वास्तव में कोई भगिनी हो जाती है ?

वीरसेन—इन राजकुमारी महोदया के रूप और गुणों का बखान तो दूर-दूर तक हो रहा है ; इनसे संबंध का विचार परम प्रसन्नता का विषय होना चाहिए।

कालिदास—किंतु भाईजी! सब मामले सोच लीजिए। महाराजाओं के लिये नियम ऐसा है कि विवाहार्थ कन्याएँ साम्राज्य में भेंट करें। किस राजकुमार के साथ विवाह हो, इसका निर्णय प्रधानतया परम भागवत के विचाराधीन है।

चंद्रगुप्त—क्या कन्या का पिता इस विषय में नितांत अशक्त है?

वीरसेन—इतना ही तो भौसा इस मामले में प्राचीन काल से चलता आया है।

कालिदास—आप तो, आर्य! साम्राज्य के सांधिविग्रहिक हैं; क्या आप भी इस विषय में असमर्थ हैं?

वीरसेन—पूर्ण अशक्तता किसी बात में नहीं है, फिर भी ऐसे विषयों में कहने-भर का अधिकार है।

कालिदास—फिर इनकी महारानी कुबेरनागा ईश्वर की कृपा से प्रस्तुत हैं, उधर युवराज्ञी महोदया स्वर्गवासिनी हो चुकी हैं।

वीरसेन—इसी से तो सम्राट् का पहला विचार युवराज ही के साथ विवाह का उठना स्वाभाविक है।

चंद्रगुप्त—तब फिर भाई इंद्रदत्तजी को क्या उत्तर दिया जाय?

वीरसेन—जब राजधानी ही में किसी ने बालिका के अपहरण का प्रयत्न किया, तब स्वभावशः उन्हें प्रबल परचक्र का भय उपस्थित हुआ है।

. कालिदास—बात भी ऐसी ही है, क्योंकि कोई साधारण पुरुष तो ऐसा प्रयत्न कर सकता नहीं, जिससे भय दिखता ही है।

चंद्रगुप्त—तब फिर उन्हीं के पत्रानुसार मामला चलने दिया जाय। आने को वह कहते ही हैं। देव की सेवा में विनती उपस्थित करेंगे ही।

कालिदास—आगे मामले का सँभालना इन्हीं के प्रयत्नों पर निर्भर है।

वीरसेन—देखा जायगा ; आशा कुछ बँधती भी है।

इधर सम्राट् महोदय की शारीरिक दशा कई मासों से गिरती आ रही थी। राजवैद्य तथा इतर भिषजों ने प्रयत्न में कोई त्रुटि न की, किंतु साफल्य देख न पड़ा। कुछ ही दिनों में शक्तिपूर के युवराज महोदय अपनी भगिनी के साथ अयोध्या में उपस्थित हो गए। साम्राज्य की इस राजधानी को देखकर ध्रुवदेवी को समझ पड़ा कि उनके पिता की राजधानी से यह पचासगुनी श्रेष्ठतर है। वहाँ के जिन लोगों ने इसे पहलेपहल देखा, उनकी आँखों में चकाचौंधी-सी लग गई। चंद्रगुप्त और कालिदास इंद्रदत्तजी से मिलकर अत्यंत प्रसन्न हुए। प्रकट कारणों से ध्रुवदेवी की भेंट इन लोगों से न कराई गई। विवाह-संबंधी बात सम्राट् की सेवा में जब उपस्थित की गई, तब उन्होंने उपर्युक्त कारणों से सहसा युवराज का ही प्रस्ताव कर दिया। क्षिप्राबाई के संबंध में जो संदिग्ध बातें उनके कानों तक पहुँची थीं, उनके विषय में युवराज के मित्रों से जब सम्राट् ने पृच्छा की थी, तब उन्होंने भी किसी अच्छे विवाह के हो जाने से संदेह शांति की संभवनीयता बतलाई थी। इन कारणों से भी परम भट्टारक का पहला विचार युवराज ही की ओर ध्रुवदेवी से विवाह में गया। सांधिविग्रहिक वीरसेनजी से उन्होंने मन्त्रणा भी की, और इन्होंने महाराजा शक्तिसेन की इच्छा तथा चंद्रगुप्त का ध्रुवदेवी के सहपाठी होने से इन्हीं से प्रेम-संबंध शीघ्रता-पूर्वक जुड़ने की संभावना पर इंगित किया, किंतु सम्राट् की शारीरिक अस्वस्थता के कारण अधिक ज़ोर न दे सके। महाराजाधिराज का विचार हुआ कि उच्च कुलों में प्रेम विवाहों के अनुसार ही चलता है। फल यह हुआ कि युवराज के ही साथ विवाह की आज्ञा दे दी गई।

जब यह सूचना इंद्रदत्त के पास पहुँची, तब उन पर और

विशेषतया ध्रुवस्वामिनी पर वज्रपात-सा हुआ। फिर भी राजनीतिक अवस्था के कारण युवराज इंद्रदत्त सीधी-सीधी नाहीं न कर सके। जब क्षिप्राबाई का हाल ज्ञात हुआ, तब उन्हें तथा उनके पिता वैद्यराज को शारीरिक अस्वस्थता के बहाने बुलाकर उन्होंने बात की। क्षिप्राबाई के प्रयत्नों से स्वभावशः इन्हें विशेष आशा बँधी, क्योंकि वह भी परिस्थिति के कारण इस विवाह से प्रतिकूल होने को थी हीं। वैद्यराज से इंद्रदत्तजी ने जब एकांत में बात की, तब उनकी तत्परता से इन्हें विश्वास जमने लगा। दोनो में देर तक बातें होती रहीं। उधर क्षिप्राबाई ने इसी भाँति एकांत में ध्रुवदेवी से कथनोपकथन किए। विविध कारणों तथा परिस्थितियों के अनुसार स्वाभाविक सहज शत्रुओं में भी किन्हीं बातों में मित्रता उत्पन्न हो उठती है। युवराज महोदय तथा ध्रुवदेवी ने इन दोनो को वैद्यक के संबंध में धन भी देना चाहा, किंतु इन्होंने कहा कि यह काम वह केवल शुद्ध भक्ति से करना चाहते थे। साफल्य की आशा भी कम थी, क्योंकि सम्राट् की आज्ञा अटल समझ पड़ती थी। राजकुमारी अब उनकी स्वामिनी होने को थीं, सो अपने सेवा-धर्म में वह धन का व्यवहार नहीं जोड़ना चाहते थे। इंद्रदत्तजी इनके शुद्ध कथनों से प्रसन्न हुए, और इन चारो में थोड़े ही समय में मित्र-भाव-सा स्थापित हो गया। पिता की आज्ञा को एक प्रकार से योग्य भी समझकर राजकुमार चंद्र ने इसके कोई द्रोह न प्रकट किया, और यथासमय शुभ अवसर पर यह वैवाहिक संबंध उचित धूमधाम के साथ संपादित हो गया। युवराज रामगुप्त की प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा। जिस बात के लिये वह तन-मन-धन से भाँति-भाँति के प्रयत्न करने को सन्नद्ध थे, वह विना प्रयास आप-से-आप प्राप्त हो गई।

विवाहोपरांत जब सुहाग-रात्रि का अवसर आया, तब एक

बड़ी ही आकस्मिक घटना हो पड़ी, अर्थात् ध्रुवदेवीजी राजप्रासाद में ठोकर खाकर गिर पड़ीं, जिससे उनकी पसली टूट गई। तुरंत चिप्राबाई बुलवाई गईं, जिन्होंने अपने पिता की सम्मति के अनुसार उसे पट्टियों से बाँधकर दवा का प्रयोग किया, किंतु पीड़ा पूर्णतया शांत न हुई। युवराज रामगुप्त को यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि सुहाग-रात अज्ञेय समय के लिये टल गई। इन्होंने स्वयं अपनी महारानी के दर्शन किए, तो उसे विकल पाया। यह चोट का झमेला दो-तीन मास पर्यंत चला, और ध्रुवदेवी के मुख पर कुछ पीतता एवं कृशता का आभास आने लग गया। एक दिन चिप्राबाई ने युवराज से निवेदन किया कि रानी महोदया को थोड़ा-सा ज्वर रहने लगा है, तथा यक्ष्मा का संदेह वैद्यराज को होता है। यह सुनकर उनके चित्त में बड़ा ही धक्का लगा। साम्राज्य के प्रधान राजवैद्य तथा इतर महाभिषजों की भी सहायता ली गई, किंतु सबों ने यक्ष्मा के न्यूनाधिक भय पर ही सम्मति दी। क्षिप्राबाई के पिता ने युवराज महोदय से दृढ़ता-पूर्वक बतलाया कि इस दशा में सहवास का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ऐसे रोगियों से अति निकट से वार्तालाप भी भयप्रद रहता है, विशेष संसर्ग तो संकटकारी है ही। युवराज महोदय ने अपने पूर्ण विश्वासवाले अन्य भिषजों से मंत्रणा की, तो उनकी भी यही सम्मति हुई। बेचारे सिर धुनकर रह गए। जो फल उन्हें विना प्रयास प्राप्त हो गया था, वह अकस्मात् हाथ से जाता हुआ दिखने लगा। अनंतर शक्तिपुर के युवराज इंद्रदत्त को बुलवाकर उन्होंने यों बात की—

रामगुप्त—क्या कहूँ, भाईजी! मेरे यहाँ आते ही आप की बहन को बड़ा ही कष्ट मिला। मेरा मुँह आप के सामने नहीं होता।

इंद्रदत्त—आपका क्या दोष है, भाई! मेरा ही भाग्य फूट गया

कि इतने बड़े युवराज को संबंधी पाकर भी विफल-मनोरथ-सा हो रहा हूँ।

रामगुप्त—ऐसा क्यों कहते हो? आप लोगों का क्या दोष है? मेरा ही भाग्य मंद था। भला-शक्तिपुर में भी कभी ऐसा कष्ट हुआ था?

इंद्रदत्त—और सब प्रकार से सशक्त होकर भी वह कभी-कभी चलने-भर में लड़खड़ा जाती थीं। एक बार इसी पसली में और कष्ट हुआ था, किंतु क्षयी आदि का मामला नितांत नवीन है, वरन् सारे कुटुंब में ऐसा कभी नहीं हुआ।

रामगुप्त—वैद्य लोग साल-दो साल के पीछे आरोग्य की आशा अवश्य दिलाते हैं, किंतु वह मृगतृष्णा-मात्र समझ पड़ती है।

इंद्रदत्त—यदि हमारे कुटुंब का भाग्य कुछ भी बल दिखलाएगा, तो उनका प्रयत्न सफल होगा।

रामगुप्त—ईश्वर ऐसा ही करें।

(ङ) ध्रुव स्वामिनी और चंद्रगुप्त

दो-तीन महीनों के पीछे एक दिन चंद्रगुप्त ने इंद्रदत्तजी के साथ ध्रुवस्वामिनी के दर्शन करने की इच्छा प्रकट कराई। तुरंत राज प्रासाद में इनकी अवाई का प्रबंध हो गया, और दो-तीन सखियों के साथ महादेवीजी इनसे भाई इंद्रदत्त के साथ मिलीं। इस प्रकार वार्तालाप होने लगा।

ध्रुवस्वामिनी—बड़ी कृपा हुई, देवर राजा! जो आपने मेरा स्मरण किया।

चंद्रगुप्त—स्मरण तो आपका नित्यप्रति होता है। बड़ा दुःख है कि अयोध्या में पधारते ही आपको एक राजरोग का कष्ट झेलना पड़ रहा है।

ध्रुवस्वामिनी—क्या कहा जाय! मेरा भाग्य ही मंद है। ऐसे समुज्ज्वल कुटुंब में आते-ही-आते स्वास्थ्य धोखा दे रहा है।

चंद्रगुप्त—महादेवीजी! आप केवल चिप्राबाई तथा बालेंदु-शेखरजी पर क्यों पूरा भरोसा किए हुए हैं? उनकी योग्यता पर मैं तिल-मात्र संदेह प्रकट नहीं करता, किंतु यदि एक वैद्य से पूरा क्या, कुछ भी लाभ प्राप्त न हो, तो इतर महाभिषज भी कई या कम-से-कम दो-तीन स्वयं अयोध्या में ही प्रस्तुत हैं।

ध्रुवस्वामिनी—इसमें क्या संदेह है, किंतु यक्ष्मा का रोग ही ऐसा है, जिसकी कोई औषध नहीं; वायु-सेवन, स्वस्थ जीवन-निर्वाह, औषध-सेवन, पथ्य-भोजन, उचित व्यायामादि के द्वारा किसी प्रकार जीवन-यात्रा चल रही है। कई इतर वैद्यों से भी सम्मति लेकर पांडेयजी औषधोपचार कर रहे हैं। किसी प्रकार संदेह को चित्त में स्थान नहीं मिल रहा है।

चंद्रगुप्त—आपसे क्या बिनती करूँ, भाभीजी! कई लोग चिप्राबाई के विषय में न-जाने क्या-क्या कहते हैं? ऐसी स्त्री तथा उसी के पिता पर पूर्ण विश्वास महादेवीजी के जीवन के संबध में क्या योग्य है?

इंद्रदत्त—इसका पूरा हाल मुझे तथा महादेवीजी को भी ज्ञात है। फिर भी बालेंदुशेखर पर से हम दोनो का विश्वास नहीं हटता। बड़ा सज्जन वैद्य दिखता है।

चंद्रगुप्त—(हँसकर) उनकी सज्जनता पर मुझे कोई दंश नहीं देना है। फिर भी विविध दशाओं में लोगों की भावनाएँ बदल जाती हैं।

ध्रुवस्वामिनी—(हँसकर) देवर राजा! विचार-माला आपकी अनुचित नहीं; फिर मुझे चिप्राबाई से कोई ईर्ष्या नहीं होती, न उन दोनो की मुझ पर श्रद्धा अणु-मात्र संदिग्ध है।

चंद्रगुप्त—भाभीजी ! आप कभी दादाजी के दर्शन क्यों नहीं करतीं ?

ध्रुवस्वामिनी—क्या मुझे उनके दर्शनों की पूरी इच्छा नहीं ? फिर भी उनका जीवन बहुमूल्य है, और मेरे श्वासादि तक के संसर्ग में भय हो सकता है। ऐसी दशा में मैं तो गई-बीती हूँ ही, उनका पुनीत जीवन क्यों खटके में डालूँ ? आप तो सब कुछ समझते हैं, राजा ! क्या आप को भी कुछ बतलाना है ? इन्हीं कारणों से मैं ने कभी आपका भी स्मरण न किया, तथा आज भी आपका आसन अपने से कुछ दूरी पर रक्खा है। मेरा तो भाग्य फूटा हुआ है ही, बेचारे स्वजनों के पुनीत जीवन संदिग्ध क्यों बनाऊँ ?

चंद्रगुप्त—अभी थोड़ी ही अवस्था की होकर आपने औचित्य का ज्ञान बहुत अच्छा उपार्जित कर लिया है। बड़ा दुःख है कि ईश्वर ने ऐसा पुनीत जीवन कष्ट में डाल दिया। ईश्वरेच्छा पर किसी का वश नहीं चलता।

ध्रुवस्वामिनी—कोई बात नहीं है, देवर राजा ! मैं तो ईश्वर से यही प्रार्थना किया करती हूँ कि मेरे स्वजनों को सदैव स्वस्थ और प्रसन्न रक्खें।

चंद्रगुप्त—भला, भाई इंद्रदत्त को अपने पास प्रायः क्यों बुलाया जाता है ? इन्हें भी तो भय हो सकता है।

इंद्रदत्त—यह तो मुझे भी मना किया करती हैं, किंतु पूज्य पिताजी की आज्ञा हो चुकी है कि मुझे इस बात पर ध्यान न देना चाहिए।

चंद्रगुप्त—संदिग्ध विषय तो है ही।

इंद्रदत्त—है अवश्य, किंतु एक तो पिताजी की आज्ञा है, दूसरे यह मेरे साथ सदैव रही आई हैं, सो मेरा मन भी नहीं मानता। वैद्यों से सलाह करके भय की मात्रा दूर रखता हूँ। मुझे कोई डर नहीं है।

चंद्रगुप्त—महाराजाजी की आज्ञा कुछ अनोखी-सी है।

इंद्रदत्त—बात यह है कि उन्होंने ज्योतिष से जान लिया है कि भगिनीजी के द्वारा मुझे कभी कोई भय नहीं है। अतएव इस आज्ञा में उनका कोई अनौचित्य नहीं रहा।

चंद्रगुप्त—यदि यही था, तो मेरे संबंध में भी उनसे ऐसा ही प्रश्न पूछ लिया होता।

ध्रुवस्वामिनी—राजाजी! आप को अपने कारण मैं संदिग्ध दशा में डालना नहीं चाहती। क्षमा कीजिएगा, आप वैद्य भी नहीं कि कोई दवा बतला सकें।

चंद्रगुप्त—मेरी समझ में आपके विषय में वैद्यों की भूल है; तेज जैसे-का-तैसा दिखता है, मुख पर भी यथापूर्व दीप्ति है। ईश्वर कल्याण करें।

ध्रुवस्वामिनी—बड़ी कृपा; यदि ईश्वर की अनुकंपा हुई, तो समय पर मैं भी अपने को जीवित संसार में मानने लगूँगी; अभी तो ऐसी विरक्ति है कि ईर्ष्या के बदले छिपावाई पर भी प्रेम-भाव चित्त में बना रहता है।

चंद्रगुप्त—धन्य हैं, भाभीजी! ईश्वर शीघ्र आपका कल्याण करें। अब मैं जाता हूँ, किंतु इतना कहे जाता हूँ कि कभी-कभी दर्शन अवश्य करता रहूँगा।

ध्रुवस्वामिनी—इसमें कोई विशेष हठ मुझे भी नहीं है, किंतु केवल यदा-कदा ऐसा कीजियेगा, और बात भी दूर से ही ठीक होगी।

चंद्रगुप्त—पराए उपकार पर इतना ध्यान रखना आप ही सरीखे महान् व्यक्तियों का काम है। बहुत निकट से वार्तालाप यों भी अनुचित है। कृपा बनाए रखिएगा।

इंद्रदत्त—कृपा तो हम दोनो आपकी सदैव से चाहते थे, और भविष्य में भी चाहेंगे।

चंद्रगुप्त—ऐसा कथन महादेवीजी के संबंध में बिलकुल शोभा नहीं देता, न आप ही के लिये।

ध्रुवस्वामिनी—शोभा दे या न दे, किंतु है यथार्थ।

चंद्रगुप्त—कम-से-कम मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

इंद्रदत्त—भविष्य में समझ जाइएगा। सभी महान् प्रश्न समय पर ही दृढ़ता पकड़ते हैं, इससे पूर्व नहीं।

चंद्रगुप्त—यह तो कोई महान् प्रश्न है नहीं।

इंद्रदत्त—आपके लिये न सही, मेरे लिये तो है।

चंद्रगुप्त—योंही सही, इसमें रक्खा ही क्या है?

अष्टम परिच्छेद

वंग-विकार

वंग में सम्राट् समुद्रगुप्त के राज्यारंभ-काल में डवाक और समतट के दो मुख्य राज्य थे। डवाक में वर्तमान 'ढाका था, और समतट ब्रह्मपुत्र और गंगा के निकटवाले निम्न बंगाल को कहते थे। सम्राट् ने विजयारंभ में ही इन दोनो को जीतकर सारा बंगाल अपने राज्य में मिला लिया था। जब (३७८ ई० में) उनका शरीरांत होने पर रामगुप्त सम्राट् हुए, तब उनके प्राचीन अनुचित व्यवहार के कारण इस देश के उच्च श्रेणीवालों को कुछ भय उत्पन्न हुआ। ऐसे ही भाव प्रजा में उद्विग्नता के कारण होते आए हैं, और यहाँ भी हुए। इन दोनो राज्यों के उत्तराधिकारी असंतोष के चिन्ह प्रजा में देखकर स्वकार्य साधनार्थ उद्योग करने में निरत होने की विचारने लगे। प्रजा में गुप्त गोष्ठियाँ होने लगीं, और स्थान-स्थान पर दूतों, दंडपाशिकों आदि से मुठभेड़ का भी आरंभ हुआ। दंडपाशाधिकरण वंग में बहुत अनुभवी नियत हुआ, जिसने गुप्त सभाओं के पता लगाने में भी चैतन्यता बढ़ाई। प्रजा में छिपा छिपाकर ऐसे विचार बढ़ाए जाने लगे कि वंगीय जनता बुद्धि-वैभव में शेष भारतीयों से उच्चतर है, और उसे किसी अन्य प्रांतीय शक्ति के शासनाधीन न रहना चाहिए। प्रांतीयतावाले विचार बढ़ाने के प्रयत्न होने लगे, और वही देश-प्रेम का स्थान ले ले, ऐसा उपद्रवियों का ध्येय दिखने लगा। यद्यपि

गुप्त-शासन बहुत न्याय-संपन्न तथा सारी भारतीय प्रजा को प्रिय होने की पूर्ण पात्रता रखता था, तथापि उसके स्थानीय शासन में भाँति-भाँति के मिथ्या दोषारोपण किए जाने लगे, जो गुप्त होने के कारण द्वितीय पक्ष-संबंधी समुचित ज्ञान के अभाव में मूर्ख जनता को योग्य दिखने लगे। उसे यह समझाया जाने लगा कि गुप्त सम्राटों ने केवल धन-लिप्सा से उस पर अपना अधिकार-हीन बाह्य शासन-भार डाला है। सारे भारत के एकच्छत्राधीन होने से देश में कैसी बल-वृद्धि होती है, इसका सुझानेवाला कोई न था। सारे भारत की हिंदू संस्कृति एक और महती है, यह विचार आँख से ओझल करने के भरसक प्रयत्न किए गए। आर्य-मंडली के पुनीत ऐक्य से देश में कैसी ज्ञान, शक्ति और श्रीवृद्धि-पूर्ण जाज्वल्यमान महत्ता की दीप्ति प्रकाशित होने को थी, इस बात की महिमा तत्कालीन मूर्ख वंग-जनता को किसी ने भी न बतलाई। भारत-माता का पूज्य रूप हटाया जाकर "हमारी वंग-माता" का भाव जाग्रत् किया गया।

दोनो राज्य-हीन घरानों ने आपस में मेल उत्पन्न करके प्रचुर धन-व्यय द्वारा गुप्तों से सर्वत्र असंतोष तथा अपने साथ प्रेम उत्पन्न कराया। यथासंभव प्रत्येक ग्राम या नगर में उन्होंने अपने गुप्तचर विविध छद्म रूपों में नियोजित किए। देखने को तो वे दूकानदारी, खेती, कारीगरी, व्यापार आदि के कार्य करते या कराते थे, तथापि वे उनके वास्तविक धंधे न थे, वरन् धनव्यय करते हुए वे लोग प्रजा-प्रिय होने लगे। ऐसे समय की बाट देखा करते थे, जब उनके स्वामी विप्लव का अवसर पाकर प्रत्यक्ष विद्रोह में संलग्न हो सकें। ऐसी दशा में वे अपने-अपने कल्पित रूपों को छोड़कर गुप्त सैनिक पदानुसार युद्ध-कार्य

में प्रवृत्त होकर खुले-खुले रणचंडी का सेवन-करने लगते। साम्राज्य के अधिकारियों को इन गुप्त गोष्ठियों तथा लोगों के अस्तित्व का पूरा पता न लगता था। वे थोड़ा-सा ही असंतोष जनता में देख पाए थे। एक तो वंग का पूरा विवरण विद्रोहियों को पहले ही से भलीभाँति ज्ञात था, दूसरे इन गुप्त कार्यवाहियों से वे और भी पटु हो गए। फिर भी साम्राज्य की महती शक्ति का सामना करना वे ठीक ही अपने लिये एक अशक्य कार्य मानते थे।

इन्हीं दिनों एक स्वामीजी कहीं बाहर से आकर वंग देश में यत्र-तत्र विचरण करने लगते हैं। वह किसी ग्रामादि में जम-कर नहीं रहते, वरन् दस-दस, पंद्रह-पंद्रह दिनों पर स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं। उनके साथ दस-पंद्रह चेला-चापड़ या अनुयायी हैं, जिन्हें उन पर महान् भक्ति है। बाबाजी से लोग धार्मिक विषयों पर वार्तालाप किया करते और उनके नवीन सिद्धांतों पर आश्चर्य भी प्रकट करने लगते हैं। स्वामीजी ईश्वर पर तो पूर्ण विश्वास रखते, किंतु पूजन पृथ्वीदेवी का करते हैं। उनका कथन है कि यह कोई नवीन धर्म नहीं, वरन् आर्य-धर्म का ही अंग है। अपनी-अपनी रुचि और श्रद्धा के अनुसार पूजक लोग इस महामत में विविध विधान समझ लेते हैं, और स्वयं गीता का मत है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (जो जिस भावना से मेरा पूजन करते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार से प्राप्त रहता हूँ।) बाबाजी कभी किसी से कोई प्रार्थना नहीं करते, न उनके अनुयायी ऐसा करते हैं। वे स्वावलंबी से दिखते हैं। यदि भक्ति-भाव के कारण कोई अयाचित भोजनादि देकर उनका पूजन करना चाहता है, तो वह उसका निरादर भी नहीं करते, किंतु धनाकांक्षी दूर से भी नहीं दिखते। लोगों के पूछने पर उनका कहना रहता है—"पृथ्वीदेवी मेरे भोजनाच्छादन-भर की

चिंता स्वयं रखती हैं।" इनके अनुयायी आवश्यकता के अनुसार यत्र-तत्र पृथ्वी खोदकर अधिक धन तो पाते नहीं, किंतु काम चलाने-भर को मिल जाता है। जहाँ बाबाजी बतलावें, वहीं खोदने से ऐसा होता है, और ऐसे अवसरों पर भी एकाध बार असाफल्य हो जाता है। यत्र-तत्र फिरने का कारण वह यह बतलाते हैं कि पृथ्वी-माता के दास होने से उनका धर्म है कि वह देश के सारे भागों का दर्शन करें। कभी-कभी किसी को संकट में देखकर वह आर्थिक सहायता भी कर देते हैं। ऐसे अवसरों पर वह शिष्यों द्वारा उचित स्थानों पर भूमि खनन कराकर उन लोगों के लिये धन प्राप्त करते हैं। इन कारणों से स्वामीजी पर लोगों की श्रद्धा अति शीघ्र बढ़ रही है। वंग में इन दिनों राजनीतिक विचार भी तीव्रता से वर्द्धमान हो रहे हैं। एक स्थान पर दमघोष-नामक एक व्यक्ति ने बाबाजी से विशेष बात की।

दमघोष—स्वामीजी महाराज! जब आप पृथ्वी-पूजक हैं ही, तब राजनीति के संबंध में भी आपको उपदेश देना क्या योग्य नहीं?

स्वामीजी—है तो यह विषय भी एक प्रकार से मेरे धर्म का अंग, किंतु इसमें हाथ डालने से राजशक्ति से मेरा विरोध संभव है। इसलिये इतर विषयों पर ध्यान देना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि गृह-त्यागी के लिये राज्य-प्राप्ति का प्रयत्न अशोभन ही क्या, अनुचित भी है।

दमघोष—यह तो मानना पड़ेगा कि राज्य-शक्ति की प्राप्ति में प्रयत्न-शील होना स्वामियों को शोभा नहीं देता, तथापि जब यह विषय धर्म का अंग है, तब इस पर भी उपदेश है योग्य, और एक प्रकार से आवश्यक।

स्वामीजी—बात आपकी यथार्थ है, किंतु कोई विद्यार्थी भी पहले ही दिन से पूरे पाठ का अधिकारी नहीं हो जाता।

दमघोष—तो मैं चिरकाल-पर्यंत सेवा करने को सन्नद्ध कब नहीं हूँ? मैं भी ये चरण छोड़नेवाला व्यक्ति नहीं।

शिष्यों से बात करने से दमघोषजी का विचार हुआ कि स्थान-स्थान पर गुप्त सभाएँ स्थापित होनी इस कार्य का अच्छा प्रारंभ है। अतएव स्वामीजी की शिष्य-मंडली में आकर इन्होंने सभाओं के स्थापन में विशेष रुचि दिखलाई। बाबाजी की उदारता, लोभा भाव और मत की नवीनता के कारण इनका यश दूर-दूर फैलने लगा। रामगुप्त सम्राट् के प्रबंध-शैथिल्य से दंडपाशाधिकरण का भी कार्य कुछ ढीला हो गया, और वंग में क्रमशः गुप्त सभाओं की संख्या एवं स्वतंत्रता के प्रयत्नों में अच्छी वृद्धि हुई। धीरे-धीरे स्वामीजी का यश दोनो प्राचीन शासक घरानों के पास विशेष रूप से पहुँचा, और उनकी ओर से एक अन्य पदाधिकारी इनकी सेवा में उपस्थित हुआ। दमघोष से भी उसका स्वभावतः सुव्यवहार था। अब इन दोनो ने स्वामीजी से यों बातचीत एकांत में की।

दमघोष—गुरुजी! अब तो मैं कई मासों से भवदीय शिष्यता में प्रस्तुत हूँ। मेरे यह मित्र फल्गुदत्त महोदय भी समतट और डवाक के राजघरानों से आपकी सेवा में उपस्थित हैं। इनकी नियुक्ति के प्रमाण-पत्र भी प्रस्तुत हैं।

स्वामीजी—(प्रमाण-पत्र देखकर) हाँ, कहिए महाशय! क्या इच्छा है? आपने आज इस कुटी को गौरव प्रदान तो अवश्य किया है, किंतु जिस अधिकार और कार्य से आप पधारे हैं, वह एक गृह-त्यागी के लिये कुछ अनोखी-सी बातें हैं।

फल्गुदत्त—अब तो बाबाजी! आपको कृपा करनी चाहिए। आपका धर्म ही वसुंधरा-पूजन है। फिर हम लोगों के दोनो स्वामियों पर यदि कृपा न हो, तो वह पूजन पूरा कैसे हुआ?

दमघोष—गुरुजी महाराज! इतना आपने पहले ही मान लिया था कि विषय है आपके धर्म का अंग; केवल मेरी व्यक्तिगत कृपापात्रता का ही प्रश्न रह गया था।

स्वामीजी—कुपात्र तो मैंने आपको कभी नहीं कहा।

दमघोष—वह बात आपकी आज्ञा से व्यंजित अथच योग्य थी। अब अपने विचारामृत के पान कराने से हम दोनो सेवकों को पुनीत कीजिए।

स्वामीजी—मैंने तो देश-पूजन अपना धर्म बना ही रक्खा है, और वंग मेरी मातृभूमि नहीं तो धातृभूमि है ही। इसके उद्धार-कार्य की सफलता में मेरे प्रयत्नों से यदि कार्य-सिद्धि हो, तो मैं शरीर-त्याग तक के लिये प्रस्तुत हूँगा।

दमघोष और फल्गुदत्त—(दंडवत् करके) धन्य-धन्य महा-स्वामी!

स्वामीजी—(दोनो को उठाकर हृदय से लगाते हुए) यह आप क्या करते हैं? मैंने तो एक साधारण बात कही है।

फल्गुदत्त—यदि ऐसे-ही-ऐसे महात्मा हमारे यहाँ और होते, तो इस वंग देश को भी शिर उठाकर चलने का सौभाग्य होता।

स्वामीजी—विचारने की बात है कि हमारे वंग में जल, मत्स्य और धान्य की प्रधानता है। इन बातों से यहाँ संतान की उत्पत्ति तो प्रचुरता से होती है, किंतु बिना विशेष प्रयत्न के लोग दीर्घजीवी तथा सबल उतने नहीं होते, जितने भारतीय इतर मुख्य प्रांतों में।

दमघोष—फिर भी उत्पत्ति के प्राचुर्य से कुल मिलाकर अपनी जन-संख्या इतर प्रांतों से विशेष है।

फल्गुदत्त—युक्ति-पूर्वक रहने से अपनी जनता दीर्घजीवी और सबल भी हो सकती है।

स्वामीजी—सबसे बढ़कर बात यह है कि हमारी जनता मानस-बल में मोम है, जिससे नवीन विचार शीघ्रता-पूर्वक चल सकते हैं।

फल्गुदत्त—धन्य है आपको, स्वामीजी! आपने इस महादेश पर विचार किए ख़ूब हैं।

दमघोष—जैसे-जैसे हमलोग भवदीय वचनामृत का पान करते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे अधिकाधिक सुनने की तृष्णा बढ़ती है।

फल्गुदत्त—कृपया अब यह आज्ञा हो कि कार्यारंभ किस प्रकार किया जाय?

स्वामीजी—यह तो एक प्रकार से हो ही चुका है। साम्राज्य के प्रतिकूल जनता में विद्वेष-प्रचार किया जा रहा है, जो अंशतः सफल भी हो चुका है। गुप्त गोष्ठियों द्वारा नवीन विचार देश-भर में उत्पन्न हो रहे हैं।

फल्गुदत्त—गुरुदेव! गुप्त-साम्राज्य ऐसा सबल है कि उसका सामना करने का साहस हम लोगों तक को नहीं होता। देखिए न, डवाक और समतट दोनो राज्य समुद्रगुप्त के एक ही झपेटे-भर को हुए। यह मेऊँ का ठौर कौन पकड़ेगा?

स्वामीजी—छोटे मुँह बड़ी बात कहनी न चाहिए, किंतु आपके प्रश्न का उत्तर है प्रकट ही।

फल्गुदत्त—इसकी अवश्य आज्ञा हो।

दमघोष—इसके जानने को हम दोनो तथा हमारे स्वामी भी अत्यंत उत्सुक हैं।

स्वामीजी—तो सुनिए; युद्ध करने के पूर्व बलाबल सोचना आवश्यक होता है। जब उनकी शक्ति महती थी, तब क्या आवश्यकता थी कि उसी समय एक ही स्थान पर लड़कर अपना सारा बल एक ही दो युद्धों में नष्ट कर दिया जाता?

फल्गुदत्त—तब होता क्या? गुरुदेव!

स्वामीजी—उचित यह था कि राजधानियाँ थोड़ा ही युद्ध करके छोड़ दी जातीं। सारी संपत्ति पहले ही से वनादि में छिपा दी जाती। सेना दुर्गम स्थानों पर कई टुकड़ियों में रख दी जाती। अपना देश जल और वन-प्रधान है। छिपने के असंख्य

स्थान हैं। सामने युद्ध ही न होता। शत्रु को खाद्य पदार्थ तथा अन्य आवश्यक सामग्री मिलने में बाधाएँ दी जातीं, और यथासाध्य वे लूटी जातीं। रिपु की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ काट डाली जातीं। जो लोग उन्हें सहायता देते, वे संपत्ति-सहित नष्ट कर दिए जाते। मार्ग बिगाड़े जाते, जिससे शत्रु-सेन को न तो जाने-आने का सुबीता मिलता, न देश में अधिकार बैठने पाता। जोतनेवालों से आधा-चौथाई भूमि-कर लेकर पूरा पाने का प्रमाण-पत्र दे दिया जाता। यदि शत्रु कर न लेता, तो देश से कोई लाभ न पाकर उसे छोड़ बैठता। यदि दूसरा भूमिकर बल से लेता, तो प्रजा में अप्रिय होता। अपनी युक्तियों के कारण उसे यहाँ सेना अधिक रखनी पड़ती और प्रबंध न बैठने से समुचित लाभ न होता। मार्गों की कमी से वह अपनी सेना का पीछा पूर्ण साफल्य से न कर सकता। रिपु को इतना दीर्घ समय इस छोटे-से प्रांत पर लगाने का संभवतः अवकाश ही न मिलता, और अपने राज्य बच जाते। यदि ऐसा न भी होता, तो झगड़ा दीर्घकालीन रहता, और अपनी शक्ति शीघ्र क्षीण न हो जाती। ये ही युक्तियाँ अब भी काम में लाई जा सकती हैं। जल तथा वन-प्रधान स्थानों में अपना बल गुप्तरीत्या बढ़ाया जाय। शत्रु के अधिकारियों पर अचानक आक्रमण हों, और जब तक वह सेना एकत्र करे, तब तक अपने लोग चंपत हो जायँ।

फलगुदत्त—धन के विषय में क्या युक्ति हो?

स्वामीजी—यथासाध्य राजभक्त प्रजा प्रसन्न रक्खी जाय, तथा जो शत्रु से मेल करे, उस पर लूट-पाट का प्रयोग हो। जिसने विवश होकर रिपु की अधीनता स्वीकार की हो, उस पर कोप न किया जाय। यथासाध्य अपना व्यय कम रक्खा जाय। प्राचीन संपत्ति तथा वर्तमान आय मिलकर चार-छः वर्षों तक युद्ध चलाने

के लिये पर्याप्त हो जाते, ऐसी आशा थी। जनता को स्वतंत्रता के झूठे-सच्चे लाभ दिखलाकर उसे अपने पक्ष में सहायक बनाया जाय। मित्र शक्तियों से भी धन-जन की सहायता ली जाय। जहाँ तक हो सके, शत्रु को कष्ट पहुँचाया जाय। उसके हयगजादि छीने जायँ, पुल तोड़े जायँ, विष-मिश्रित सामग्री उसके लोगों के हाथ खाने को बिकवाई जाय, राजभक्त-प्रजा को समझाया जाय कि प्राचीन शासक उसके सच्चे मित्र थे, तथा नवीन शत्रु हैं, जो देश को लूटते हैं। आज्ञा न माननेवाली प्रजा के खेतों की उपज तक लूटी या जलाई जाय।

दमघोष—गुरुदेव! आपने युद्धों की यह नवीन प्रणाली ऐसी सुंदर बतलाई है कि अपना भविष्य आशाप्रद-सा दिखता है।

फल्गुदत्त—इसमें क्या संदेह है? भला, आपके द्वारा भी इन विषयों में कोई सहायता मिल सकेगी?

स्वामीजी—मैं तो यथासाध्य राजकीय झगड़ों से दूर रहना चाहता हूँ, किंतु यदि आपके स्वामियों को मेरी सहायता अनिवार्य जँचे, तो प्राण-संकट का खटका बचाने को युद्ध से पृथक् रहनेवालों में आप मुझे न पाएँगे। मातृभूमि की रक्षा का भार जैसा आप लोगों पर है, वैसा ही है तो अंततोगत्वा मुझ पर भी।

फल्गुदत्त—धन्य स्वामीजी धन्य! मैं समझता हूँ कि आपको हम वंग देश के लिये दूसरा चाणक्य पावेंगे। हम लोगों को आज आपने कृतार्थ कर दिया। इससे अधिक सम्मतियाँ लेने की पात्रता और अधिकार मुझ तक में नहीं है। आशा है, अब हम दोनो के स्वामी भवदीय सेवा में उपस्थित होकर कार्य-रूप से वंगीय स्वतंत्रता का भार उठाने के संबंध में परामर्श करेंगे।

इस प्रकार सम्मति तथा आशीर्वाद पाकर फल्गुदत्त और दमघोष छिपते-छिपाते वहाँ से अपने स्वामियों के पास प्रस्थित हुए। उनके

दो अनुचर उनसे कुछ दूर इस प्रकार से चल रहे थे कि उन्हें दृष्टि-पथ में रखते थे, किंतु समझ पृथक्-से पड़ते थे। फल्गुदत्त और दमघोष अपने कार्य की सफलता के संबंध में प्रसन्नता-पूर्वक बातें करते चले जा रहे थे। संदेह मिटाने को जाते तो ये लोग पदाति रूप में थे, किंतु परम प्रसन्नता से मार्ग में बातें कुछ ऐसी कर गए, जो विप्लव का भेद प्रकट करती थीं। दैव-वश इस बात की भनक एक दौस्साध्य साधनिक के कान में पड़ गई, और उसने इन दोनो को बंदी करके महादूत के सामने उपस्थित किया, जिसने इनसे पूछ-गछ की, तो इन्होंने किसी विप्लव के विचार से अनभिज्ञता प्रकट की, और कहा कि यह ग्वालियर-प्रांत में किसी विद्रोह का उड़ता हुआ हाल शक्तिपूर के संबंध में सुन चुके थे, जिसके विषय में बात हो रही थी।

महादूत—यदि यही बात थी, तो आप लोग वंगीय स्वतंत्रता की बात क्या कर रहे थे? क्या शक्तिपूर की-सी कार्यवाही यहाँ भी चलाना चाहते थे? क्या स्वयं आप कह सकते हैं कि ये कथन संदिग्ध न थे?

फल्गुदत्त—दीनबंधो! हम लोग साम्राज्य की साधारण प्रजा हैं, और हमें अपने सम्राट् की न्याय-प्रियता पर गर्व है। भला, ऐसे भोले लोगों से राजविद्रोह का भय किसे होगा?

महादूत—भोलापन आप लोगों के मुखों से तो प्रकट होता नहीं, वरन् उलटे बुद्धिमत्ता कूट-कूटकर भरी है। बातें भी आप की चली-चली हैं। आपको दंडपाशाधिकरण से उत्तर-प्रत्युत्तर करने होंगे।

दमघोष—दीनबंधो! ऐसी आज्ञा न हो। कहाँ हम लोग और कहाँ राजद्रोह का-सा उद्दंड कार्य!

महादूत—ऐसे मामले केवल बातों से नहीं टलते।

इस प्रकार इनकी जाँच करके महादूत ने इन्हें कारागृह में भेज दिया, जहाँ ये लोग साधारण अभियुक्तों की भाँति युक्ति-पूर्वक रक्खे गए, जिससे न तो इन्हें अनुचित कष्ट हो, न भागने का अवकाश ही मिल जाय ।

नवम परिच्छेद

मल्लिकाबाई

जब से अपने मामाजी के स्थान पर सिंहसेनजी महाक्षत्रप हुए, तब से इन्होंने सैनिक विभाग की उन्नति पर और भी विशेष ध्यान दिया। नगर और जनपद का प्रबंध भी दृढ़ता-पूर्वक होता रहा, केवल निजू बातों में वह जो फूँक-फूँककर पैर रखते थे, उसमें कुछ स्वच्छंदता आ गई। मल्लिका को प्राप्त करने में इनकी लालसा पहले ही से बलवती थी। अपने मुख्य चाकर को इन्होंने अब अनेक अंग-रक्षकों में प्रधान पद दिया। प्रचलित प्रथानुसार सशस्त्र यवनीगण रक्षा के निमित्त इन्हें उचित समयों पर घेरे रहती थीं। प्रधान अंग-रक्षक से एकांत में वह एक दिन इस प्रकार बात करने लगे।

महाक्षत्र—क्योंजी चंद्रचूड़! मल्लिकाबाई का मामला अभी तक अपूर्ण पड़ा है।

चंद्रचूड़—दीनबंधो! अब तो विशेष आगा-पीछा की आवश्यकता है नहीं।

महाक्षत्रप—है क्यों नहीं? शासक को प्रजावर्ग के सम्मुख सदैव न्यायी प्रकट होना चाहिए।

चंद्रचूड़—है तो योग्य ही, किंतु यह दबाव की बात न होकर अपनी ही रुचि पर निर्भर है।

महाक्षत्रप—यथासाध्य इच्छा को न्यायानुसार ही चलना चाहिए; फिर भी है तुम्हारी बात न्यूनाधिक ठीक। दशाओं के फेर से कुछ अंतर आ ही गया है।

चंद्रचूड़—यदि आज्ञा हो, तो बाईजी के लिये विशेष प्रासाद

नियत कराकर उन्हें बुला ही लूँ। उनके पति से मामला यथासमय ठीक होता रहेगा।

महाक्षत्रप—अब यही मेरा भी विचार है। भला, बाईजी की भावना कैसी है?

चंद्रचूड़—उनकी इच्छाओं का पता लगाना मेरी शक्ति के बाहर है, देव! चाहतीं तो परम भट्टारक को हैं, किंतु पति पर भी प्रेम की कमी नहीं है।

महाक्षत्रप—अच्छा, बुलवा ही लो; आगे-पीछे देख लिया जायगा। मामला ऐसी गुप-चुप रीति से हो कि न तो आदि में कुछ महादेवीजी पर विदित हो, न बाईजी के स्वामी पर।

चंद्रचूड़—मैं कौन कच्ची गोली खेले हुए हूँ? ऐसी युक्ति-पूर्वक सब कुछ निबटेगा कि कोई कुछ जाने ही गा नहीं। हाँ, एक विनती अवश्य है।

महाक्षत्रप—वह क्या?

चंद्रचूड़—समय पर भेद महादेवी पर खुले ही गा, उस अवसर पर तथा पीछे भी उनके कोप से मेरी रक्षा आप ही पर है। ऐसी युक्ति हो कि उनका मुझ पर न केवल कोप न हो, वरन् कृपा भी आज ही-सी बनी रहे।

महाक्षत्रप—इसकी चिंता न करो; वह इन बातों पर विशेष ध्यान नहीं देतीं। केवल उनके अधिकारों में क्षति न होनी चाहिए।

चंद्रचूड़—सो क्यों होने लगी, देव! पुत्रवती भी तो हैं।

स्वामी से इस प्रकार परामर्श करके चंद्रचूड़जी मल्लिकाबाई से युक्ति-पूर्वक एकांत में मिले।

चंद्रचूड़—बाईजी! आज मैं आपको बधाई देने आया हूँ! आपके लिये एक उत्कृष्ट प्रासाद सुसज्जित हो चुका है, अब चलकर उसे सुशोभित कीजिए। परमात्मा सभी को ऐसा भाग्यवान् बनावे।

मल्लिकाबाई—भाग्य की तो सराहना आपने की, किंतु पति-प्रवंचना का पातक कैसा है ?

चंद्रचूड़—उन्हें प्रसन्न करने का भार मुझ पर है ।

मल्लिकाबाई—यदि न हुए, तो ?

चंद्रचूड़—कुछ तो दुःख होगा ही । महीने-पंद्रह दिनों तक आप बेपता रहेंगी; जब शोक कुछ मंद पड़ेगा, तब उन्हें मना लिया जायगा ।

मल्लिकाबाई—युक्ति तो अच्छी समझ पड़ती है । अच्छा, चलना कैसे होगा ?

चंद्रचूड़—देव-दर्शन के बहाने परसों के मेले में जाइए । वहीं से युक्ति पूर्वक रथ-परिवर्तन हो जायगा ।

मल्लिकाबाई—अच्छी बात है । फिर भी मेरा हृदय थरथराता है ।

चंद्रचूड़—इतना आगा-पीछा क्यों ? मिलना तो देव से दो-चार बार हो चुका है ।

मल्लिकाबाई—कहाँ एकाध बार की भूल, और कहाँ गृह-परित्याग ! कितना बीच है ?

चंद्रचूड़—अब दृढ़ता की आवश्यकता है ।

मल्लिकाबाई—फिर भी महाघन्नपजी से निवेदन कर दीजिएगा कि यदि कभी मेरे मान में कमी आई, तो मुझसे बुरा कोई नहीं ।

चंद्रचूड़—यह बात आपने पहले भी कही थी, और मैं उनसे निवेदन कर ही चुका हूँ ।

मल्लिकाबाई—पीछे धोखा न हो ; भली भाँति समझ लीजिए । फिर मुझे दोष न देना ।

चंद्रचूड़—आप तो बाईजी ! ऐसा भय दिखलाती हैं कि विवाहिता स्त्री भी न दिखलावेगी ।

मल्लिकाबाई—यही तो बात है। विवाहिता पत्नी आत्मसमर्पण करती है, और मैं भी कर रही हूँ; तथा उससे बढ़कर धर्म भी छोड़ रही हूँ। एक बार घर के बाहर पैर दिया कि उनके पीठ फेरने से मेरे लिये इहलोक-परलोक कहीं भी स्थान नहीं रहेगा। सिवा गणिका बनने के अन्य उपाय न होगा, और मैं इस नीच गति के लिये तीन काल में भी प्रस्तुत नहीं हूँ।

चंद्रचूड़—ऐसी दशा शत्रुओं की हो, बाईजी!

मल्लिकाबाई—सो तो यथार्थ है, किंतु अभी कुछ हुआ नहीं है। उनसे बात करके सारा मामला निश्चित कर लेना। अपमान मुझसे कभी सहा न जायगा।

चंद्रचूड़—अच्छा, मैं एक बार फिर भी समझ-बूझ लूँगा। अब आज्ञा हो।

बाईजी से यों कुछ अनोखी बातें करके प्रधान अंगरक्षक महोदय ने सारी वार्ता महाक्षत्रप से निवेदन कर दी। उनका चित्त बाईजी के प्रेम में ऐसा उलझा हुआ था कि एक पत्र लिखकर उन्होंने उसे आश्वस्त कर दिया। यह भी सोच लिया कि एक बार वश में आकर कर ही क्या लेगी? अनंतर पूर्व-निश्चयानुसार बाईजी मेले से अंतर्धान होकर अपने प्रासाद में आ विराजीं। महाक्षत्रप से मिल-कर, प्रासाद की शोभा देखकर तथा भृत्यादि के बाहुल्य से वह बहुत प्रसन्न हुईं। उधर उनके पति देवता स्त्री को खोकर अत्यंत दुःखी हुए। पवित्र सेठ कुल में उत्पन्न होकर अपनी गृहिणी पर वह संदेह न करते थे, न कभी इसके लिये उनकी जानकारी में कोई कारण ही उपस्थित हुआ था। उनको यही भासित हुआ कि उनकी सच्चरित्रा गृह-लक्ष्मी किसी दुष्ट के फेर में पड़ गई, तथा स्वतंत्रता न रहने से उन तक संदेश भी नहीं भेज पाती। दस-पंद्रह दिनों तक रोते-कलपते हुए धीरे-धीरे उन्हें कुछ संतोष ही करना पड़ा। समझे

हरि-इच्छा। अनंतर समय देखकर एक दिन चंद्रचूड़जी उनसे मिल-कर बोले—

चंद्रचूड़—सेठजी! आपकी पत्नी का हाल सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ। क्या कहूँ, साध्वी स्त्रियों तक का कोई ठिकाना नहीं।

सेठ श्रीचंद—ऐसी अनुचित बात कृपया मेरी धर्मपत्नी के विषय में न कहिए। वह बेचारी तो कभी मुँह खोलकर किसी से बोलती तक न थी। घर के बाहर पैर भी न रखती थी। न-जाने किन दुष्ट कुचक्रियों के फंदे में पड़कर विवश हो गई।

चंद्रचूड़—महाशयजी! आपके भोलेपन पर मुझे कुछ आश्चर्य होता है। हो डकैती भी सकती है, किंतु ऐसे अवसरों पर प्रायः देखा गया है कि मामले कुछ पहले से ही चल चुकते हैं, और जो बात प्रकट में दिखती है, उससे कुछ विशेष बातें गुप्त रहती हैं।

सेठ श्रीचंद—हो सकता है, भाईजी! आप तो राजकार्य करते हैं। भला, कहीं देख-भाल तथा पूछ-गाछ करके मेरे दुःख-निवारण का कोई प्रबंध कर सकते हैं?

चंद्रचूड़—मेरे लिये जितना कुछ शक्य होगा, उसके करने में मैं कसर न लगाऊँगा। अच्छा, अब आज्ञा हो; दो-चार दिनों में यदि कोई पता लग सका, तो फिर मिलूँगा। (दस दीनार दिखलाकर) यदि व्यय-संकोच का कष्ट हो, तो लीजिए, तब तक इससे काम चलाइए।

सेठ श्रीचंद—मैं भाई, भीख लेनेवालों में नहीं हूँ। मैं तो स्वयं तिथि-पर्वों में कुछ दे निकलता हूँ, व्यापारी तो ठहरा। धन-संबंधी सहायता में उद्यत होने के लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ, किंतु क्षमा कीजिएगा, मैं इस आभार को ग्रहण नहीं कर सकता।

चंद्रचूड़—फिर आप वही भोलेपन की बातें करते हैं। अरे भाई! आभारी करता कौन है? शायद आपको ज्ञात नहीं कि

इम दोनो के पिता भी एक-दूसरे के प्रगाढ़ मित्र थे। आजकल पंद्रह-बीस दिनो से भारी दुःख के कारण आपका काम-काज रुका हुआ है। यदि आपको आर्थिक कष्ट हुआ, तो क्या मुझे न हुआ? बात एक ही है, धन चाहे इस थैली में रहा, चाहे उसमें।

सेठ श्रीचंद—कष्ट की क्या कहते हैं, भाईजी! आजकल तो मुझ पर ईश्वर का ही कोप है। घर उजड़ा, काम बिगड़ा, संसार में किसी को मुख दिखलाने योग्य न रहा। भाई-बिरादरी में कौन मेरे साथ बैठेगा? फिर भी अभी ईश्वर ने इस योग्य बनाया है कि गृहस्थी चल ही रही है। आपके दिए हुए दो-चार भृत्य प्रस्तुत हैं। सेठ कहलाता ही हूँ।

चंद्रचूड—जैसी इच्छा; जब कभी आवश्यकता हो, तब संकोच न कीजिएगा। हैं हमारे दोनो के घर एक ही।

इस प्रकार अंगरक्षक महोदय कुछ निरुत्साह के साथ अपने स्थान को पधारे। इधर सेठजी ने दंड-विभाग में जो स्त्री-संबंधिनी बिनती लगाई थी, उसके लिये पृथ्वी-आकाश एक कर दिया, दौड़-धूप में कोई कसर न रक्खी, किंतु कुछ फल न निकला। दंडपाशिकों और दूतों ने कार्य में असामर्थ्य से अपनी मान-हानि समझकर प्रयत्न अच्छा किया। उन्हें यह भी विदित हो गया कि राजप्रासाद में एक नवीन बाईजी ऐसी आई हैं, जो सौंदर्य की मूर्ति कही जाती हैं। फिर भी खोई हुई सेठानी से उनके एक होने के प्रश्न पर निर्णय करने का उनके पास कोई साधन न था। सेठजी के कानों तक भी इस बात की भनक पड़ी, किंतु महाक्षत्रप के ऊपर संदेह करने का न तो उन्हें साहस था, न बुद्धि में इतनी उड़ान। दो-चार दिनों में चंद्रचूड़जी फिर उनके पास गए, और यों बातें होने लगीं—

सेठ श्रीचंद—कहिए महाशय! मेरे लिये कोई आशाप्रद संवाद है?

चंद्रचूड़—पता तो मुझे लगा नहीं, किंतु कुछ-कुछ संदेह होता है।

सेठ श्रीचंद—सुनता हूँ कि राजप्रासाद में एक नवीन परकीया सुंदरी का प्रवेश हुआ है। मेरी धर्मपत्नी तो ऐसी सुंदरी थी नहीं कि इस विषय में कुछ संदेह हो।

चंद्रचूड़—यह तो मैं जानता नहीं, किंतु यदि आप चाहें, तो देव की सेवा में निवेदन करके भवदीय भारी हानि-पूर्ति कराने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया जाय।

सेठ श्रीचंद—इन कथनों से तो मुझे संदेह जमता है कि हो-न-हो यह कार्यवाही मूलतः आप ही से संबद्ध न निकले।

चंद्रचूड़—सेठजी! संसार ऐसा बिकट है कि भलाई के लिये स्थान नहीं है। मैं तो आप का लाभ चाहता हूँ, और आप मुझी पर संदेह करने लगे। होम करते हाथ जलने का मामला हो रहा है।

सेठ श्रीचंद—संदेह न करूँ, तो क्या करूँ? यदि मेरी स्त्री को कोई भगा ही ले गया होता, तो राजा उसके लिये धन क्यों देता?

चंद्रचूड़—असली बात यह है कि आपकी स्त्री राजप्रासाद ही में है, किंतु आप कर ही क्या सकते हैं? चाहिए, तो एक या दो सहस्र सुवर्ण आपको दिला दिए जायँ, नहीं तो घर में बैठे रोते रहिए। कहता हूँ आप ही के हित की कि नहीं?

सेठ श्रीचंद—(खड्ग खींचकर) निकाल तलवार नीच! अभी तुझे यहीं समाप्त करता हूँ। मुझे क्या कोई भोंद-भड़ुआ बनाया है?

चंद्रचूड़ इस अचानक आवेश से कातर होकर भागा, और सेठ कुछ दूर तक उसका पीछा करके वापस आया। शीघ्रता में चंद्रचूड़ आगे चलकर गिर पड़ा, जिससे उसे चोट भी लगी। महाक्षत्रप की सेवा में उपस्थित होकर उसने इस दुर्दशा की कथा कही, जिससे हाल मल्लिका को भी ज्ञात हुआ। अनंतर राजप्रासाद में आहूत होकर सेठजी पर चंद्रचूड़ के ऊपर आघात करने का

अभियोग लगाया गया, और वह रोने-कलपने लगे। मल्लिका की इच्छा से यह मामला निर्णयार्थ उसी के सम्मुख उपस्थित किया गया। उसने अपने पति के चरण-स्पर्श करके क्षमा की प्रार्थना की।

सेठ श्रीचंद—क्या इस दुष्ट ने तुम्हे लाकर यहाँ फँसाया है ?

मल्लिकाबाई—इनका इसमें विशेष दोष नहीं है ; मेरा ही चित्त कई कारणों से चंचल हो गया। इन्हें आपको क्षमा करना चाहिए।

सेठ श्रीचंद—महाशय से तुम्हारी भेंट तो इसी नर-पिशाच ने कराई होगी ?

मल्लिकाबाई—जब अपना ही दाम खोटा हो, तो परखनेवाले को दोष क्यों दिया जाय ?

सेठ श्रीचंद—क्या फिर तुम अपने घर न चलोगी ? क्या सदा के लिये तुम्हें पाप-पूर्ण जीवन स्वीकार हो गया है ?

मल्लिकाबाई—अब इन प्रश्नों का समय कहाँ है ? मैंने पहले ही इन्हें सोचकर निर्णय किया। अब तो जल शीश के ऊपर निकल चुका है।

सेठ श्रीचंद—(चंद्रचूड़ से) महाशय ! मैं आपको सच्चे जी से क्षमा करता हूँ। मेरा कोप अब केवल अपने भाग्य पर है।

चंद्रचूड़—बड़ी कृपा हुई, सेठजी ! मैं अब भी कहता हूँ कि ब्याहुता न छोड़िए। आपकी हानि हुई है। स्त्री ने धर्म छोड़ा, किंतु आप शुद्ध हैं।

मल्लिकाबाई—पतिदेव ! मैंने आप को धोखा तो दिया, किंतु पूर्णतया धन-संपन्न कर दूँगी। आप स्त्री नहीं बेच रहे हैं, मैं स्वयं चली आई हूँ, और पलटूँगी भी नहीं। हानि आपकी हुई है ही। यदि बुद्धिमानी से काम निकालिए, तो अपना घर ही बना लीजिए। सारे जीवन के लिये धनी हो जाइए, और मुझसे बढ़कर अन्य स्त्री आपको प्राप्त हो रहेगी।

सेठ श्रीचंद—अपकीर्ति क्या कम हुई ?

मल्लिकाबाई—सो तो हो ही चुकी और पलट नहीं सकती। अपयश के दाम आपको नहीं मिल रहे हैं। आप यथासंभव अपना भविष्य बना लीजिए।

चंद्रचूड़—व्यापारियों के लिये तेली बुद्धि आवश्यक है। सोच लीजिए महाशयजी! अवसर न चूकिए।

सेठ श्रीचंद—अच्छा, आप क्या दिलाना चाहती हैं ?

मल्लिकाबाई—बीस सहस्र सुवर्ण आपको अर्पित होंगे, किंतु महाक्षत्रप के लिये स्वस्तिवाचन भी करना होगा।

चंद्रचूड़—क्या कह गई श्रीमतीजी! देव से पूछ भी रक्खा है ?

मल्लिकाबाई—अपने देव से जाकर निवेदन कीजिए कि या तो मेरा पति प्रसन्न रक्खा जायगा, या मेरी भेंट इस कटार से होगी (कटार दिखलाती है)। चंद्रचूड़ बाहर जाकर फिर आता है।

चंद्रचूड़—श्रीमान् की आज्ञा हुई है कि कटारवाला नीरस वाक्य आपके श्रीमुख से क्या निकल गया! बीस सहस्र दीनार इन्हें दीजिए, तथा इतना ही और धन अपने ऊपर निछावर करके फेंक दीजिए। इतने पर भी आपका एक बाल बाँका न होगा। सारा शक-साम्राज्य आज दिन किसके चरणों पर लोट रहा है ?

मल्लिकाबाई—(हँसकर चंद्रचूड़ से) मेरे कथन में जो यह भूल आई, वह तुम्हारे ही अनुभव की कमी से।

चंद्रचूड़—क्या कहूँ देवीजी! आज तो प्रमाणित हो गया कि बारह वर्ष उज्जयिनी में रहकर मैं भाड़ ही झोंकता रहा हूँ।

मल्लिकाबाई—(पतिदेव से) आशा है, अब आप इस अपराधिनी से तादृश अप्रसन्न न रहेंगे।

सेठ श्रीचंद—देवीजी! महत्त्वाकांक्षा ने तुम्हें धर्मच्युत तो किया, किंतु इतना मुझे कहना ही पड़ेगा कि पति-प्रवंचना और भक्ति, इन दोनों

प्रतिकूल भावों का अद्भुत सम्मिश्रण आपने आचरण में दिखलाया है। मैं अब एक प्रकार से आपकी प्रजा हूँ, और आशीर्वाद देता हूँ कि इस नवीन जीवन में ईश्वर आपको प्रसन्न रक्खे। क्षमा कीजिएगा, आपके विषय में पवित्र पापिनी की उपाधि मुझे योग्य समझ पड़ती है। महाक्षत्रप ने मेरा अपकार तो किया ही, किंतु उनकी आपके ऊपर जैसी अमोघ प्रीति है, उसके देखते हुए मैं उन पर से अपना क्रोध हटाता हूँ।

मल्लिकाबाई—(चरण स्पर्श करके) आपकी क्षमाशीलता और परिस्थिति समझने की योग्यता शतमुख से श्लाघ्य हैं। धन आपके यहाँ कल पहुँच जायगा। उसकी रक्षा का प्रबंध पहले से कर रखिएगा। एक बिनती और किए देती हूँ कि मुझे यहाँ कोई आपकी पूर्व पत्नी न जानेगा। आप समाज में मेरा केवल नातेरे जाना प्रकट कीजिए। इससे आप भाईचारे के झगड़े से भी बचे रहेंगे।

सेठ श्रीचंद—यह भी युक्ति अच्छी है।

इस प्रकार शाप के लिये उद्यत सेठजी सबको आशीर्वाद देकर निवास-स्थान को चले गए।

दशम परिच्छेद

उज्जयिनी

महाक्षत्रप का प्रबंध

इन दिनों गुप्त-साम्राज्य की दशा पर विचार करने से महाक्षत्रप-सिंहसेनजी की आशाएँ उन्नत हो रही हैं। एक दिन अपने महामंत्री, महाबलाधिकृत और सांधिविग्रहिक को बुलाकर उन्होंने यों परामर्श किया—

महाक्षत्रप—आज मेरी इच्छा इस साम्राज्य के भविष्य पर विचार करने की है। स्वयं मैं तो चिरकाल से सोचता रहा हूँ, तथा आप तीनो महाशयों से भी यदा-कदा विचार-विनिमय करता आ रहा हूँ, तथापि आज दृढ़ता-पूर्वक निर्णयों की आवश्यकता है।

महामंत्री—क्या आज्ञा होती है, देव?

महाक्षत्रप—गुप्त-साम्राज्य-स्थापन के पूर्व आंध्र और कुशान-साम्राज्यों के पीछे नागों और तब वाकाटकों का प्रभाव बढ़ा, किंतु शकों से इन्होंने कभी छेड़-छाड़ नहीं की। अब भारत में केवल गुप्त और शक शक्तियाँ महती हैं।

सांधिविग्रहिक—अपनी शक्ति प्राचीन है, तथा गुप्त-बल अभी कल से महान् हुआ है। आंध्र-साम्राज्य गिरा शकों और नागों के प्रयत्न से, किंतु उसका लाभ अब गुप्तों को मिल रहा है।

महाक्षत्रप—कौन जानता था, आर्य! कि असह्य वाकाटक-शक्ति एक ही दो संग्रामों में ढेर हो जायगी?

महामंत्री—यही तो बात है, देव! फिर भी जो दशा आज है, उस पर विचार करना होगा।

महाबलाधिकृत—महाराज चंद्रगुप्त ने गुप्त-संवत् चलाया अवश्य, किंतु उनकी महत्ता थी बहुत साधारण ।

सांधिविग्रहिक—वरन् यों कहना चाहिए कि अंत काल के निकट उनका अधिकार केवल कोशल के अंश पर रह गया था । उन्होंने बुद्धिमानी यह की कि अयाचित उत्तराधिकार समुद्रगुप्त को सौंप दिया, यद्यपि वह ज्येष्ठ पुत्र भी न थे ।

महाक्षत्रप—इनकी महत्ता वास्तव में लिच्छवियों से संबंध के कारण बढ़ी । उधर समुद्रगुप्त लिच्छवि महारानी के पुत्र थे ही ।

महाबलाधिकृत—कहने को तो गुप्त-बल १०३ वर्षों (२७९ ई०) से चला आता है, किंतु साम्राज्य का रूप इसे केवल समुद्रगुप्त के विजयों से प्रायः पैंतीस-चालीस वर्षों से मिला है । इधर अपनी शक्ति परम प्राचीन है । महात्मा भूमक ऋषभदत्त (ऊषावदात) नहपान, चष्टन और रुद्रदामन के समय बीते सैकड़ों वर्ष हो गए हैं ।

महामंत्री—सो तो बात ही है, देव !

महाक्षत्रप—मैं समझता हूँ कि समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी रामगुप्त में वह पात्रता नहीं है कि इतना बड़ा साम्राज्य चला सकें । एक ही वर्ष के भीतर उन्होंने अनुभवी महाबलाधिकृत और सांधिविग्रहिक को राजसेवा से अलग कर दिया, सो भी केवल मत-प्रकाशन की कथित धृष्टता पर । ऐसे आततायियों से कहीं साम्राज्य चलाए चल सकते हैं ?

महाबलाधिकृत—उनके वर्तमान महाबलाधिकृत बड़ी साधारण योग्यता के व्यक्ति हैं, ऐसा मुझे निजू अनुभव भी है ।

महामंत्री—फिर भी उनका भाई चंद्रगुप्त प्रकांड योद्धा तथा समर-शास्त्र का विशाल पंडित है । उसे शक-युद्ध-विद्या का भी अच्छा ज्ञान है ।

सांधिविग्रहिक—उस बेचारे को वहाँ पूछता कौन है ?

महाक्षत्रप—यही तो बात है !

"चंदन परे चमार-घर, नित उठि कूटै चाम;
चंदन रोवै, सिर धुनैं, परा नीच ते काम।"

सांधिविग्रहिक—फिर भी, देव ! इतना सोचना चाहिए कि इन दिनों या कभी गुप्तों ने अपने प्रतिकूल कुछ किया नहीं, वरन् विश्वास करके अपना होनहार राजकुमार हमारी राजधानी में विद्या-प्राप्ति को भेजा।

महामंत्री—इसमें कोई मुख्यता नहीं है। वाकाटक-साम्राज्य ने ही समुद्रगुप्त का क्या बिगाड़ा था ?

सांधिविग्रहिक - बिगाड़ा क्यों न था ? जब से महाराजा चद्रगुप्त ने राज्य-वर्द्धन में श्रम किया, तभी से उनकी वाकाटकों से मुठभेड़ चल रही थी।

महामंत्री - अच्छा, वंगीय शासकों, आंगल देशवालों, पल्लवों आदि ने तो कोई अपकार नहीं किया था। वे सब तो साम्राज्य-स्थापनार्थ ही विमर्दित हुए।

सांधिविग्रहिक—यों तो यदि अपनी शक्ति बलवती न होती, तो हमारा भी साम्राज्य वाकाटकों के ही घाट उतर जाता।

महाक्षत्रप—जब गुप्तों ने अवसर देखा, तब साम्राज्य-स्थापन में कमी न की। जब शकों की शक्ति, ईश्वर न करे, कभी मंद पड़ेगी, तब छोड़ हमको भी न देंगे। ऐसी दशा में जब अपने को दाँव मिलता है, तब अवसर से क्यों चूका जाय ?

महामंत्री—राजनीति तो यही कहती है; फिर भी इस विषय पर महाबलाधिकृत की सम्मति आवश्यक है।

महाबलाधिकृत—आजकल वंग-देश में भी गुप्तों के प्रतिकूल विद्रोह के चिह्न दीख रहे हैं। गुप्त-शक्ति वर्तमान दशा में मंद देख ही पड़ती है, फिर भी आक्रमण का फल अनिश्चित दिखता है।

महाक्षत्रप—यदि वंगीय विप्लव बल पकड़ जाय, और अनुभव-शून्यता से रामगुप्त उस ओर बहुत-सी सेना भेज दें, तो अपना दाँव लग सकता है।

सांधिविग्रहिक—वाकाटकों तथा सौराष्ट्रीय शक-राज्यों में राजदूत भेजकर उनसे भी सहायता लेने का डौल क्यों न डाला जाय?

महाबलाधिकृत—यदि इनमें से एक शक्ति भी सहायता दे दे, तथा वंगीय विद्रोह ज़ोर पकड़ जाय, तो इस विषय में दृढ़ता हो सकती है।

महामंत्री—इन राज्यों में राजदूत बनाकर भेजा कौन जाय?

महाक्षत्रप—मैं तो समझता हूँ कि वाकाटकों की सेवा में सांधि-विग्रहिकजी जायँ तथा सौराष्ट्र में स्वयं महामंत्रीजी।

महाबलाधिकृत—चाहे जो जिधर चला जाय। आशा है, दोनो में से एक मान ही जायगा। मैं समझता हूँ, आज्ञा ठीक ही हो रही है।

सांधिविग्रहिक—मेरा भी यही विचार है।

इस प्रकार परामर्श होकर दोनो मंत्री यथास्थान भेजे गए। जब सांधिविग्रहिक महोदय वाकाटक राजधानी में उपस्थित हुए, तब उनका यथायोग्य सम्मान किया गया। महाराजा पृथ्वीषेण (प्रथम) के महामंत्री ने इनसे मिलकर आगमन-हेतु पर वार्तालाप की, और तब अपने महाराजा बहादुर से निवेदन किया, जिन्होंने अपने महा-मंत्री; सांधिविग्रहिक तथा महाबलाधिकृत को बुलवाकर परामर्श किया।

महाराजा पृथ्वीषेण—इस विषय में आप सज्जनों की क्या सम्मति होती है?

महामंत्री—बात मार्के की है, और विशेष विचार की आवश्यकता है। फिर भी देखने में तो ऐसा भासता है कि मेंढकी को श्लेष्मा-सा हुआ है।

महाराजा पृथ्वीषेण—(हँसकर) समझ तो मुझे भी ऐसा ही

पड़ता है, किंतु आजकल सम्राट् रामगुप्त की अयोग्यता से शृगाल भी सिंह की मूछ मिरोड़ने का साहस करते-से हैं।

महाबलाधिकृत—केवल सम्राट् की अयोग्यता सब कुछ नहीं है, जब तक राजकुमार चंद्रगुप्त, महाकवि कालिदास, महाबलाधिकृत आदि का वहाँ मान है, तब तक साम्राज्य गया-बीता नहीं समझा जा सकता है।

सांधिविग्रहिक—किंतु इतना भी जान लेना चाहिए कि इन महा-पुरुषों का यथेष्ट मान अब वहाँ है नहीं। साम्राज्य के वर्तमान महा-बलाधिकृत बहुत कुछ बोदे माने जा सकते हैं।

महामंत्री—मुझे समझ पड़ता है कि पहले तो साम्राज्य का पक्ष शकों के दबाए अयोध्या के निकट दबेगा नहीं, और यदि दबा भी, तो उत्कृष्ट सैन्येश वहाँ प्रस्तुत हैं ही।

महाराजा पृथ्वीषेण—और नहीं, तो क्या? उन्हें तुरंत युद्ध-भार दे दिया जायगा? और शत्रु-पक्ष के धुरें उड़ जायँगे।

महाबलाधिकृत—यही मुझे भी समझ पड़ता है, देव!

महाराजा पृथ्वीषेण—अच्छा, अब दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया जाय।

महामंत्री—वह भी परमावश्यक है, देव! जब अपना साम्राज्य स्थापित हो रहा था और फिर हुआ, तब शकों से कौन सुव्यवहार था, अथवा सहायता ही क्या मिली थी?

सांधिविग्रहिक—सहायता का प्रश्न ही क्या उठता है? वे तो छिपे हुए शत्रु थे; अब चले हैं बड़ा मित्र-भाव प्रकट करने।

महाबलाधिकृत—फिर यदि इनकी सहायता को सेना भेजी जाय, तो एक प्रकार से इन्हें अपना सम्राट् सा मानना होगा। यदि पराजय हुई, तो बैठे-बिठाए गुप्तों से मुठभेड़ प्रारंभ हो जायगी।

महाराजा पृथ्वीषेण—समुद्रगुप्त से युद्ध के पीछे गुप्तों ने अपने

प्रतिकूल कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है, न राज्य को किसी प्रकार की हानि ही पहुँचाई है। ऐसी दशा में अपनी ओर से बिगाड़ उठाने का अवसर ही क्या है ?

सांधिविग्रहिक—फिर यदि शक जीत भी गए, तो अपना क्या लाभ होगा ? अपने लिये तो केवल स्वामी-परिवर्तन का मामला रहेगा।

महामंत्री—स्वामी है कौन ?

महाराजा पृथ्वीषेण—क्यों नहीं ? कहना न चाहिए, किंतु बात एक प्रकार से है ही ऐसी ही ।

महामंत्री—फिर अपना धर्म भी यह नहीं कि आर्य होकर भारतीय साम्राज्य के प्रतिकूल विदेशी शकों को सहायता दी जाय। गुप्तों से प्राचीन शत्रुता का विचार एक प्रकार से छोड़ा भी जा चुका है।

महाराजा पृथ्वीषेण—हुआ तो स्वयं पितृचरणों का विनाश था, किंतु युद्धों में ऐसा होता ही रहता है।

महामंत्री—ऐसी हृदयविदारिणी घटनाएँ स्वतंत्रता का मूल्य होती हैं।

महाराजा पृथ्वीषेण—सो तो हई है, आर्य ! एक बात यह भी है कि अपनी शक्ति एक प्रकार से आंध्रों की उत्तराधिकारी है। जिन कारणों से शकों के युद्ध उनसे हुआ करते थे, वे अब भी प्रस्तुत हैं।

सांधिविग्रहिक—रुद्रदामन शक ने अपने ही दामाद आंध्र-नरेश को न छोड़ा था। इन लोगों को सहायता देने का देव ! मेरी समझ में प्रश्न ही नहीं उठता।

महाराजा पृथ्वीषेण—यही तो बात है। अच्छा, फिर महाक्षत्रप के मंत्रीजी का दरबार कराया न जाय ?

महामंत्री—वह तो, देव ! आहूत हो ही चुके हैं। यहीं बुला न लिए जायँ ?

महाराजा पृथ्वीषेण—ठीक तो है।

(शक-सांधिविग्रहिक बुलाए जाते हैं। तीनों मंत्री अभ्युत्थान देते हैं। शक-मंत्री महाक्षत्रप की ओर अपनी ओर से महाराजा की नज़र-निछावर करते हैं, जो स्वीकार की जाती है। चारो लोग यथा-स्थान बैठते हैं।)

महाराजा पृथ्वीषेण—कहिए मन्त्रीजी ! आपके राज्य में कुशल-मंगल है न, और महाक्षत्रपजी प्रसन्न तो हैं ?

शक-सांधिविग्रहिक—(हाथ जोड़कर) देव के आशीर्वाद से सब ठीक-ठाक है। महाक्षत्रप महोदय ने यह पत्र देव की सेवा में प्रेषित किया है।

[प्राभृतक (ख़रीता) वाकाटक-सांधिविग्रहिक को देता है। वह उसे देखता है।]

महाराजा पृथ्वीषेण—मंत्रीजी ! आपको मार्ग में कोई कष्ट तो नहीं हुआ, और यहाँ कोई असुविधा तो नहीं है ?

शक-सांधिविग्रहिक—देव की राजधानी तथा महामंत्रीजी के प्रबंध में भी यदि असुविधा होगी, तो सुविधा का नाम कोष से निकाल देना पड़ेगा। मार्ग में भी कोई कष्ट नहीं हुआ।

वाकाटक-सांधिविग्रहिक—देव ! महाक्षत्रप महोदय के पत्र का वही आशय है, जो सांधिविग्रहिक महोदय ने महामंत्रीजी पर प्रकट किया था।

महामंत्री—इस विषय में जो आपको कहना हो, वह देव के सम्मुख प्रकट कीजिए। सारांश मैं पहले से ही निवेदन कर चुका हूँ।

शक-सांधिविग्रहिक—मुझे यही विनती करनी है, देव ! कि आजकल गुप्त-साम्राज्य की बुरी दशा है। वाकाटक तथा शक-साम्राज्य चिरकाल से चले आते हैं। इनमें कभी कोई कहने योग्य विभ्राट् हुआ नहीं। यह गुप्त-शक्ति अभी कल से हम सबों पर प्रभाव जमाने लगी है, सो भी केवल समुद्रगुप्त के सामरिक कौशल से।

अब वह बात भी नहीं रह गई है। क्या यह योग्य नहीं कि हम लोग अपनी प्राचीन शक्तियों की स्वतंत्रता इस नौबदिए को गिराकर पुनः स्थापित करें ?

वाकाटक-सांधिविग्रहिक—मंत्रीजी महोदय ! हमारे यहाँ देव का यह विचार है कि जब तक कोई सम्राट् अपने अधीनस्थ महाराजाओं से अनुचित व्यवहार न करे, तब तक साम्राज्य-स्थापन में प्रतिशताब्दी चार प्रयत्न होने से भारत का मंगल नहीं हो सकता। यदि हम लोग नित्यप्रति आपस में ही लड़ा-लपा करेंगे, तो मानो विदेशी शक्तियों को देश जीतने के लिये निमंत्रण दे रहे हैं। हम सबको मिलकर इसी भारत-माता की शरण में रहना है, अतएव सबका धर्म है कि भारतीय शक्ति को उच्च बनाने के प्रयत्न से कभी विमुख न हों।

शक-सांधिविग्रहिक—यदि यही अंतिम उत्तर हो, तो शायद मेरा कुछ और कहना धृष्टता समझा जाय।

महामंत्री—देव की कोई अंतिम आज्ञा नहीं हुई है ; अभी तो केवल विचार-विनिमय हो रहा है। आप अपने भावपूर्ण स्वच्छंदता के साथ प्रकट कीजिए।

शक-सांधिविग्रहिक—बड़ी कृपा। ऐसी दशा में मैं विनती करूँगा कि इन विचारों के लिये तब स्थान होता, जब गुप्त-शक्ति किसी अधिकार के आधार पर स्थापित हुई होती। यहाँ तो महाराजा चंद्रगुप्त ने मगध और कोशल में बल बढ़ाकर वाकाटक-शक्ति का सामना किया, जिसमें वह अंत में असफल-सा रहा। उसके पीछे समुद्रगुप्त ने केवल शक्ति के प्रभाव से कई प्राचीन शासकों को निर्मूल कर दिया, तथा अन्यों को दबाया। जब इस कार्यवाही में न्याय का कोई अंश न था, और केवल बल के प्रभाव से ऐसा हुआ, तब सुसमय पाकर भी हम लोग उससे क्यों दबे रहें ?

वाकाटक-सांधिविग्रहिक—जो शक्तियाँ गुप्तों द्वारा उखाड़ी जाकर पुनः स्थापित की गईं, उन्होंने राजभक्ति का वचन दिया था। यदि समय पर वह निबंध तोड़ने ही को किया गया था, तो न्याय गुप्तों की ही ओर दिखेगा। जहाँ के नरेश पूर्णतया अधिकार-च्युत किए गए, वहाँ के विषय में भी यह प्रश्न उठता है कि उनका प्रबंध गुप्तोंवाले से क्या बहुत बुरा न था? यदि था, तो प्रजा की उन्नति के विचार से उनका अधिकार-च्युत होना क्या योग्य न था?

महामन्त्री—एक बात यह भी है कि सारा भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहे, तो बाह्य शक्तियों से आत्मरक्षा कैसे कर सकेगा?

महाबलाधिकृत—फिर मौर्य-साम्राज्य के समय जब एक शासन-प्रणाली पूर्णतया स्थापित हुई थी, तब जाकर यूनानी बल दबा था। यदि पंजाब की भाँति भारत छोटी-छोटी शक्तियों से ही पूर्ण होता, तो पलक मारते हुए सारा देश अलिकसुंदर के चरणों पर लोटने लगता कि नहीं?

शक-सांधिविग्रहिक—वह तो प्राचीन युग की बात है।

महाराजा पृथ्वीषेण—शुंग, काण्व, आंध्र तथा कुशान-घरानों के समय में एक ही शक्ति बहुत कुछ प्रबल थी। नाग और हमारे वाकाटक-बल की भी यही दशा थी। यदि एक ही साम्राज्य सदा के लिये स्थापित रहे, तो समय पर गिरकर उसकी शक्ति शून्य के समान हो सकती है। ऐसी दशा में सुशासन क्या होगा?

शक-सांधिविग्रहिक—(हाथ जोड़कर) देव! यही तो मेरी विनती है; आजकल गुप्त-बल भी अनस्तित्व के निकट पहुँच गया है। सम्राट् प्रवरसेन के समान विजयी और यशस्वी कौन हुआ है? सम्राट् रुद्रसेन को समय ही न मिलने पाया कि वह अपना प्रभाव

बढ़ाते। वही दशा अब रामगुप्त की है। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह अवसर न चूकना चाहिए, देव!

महाबलाधिकृत—उनके साथ गुप्तों का कोई निबंध राजभक्ति के संबंध में न था; इधर इस समय वाकाटक-शक्ति गुप्तों से वचन-बद्ध है। जितनी निर्बलता आप लोग रामगुप्त में देखते हैं, उतनी वास्तविक शायद है भी नहीं।

शक सांधिविग्रहिक—इस विचार का उत्तर तो युद्ध-क्षेत्र ही देगा।

महामंत्री—इसमें मतभेद संभव है।

शक-सांधिविग्रहिक—तो क्या महाक्षत्रप की बिनती के उत्तर में कोरी ना मिल रही है? विचार कर लिया जाय देव, कि हम दोनों की शक्तियाँ प्राचीन काल से मित्रता में आबद्ध चली आती हैं।

महाराजा पृथ्वीषेण—महाक्षत्रपजी के विचारों से मतैक्य न होने का इस शक्ति को भारी दुःख है। आप जानते हैं कि समय पर गुप्तों को सामरिक सहायता देने के लिये भी हमारा निबंध है। फिर भी यहाँ से आपको इतना वचन दिया जाता है कि हम लोग यथासाध्य इससे बचने का प्रयत्न करेंगे। मेरी समझ में महाक्षत्रप महोदय बड़े जोखिम के काम में हाथ डाल रहे हैं। ईश्वर उन्हें सफल बनावे।

शक-सांधिविग्रहिक—अपने स्वामी की ओर से इतने आश्वासन के लिये भी मैं धन्यवाद अर्पण करता हूँ। मैं भली भाँति समझता हूँ कि वाकाटक-साम्राज्य ने वचनों का मान सदैव किया है। जितना कुछ वचन यहाँ से मिल रहा है, वह भी कम नहीं है। फिर भी मैं यथासंभव इतना और आश्वासन चाहूँगा कि यदि हमारी शक्ति उत्तर की ओर जीवन-मरण के युद्ध में संलग्न हो, तो इधर वाकाटक-शक्ति से कोई भय उपस्थित न हो।

महाराजा पृथ्वीषेण—यह वचन यहाँ से निश्चय-पूर्वक दिया जाता है। यदि हम लोगों को निबंधानुसार युद्ध भी करना पड़ेगा,

तो हम उत्तर जाकर ही ऐसा करेंगे, इधर नहीं। यथासंभव टालेंगे उधर का भी जाना।

शक-सांधिविग्रहिक—धन्य-धन्य देव ! अब मेरा इन चरणों में उपस्थित होना आधा तो सफल हो ही गया।

इन निबंधों के पीछे शक-सांधिविग्रहिक महोदय प्रणामादि करके अपने डेरे को पलट गए। चलने के समय महाक्षत्रपजी के लिये यथायोग्य भेंट दी गई, तथा ११ कपड़े, एक अच्छा घोड़ा अथच ५०० दीनार मंत्रीजी को मिले। वह भी महाक्षत्रप की ओर से बहुमूल्य भेंट महाराजा के लिये लाए थे। महाक्षत्रपजी के लिये प्राभृतक में एक पत्र भी मिला, जिसमें केवल साधारण कुशल-प्रश्न था, और मुख्य कार्य के विषय में लिखा था कि सांधिविग्रहिक महोदय से उचित बातें हो चुकी थीं।

उधर महाक्षत्रप सिंहसेन के महामंत्री इसी प्रकार सौराष्ट्रीय महा-क्षत्रप की सेवा में उपस्थित हुए। वहाँ उनकी बहुत ही विशद आव-भगत हुई। उनसे आगमन-हेतु जानकर सौराष्ट्र के महामंत्रीजी ने अपने स्वामी की सेवा में समाचार प्रकट किए, और सौराष्ट्रीय मंत्रियों से परामर्श करके महाक्षत्रप की आज्ञा से उज्जयिनी के महामंत्रीजी का दरबार कराया गया। आपने नरेश की सेवा में पत्रवाला प्राभृ-तक तथा बहुमूल्य भेंट स्वामी की ओर से पेश की, तथा अपनी ओर से भी नज़र-निछावर की। वह सब स्वीकृत होने के पीछे मुख्य विषय पर बात होने लगी।

महाक्षत्रप—कहिए आर्य ! आपके महाक्षत्रप प्रसन्न तो हैं, और सब राजकाज यथोचितरीत्या चल रहा है न ?

उज्जयिनी के महामंत्री—(हाथ जोड़कर) देव के आशीर्वाद से सब कुशल-मंगल है। राजकाज ठीक-ठीक चल रहा है, विशेषतया सामरिक विभाग।

महाक्षत्रप—आप स्वस्थ तो हैं ?

उज्जयिनी के महामंत्री—देव की कृपा से बहुत प्रसन्न हूँ। आशा है, देव भी सवर्ग तथा सपरिवार प्रसन्न होंगे।

महाक्षत्रप—हम लोग बहुत मज़े में हैं। आपके ख़रीते का विषय कुछ अनोखा-सा है।

उज्जयिनी के महामंत्री—है तो यही बात, देव ! अपनी शक-शक्ति मूलतः एक थी। उसके दो भाग होने में स्वभावशः कुछ काल दोनो में मन-मैली रही। अब इसका समय बीत चुका है, और यदि ये दोनो शक्तियाँ अपना स्वाभाविक प्रेम-भाव स्थापित न करेंगी, तो दूसरों द्वारा दोनो का अमंगल संभव है।

महाक्षत्रप—क्यों आर्य ! आप भी कुछ कथन कीजिए।

सौराष्ट्रीय महामंत्री—है तो देव ! इनका विचार दूरदर्शिता-गर्भित। यदि हम दोनो में समुचित मेल होता, तो संभवतः गुप्त-शक्ति के स्थान पर शक ही आज भारतीय सम्राट् होते।

उज्जयिनी के महामंत्री—धन्य महामंत्रीजी, धन्य ! यदि हमारी दोनो शक्तियाँ प्रेम के सूत्र में आबद्ध रहें, तो मैं दर्प-पूर्ण भाव से कहूँगा कि आज भी भारत में कोई हमसे आँख न मिला सके। देखिए, विजयी समुद्रगुप्त ने सारे भारतीय नरेशों तथा शाही और शाहानुशाही तक को जीता, किंतु अपने दोनो राज्यों की ओर आँख न उठाई।

महाक्षत्रप—बात तो यही समझ पड़ती है। आजकल रामगुप्त का प्रबंध गिरा हुआ है, और वंग में भी विप्लव के प्रकट चिह्न दिखाई पड़ते हैं।

उज्जयिनी के महामंत्री—मैं तो देव ! बिनती करूँगा कि अब भी कुछ गया नहीं है। केवल मैत्री और सहयोग की आवश्यकता है।

सौराष्ट्रीय महामंत्री—है यही बात। अच्छा, यह तो कहिए कि

यदि आपसी मेल से विजय प्राप्त हो, तो हम दोनो के भाग क्या-क्या होंगे ?

उज्जयिनी के महामंत्री—यह प्रश्न हमारे स्वामी आप ही की इच्छा पर छोड़ते हैं ।

सौराष्ट्रीय महामंत्री—यदि हम लोग आपको दो तिहाई देकर अपने लिये केवल तृतीयांश माँगें, तब तो आपको कदाचित् आपत्ति न होगी ?

उज्जयिनी के महामंत्री—लेश-मात्र नहीं । यदि आप हमारी की चतुर्थांश सेना युद्धार्थ भेजें, तब भी हम लोग विजित देशों का तृतीयांश देने को प्रस्तुत हैं ।

महाक्षत्रप—समझ लीजिए, पीछे कोई बखेड़ा न उठे ।

उज्जयिनी के महामंत्री—क्यों उठने लगा ? इतनी बात है ही कि युद्ध समाप्त हो चुकने से संधि हो जाने पर जो जीत बचेगी, वही विभाजित होगी । युद्ध में हमारे देव जायँगे ही, सो संधि करने में वह स्वच्छंद रहेंगे ।

महाक्षत्रप—यह कथन आपका यथार्थ है । प्रयत्न ऐसा हो की जब कुछ गुप्त-दल वंग-दमनार्थ उधर उलझे, तभी इधर से आक्रमण हो ।

उज्जयिनी के महामंत्री—यह तो होगा ही, देव ! वरन् वंगीय विप्लव भी बढ़ाने में यथासंभव यत्न किया जायगा ।

सौराष्ट्रीय महामंत्री—तब फिर सब बात ठीक है । इन्हीं निबंधों के साथ हम दोनो शक्तियों का संधि-पत्र बने, जिस पर दोनो महाक्षत्रपों के अंक यथासमय लग जायँ ।

उज्जयिनी के महामंत्री—बहुत ही योग्य कथन है । आज मेरी प्राचीन अभिलाषाओं के सफल होने से शक-शक्ति के लिये यह दिन परम मांगलिक समझा जाना चाहिए ।

महाक्षत्रप—क्या कहना है ! आज से संसार जानेगा कि शकों की शक्ति में भी कैसा महत्त्व है ?

इस प्रकार संधि निश्चित करके उज्जयिनी के महामंत्रीजी स्वदेश को वापस लौटे। उनके स्वामी तथा स्वयं उनके लिये सौराष्ट्र से उचित से अधिक भेंटें मिलीं। महामंत्रीजी परम प्रसन्नता-पूर्वक अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। वाकाटक तथा सौराष्ट्र-शक्तियों से निबंधों के नियम जानकर महाक्षत्रपजी बड़े प्रसन्न हुए, विशेषतया सौराष्ट्र से मेल पर।

एकादश परिच्छेद

वंगीय विप्लव

फल्गुदत्त और दमघोष के पकड़े जाने पर उनके दोनो अनु-यायियों में से एक ने जाकर स्वामीजी को सूचना दी और दूसरे ने राजन्यवर्ग को। गुप्तकालीन न्याय की परिपाटी तथा प्रजावर्ग में अभियुक्तों की स्थिति ऐसी थी कि कारागारों में अपराधी बहुत कम होते थे। सारे वंग के लिये एक ही दो कारागार थे। एक-एक में प्राय: १०० बंदियों तथा अभियुक्तों के लिये स्थान था। कुल मिला-कर ३० मनुष्य वहाँ के रक्षक थे। फाटक के पीछे एक अच्छा कक्ष था, जिसके पीछेवाले भाग में भी अगले फाटक के सामने उतना ही बड़ा दूसरा फाटक लगा हुआ था। दोनो फाटक भारी-भारी थे, और उनके एक-एक पल्ले में एक-एक खिड़की थी। जब भीतर-वाली खिड़की खुलती थी, तब बाहरवाली में ताला पड़ा रहता था। एक समय एक ही खिड़की खुलती थी। कारागार की बाहरी दीवार प्रायः दस हाथ ऊँची थी। भीतर की ओर तथा दोनो किनारों में भवन का कोई अन्य भाग उससे न छूता था। फाटक पर दो रक्षकों का पहरा प्रतिक्षण रहता था, तथा आगार के चारों कोनों पर भी एक-एक रक्षक हर समय नियुक्त रहता था। इनके कार्यों का निरीक्षण करनेवाले इतर अधिकारी थे। रात्रि में विशेष चौकसी रहती थी। सबके ऊपर अधिकार एक काराध्यक्ष का था, जो बंदियों तथा अभियुक्तों की शारीरिक दशा की जाँच भी किया करता था।

जब स्वामीजी को अपने दोनो सहायकों के पकड़े जाने का समा-चार मिला, तब उन्होंने एक अँधेरी रात को चार-छ अनुयायियों

के साथ कारागार पर छापा मारने का प्रबंध किया। इनके शिष्यवर्ग केवल पूजा-पाठ न करते, वरन् बहुतेरी बातों में दक्ष थे। स्वामीजी पूजन के अतिरिक्त प्रबंध में भी परम पटु थे। धनुष, बाण, खड्ग, भालों आदि से सुसज्जित होकर वे लोग चुपचुपाते तथा छिपते हुए कारागार को अर्द्धरात्रि के निकट पहुँचे। इन्होंने देखा कि अन्य लोग तो सुप्त हैं, किंतु पहरे-वाले चैतन्य हैं। चुपके-से ये सब पीछे के भाग में पहुँचे, तथा इनमें से दो लोगों ने कोने के एक पहरेदार को धर दबाया। मुख में कपड़ा ठूँस तथा बाँधकर उसे कुछ दूर डाल दिया गया, अथच उसके वस्त्रादि धारण करके स्वामीजी का एक सेवक वहीं पहरा देने लगा। इसी प्रकार दूसरे कोने का भी रक्षक विवश किया गया। वे दोनो रक्षक एक दूसरे से कुछ दूर डाले गए, तथा बाबाजी का एक अनुयायी उनके ऊपर दृष्टि रखने को नियुक्त हुआ। अनंतर पीछेवाली दीवार पर गोह फेकी गई, जिसने दूसरे प्रयत्न में पैर गड़ा लिए, और उसकी कटि में जो रस्सी बँधी थी, उसके सहारे स्वयं बाबाजी तथा एक सेवक इधर से चढ़कर कारागार में उतर गए। जहाँ इनके दोनो अभियुक्त बद्ध थे, उसका पता पहले ही लगाया जा चुका था। एक सबरी की सहायता से उसका ताला तोड़ा गया, तथा छुरी से उनकी रस्सियाँ काट दी गईं। स्वामीजी को सामने इस प्रकार देखकर वे दोनो आश्चर्य-चकित हुए, किंतु इनके इंगित से रहे मौन। अब वे चारों लोग गोहवाली रस्सी के सहारे से बाहर उतरकर चलते बने, तथा इनके दोनो रक्षक अथच सरकारी रक्षकों का निरीक्षक, ये तीनो लोग प्रायः दो घड़ियों तक वहीं बने रहे। अनंतर रक्षकोंवाले वस्त्रादि उसी स्थान पर डालकर ये भी नौ-दो-ग्यारह हो गए। कुछ देर में विवश रक्षकों ने अपनी आँखों तथा मुख पर के कपड़े हटाए, अथच बंधन खोल-

कर वे अपने स्थानों पर गए, तो सब सामान वहीं पर पड़ा देखा। अपने ऊपर से संदेह मिटाने के विचार से इन लोगों ने वस्त्रादि धारण करके पहरे का काम सँभाला। प्रातःकाल ताले के अचानक टूटने तथा दो अभियुक्तों के भागने का समाचार जब विदित हुआ, तब इन दोनो रक्षकों ने अपने विवश होने का हाल छिपा डाला। दंड-विभाग से बहुत जाँच की गई, किंतु कोई पता न लगा। हेमघोष और फल्गुदत्त ने अपने नाम भी कल्पित बताए थे, जिससे उनका फिर से पकड़ा जाना भी सुगम न था।

आश्रम को वापस आने पर इन दोनो ने स्वामीजी को छिपे-छिपे भूरि-भूरि धन्यवाद दिए। समय पर विदा होकर ये फिर अपने स्वामियों की सेवा में उपस्थित होने को प्रस्तुत हुए, और यथा-समय वहाँ जा पहुँचे। राजन्यवर्ग इनके पकड़े जाने का समाचार पा चुके थे, और बचाने के मनसूबे बाँध रहे थे कि इतने ही में इन्हें देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। इनके द्वारा स्वामीजी के सब समाचार पाकर तथा विचार सुनकर उन्हें बहुत भक्ति बढ़ी। यह भी संदेह हुआ कि कहाँ स्वामीपन और कहाँ ये कार्य! अपने दोनो सहायकों से बात करने पर उन्हें आत्मरक्षा-संबंधी कोई संदेह तो बाबाजी पर न रहा, किंतु उनका वास्तविक भेद जानने की उत्कंठा बलवती हुई। अवसर पाकर एक दिन दोनो राजा स्वयं स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए, और सबसे पूर्व अपनी उत्कंठा के संबंध में पूछ-गछ करने लगे।

इवाक-नरेश—आपको पाकर हम लोग कृतार्थ हो गए हैं, आशा करते हैं कि हमारे दोनो घरानों के सुदिन आ रहे हैं।

स्वामीजी—आप दोनो नरेशों से मिलकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। मैं यह भी सोचता हूँ कि मेरे धार्मिक तथा इतर कार्यों से आप लोगों को कुछ आश्चर्य भी हुआ होगा।

समतट-नरेश—बाबाजी ! हमें आपके ऊपर किसी प्रकार का संदेह नहीं है। केवल भवदीय कार्य-कौशल पर श्रद्धा और आश्चर्य है।

स्वामीजी—इतना समझ लीजिए, कि धार्मिक लोग भी संसार के न्यूनाधिक ऋणि रहते हैं। ऐसी दशा में यदि अपना ही भविष्य बनाने को हम लोग केवल पूजा-पाठ करें, तो वह ऋण कैसे अदा हो? फिर मेरा तो धर्म भी पृथ्वी-माता का पूजन है। बहुतेरे सांसारिक झगड़े भूमिदेवी से ही संबंध रखते हैं। वसुंधरा के एक सच्चे पुजारी को न्याय-पूर्ण अधिकारियों की सहायता करने की भी शक्ति रखनी चाहिए।

डवाक-नरेश—क्षमा कीजिएगा, स्वामीजी ! इतना मैं और जानना चाहूँगा कि क्या आप हमारी सहायता में प्रयत्नशील होने की कृपा करेंगे?

समतट-नरेश—यह क्या पूछते हो, भाईजी ! एक प्रकार से इस यत्न-शीलता का आरंभ हो ही चुका है, सो भी साफल्य के साथ।

स्वामीजी—मैं आप दोनों महोदयों का पक्ष न्याय-पूर्ण समझने से आपकी विजय-कामना रखता हूँ, फिर भी यदि आप स्वयं समर्थ हों, तो मुझे इसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति-मात्र बना रहना रुचिकर होगा।

डवाक-नरेश—हम लोग यदि ऐसे समर्थ होते, तो अपने राज्य ही क्यों खो बैठते?

समतट-नरेश—अब तो हम दोनो की गणना दीन-हीन व्यक्तियों में है। थोड़ा-बहुत कोष पास अवश्य है, किंतु राज्यार्थ युद्ध कोई एक-दो दिनों की बात तो है नहीं, इसके लिये असंख्य धन, जन बल, कौशल आदि की आवश्यकता है।

डवाक-नरेश—जो युक्तियाँ एक ही दिन की बात में आपने हमारे अमात्य फल्गुदत्तजी को बतलाई हैं, तथा कुछ ही घड़ियों की सेवा से

प्रसन्न होकर जैसे उनका उद्धार किया है। इन घटनाओं को सोचकर हम लोग न तो आपसे उऋण हो सकते न यथासाध्य छोड़ ही सकते हैं। (हाथ जोड़कर) अब स्वामीजी! हम अनाथों पर ऐसी ही कृपा बनी रहे।

स्वामीजी—इतने दैन्य-प्रकाशन की आवश्यकता ही क्या है? मैंने तो यह व्रत ही ले रक्खा है कि सज्जनों की सहायता करूँ। यदि आप मुझे इस कार्य में फाँसना ही चाहते हैं, तो भी मुझे आपत्ति नहीं।

समतट-नरेश—धन्य स्वामीजी, धन्य!

डवाक-नरेश—अब हम दोनो सनाथ हुए। हम लोगों की इच्छा है कि आपको अपना महाबलाधिकृत बनावें। केवल इसकी अनुकूलता अभीष्ट है।

स्वामीजी—मैं कोई पद नहीं ग्रहण करना चाहता, केवल निःशुल्क मंत्री हूँगा। कार्य और लोग करें, मंत्र से सहायता मैं दे दिया करूँगा।

डवाक-नरेश—इसमें भी हम लोगों को आपत्ति नहीं है, किंतु निःशुल्क सेवा आप क्यों करनी चाहते हैं?

स्वामीजी—एक तो धन की मुझे आवश्यकता ही क्या है, फिर समयोचित सहायता जब पृथ्वी-माता से होती ही रहती है, तब किसी अन्य से कुछ लेने का मुझे क्या अधिकार है?

समतट-नरेश—यह तो एक अपूर्व बात है। क्या पृथ्वी-माता युद्ध-कार्य में भी ऐसी कोई धन-संबंधी सहायता कर सकती हैं?

स्वामीजी—नहीं, उन्हें तो भक्तों के भोजनाच्छादन-मात्र की चिंता रहती है। युद्ध-संबंधी व्यय वह नहीं उठातीं।

डवाक-नरेश—यदि कभी हम लोगों को धन अथवा जन-बल की आवश्यकता पड़ जाय, तो कैसी ठहरे? इसके संबंध में युक्तियाँ तो

आप बतला चुके हैं, किंतु यदि फिर भी आवश्यकता पड़े, तो क्या हो !

स्वामीजी—यह कुछ कठिन प्रश्न है। मेरी कुछ शिष्यमंडली यन्त्र-तन्त्र फैली है, जिससे बीस-पचीस सहस्र दीनारों तथा दस-पाँच सहस्र योद्धाओं की सहायता अवसर पड़ने पर शायद मिल जाय।

समतट-नरेश—इस निबंध के लिये वे लोग हमसे क्या चाहेंगे ?

स्वामीजी—मैं तो पहले ही कह चुका कि मेरा केवल धार्मिक कार्य है। न तो मैं कोई निबंध या धन-मान-प्राप्ति कर सकता हूँ, न मेरी शिष्यमंडली। हम लोग केवल न्याय-पक्ष की जीत चाहते हैं। यदि आप दोनो अपने-अपने देशों के नरेश हो जायँ, तो हमारी अभीष्ट-सिद्धि है। कुछ लेने-देने अथवा उपहार का प्रश्न न पहले उठता है न पीछे के लिये। मैं आप दोनो की केवल मंगल-कामना करता हूँ।

डवाक-नरेश—आश्चर्य ! महदाश्चर्य !

समतट-नरेश—तब फिर कार्यारंभ के लिये क्या आज्ञा है ? बाहरी सेना आवेगी कैसे ?

स्वामीजी—विविध रूपों में आवेगी। कोई कुछ बेचने, कोई कुछ। प्रायः बनजारों के रूप में सुविधा बैठेगी। जिन-जिन वस्तुओं की अपने को आवश्यकता होगी, वही बेचने आवेगी, और अपने गोइंदे ले लेंगे। सौ-सौ दो-दो सै की मंडली में बनजारे चलते ही हैं। रहा कार्यारंभ, उसके लिये सम्मति दे ही चुका हूँ।

समतट-नरेश—तब फिर आप यहाँ से पधारकर हमारे मंडल की ओर चलने का प्रबंध आरंभ कर न दीजिए ?

स्वामीजी—आपने मुझे मंत्रदाता बनाया है। यह काम कहीं से हो सकता है। लीजिए, मैं अभी से प्रारंभ करता हूँ।

डवाक-नरेश—बड़ी कृपा, क्या आज्ञा है ?

"स्वामीजी—मेरी पहली सलाह यह है कि किसी का एकाएकी विश्वास न करना चाहिए। जो लोग अपने में अलौकिक महत्ता या उदारता का आरोपण बातों में करते हैं, वे एक सहस्र में ९९९ बेईमान, झूठे, दग़ाबाज़ और अविश्वासी होते हैं।

समतट-नरेश—सो तो यथार्थ ही है; स्वामीजी!

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि स्वयं मेरे कथन इसी कोटि में आते हैं। नीति का सामान्य वचन मुझे अविश्वसनीय बनाता है। उच्चता-पूर्वक बातों के अतिरिक्त कार्य से अभी तक मैंने केवल आपके दो सहायकों का कारागार से मोचन किया है। आप क्या जान सकते हैं कि मैं किसी का गुप्त भेदिया नहीं हूँ? स्वयं गुप्तों का गुप्तचर हो सकता हूँ। आप पूर्व से ही समय निश्चित करके आज यहाँ पधारे हैं। संभव था कि धोखा देकर बंदी बनवा देता।

डवाक-नरेश—यही बात आपकी सत्यता प्रमाणित करती है।

स्वामीजी—संभव है कि आज किसी कारण से कूट-नीति का प्रबंध न हो सकता हो; और कभी दाँव लगाया जाय।

डवाक-नरेश—इतना संदेह बढ़ाने से कोई सच्चा हितू भी न मिलेगा, बाबाजी!

स्वामीजी—अधिक भोलेपन पर चलने से धोखा भी संभव है।

समतट-नरेश—हमारे विश्वास-पात्र दमघोषजी चरित्र चिरकाल-पर्यंत देखकर आपको विश्वसनीय समझते हैं।

स्वामीजी—उन्होंने मेरा केवल वाह्यरूप देखा था, आंतरिक नहीं। मेरी कारागारवाली कार्यवाही से वह भी आश्चर्यित हुए थे। संभव है कि कभी कोई उलटी बात भी निकले।

समतट-नरेश—सो बात न होगी, ऐसा हमें निश्चय है।

स्वामीजी—फिर भी मेरा पहला मंत्र यह है कि चार-छ महीनों तक मुझे अपने गुप्त भेद न बतलाए जायँ। मैं शुद्ध हृदय से मंत्र

देता रहूँगा। इतने दिनों में आपको बहुतेरी ऐसी बातें मिल रहेंगी, जिनसे पूर्ण विश्वास योग्य प्रमाण प्राप्त हो जायँगे।

डवाक-नरेश—प्रमाण तो हमें अब भी प्राप्त हैं, किंतु आपकी आज्ञा का पालन होगा। अब शत्रु के वंगीय प्रबंध-विमर्दन का काम उमंग-पूर्वक आरंभ होगा, गुरुदेव! आप कुछ दिन यहीं या जहाँ चाहें विराजें। आपको प्रतिसप्ताह समाचार मिलते रहेंगे, और आवश्यकतानुसार शीघ्रतर भी। जब यह समझें कि आपके हमारे समीप विराजने का समय आ गया है, या हमीं लोगों को इसकी आवश्यकता भासित हो, तब कैसा किया जाय।

समतट-नरेश—इस विषय की हमलोग निश्चित प्रार्थना किए लेते हैं।

स्वामीजी—यह नितांत उचित और नीति के अनुसार है।

इस प्रकार परामर्श करके दोनो राजन्य सवर्ग अपने स्थान को पधारे, तथा गुप्तों के वंगीय प्रबंध बिगाड़ने का कार्य दृढ़ता के साथ आरंभ हुआ। किसानों से भूमि कर आधा-चौथाई ले-लेकर उन्हें पूरे कर, प्राप्ति की सकार मिलने लगी। साम्राज्य का कोष लूटा जाने लगा। दंड-विभाग, धन-विभाग आदि के सरकारी कार्यकर्ता लूटे और मारे जाने लगे। छोटी-छोटी सरकारी सेनाओं का भी विनाश होने लगा। गुप्तों के सैनिक-विभाग की रसद लुटने लगी, यहाँ तक कि सेना में निराहारता की भी दशा कभी-कभी आ जाने लगी। वंगीय लघुकाय गुप्त-दल कुछ कर न सका, और उसका देश पर से अधिकार उठ-सा गया। स्थानिक कार्यकर्ताओं ने यह सूचना अयोध्या भेजी। वहाँ से थोड़ा-सा दल और आया, किंतु वह भी उपर्युक्त कार्यवाही के कुचक्रों में पड़कर असफल हो गया। अयोध्या को फिर से सूचना भेजी गई, और इस बार एक लघु सेना स्वयं नवीन महाबलाधिकृत की अध्यक्षता में आई। यह देखकर वंगीय विद्रोही-दल जल और वनपूर्ण मार्ग-हीन विविध

स्थानों में जा छिपा। वहाँ पूरा राजकीय दल तो पहुँच नहीं सकता था, सो वह भी टोलियों में बटकर विद्रोहियों की खोज में प्रवृत्त हुआ। वंगीय विद्रोही भारी सेनाओं के निकट नहीं जाते थे, और छोटी-छोटी टुकड़ियों को काट डालते थे। एक बार प्रायः दस सहस्र सरकारी सेना जल-पूर्ण स्थानों में ऐसी फँसी कि उसके पास भोज्य सामान पहुँच न सका, और उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। विद्रोहियों ने उसे निरस्त्र करके बाहर निकाल दिया, जिससे साम्राज्य के बल की धाक न्यूनाधिक मंद पड़ी। प्रायः एक वर्ष-पर्यंत इसी प्रकार दंद मचा रहा, और सरकारी सेना इस अयोग्यता से चलाई गई, तथा विद्रोहियों के नेता ऐसे चैतन्य रहे कि साम्राज्य का वंगीय अधिकार बहुत कुछ चीण पड़ गया। बेचारे ग्रामिक आदि यह न निश्चय कर पाते थे कि किसे अपना स्वामी समझें? विद्रोहियों के सहायक बाबाजी अब खुले-खुले उन्हीं में रहने लगे, और उनकी युक्तियों से दोनो नरेशों का बल अच्छा वर्द्धमान हुआ।

कई वंगीय स्थानों में अब खुला-खुला उनका शासन था, और जहाँ न था, वहाँ भी उनके उपद्रव कम न थे। फिर भी उन लोगों ने लोभ की ऐसी कमी रक्खी तथा प्रजा-पीड़न को ऐसा बचाया कि उस पर गुप्त शासन-काल से थोड़ा ही अधिक दबाव पड़ा। विप्लव के उपद्रवों से जिसकी विशेष हानि हो जाती थी, उसकी विद्रोही शक्तियाँ धन से भी सहायता कर देती थीं। इन कारणों से भारी गड़बड़ होते हुए भी न तो प्रजा उजड़ी, न उसे विशेष कष्ट ही हुआ। एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक सेना प्रयत्न करती रही, किंतु वंगीय प्रबंध-स्थापन का कार्य पूरा न हो सका, वरन् गड़बड़ी जैसी-की-तैसी बनी रही। यह समझ पड़ने लगा कि अशांति-उन्मूलन का यह कार्य अनंतप्राय था।

द्वादश परिच्छेद

गुप्त-साम्राज्य

अयोध्या भारतीय सप्त पुनीत पुरियों में एक है। जब से सम्राट् समुद्रगुप्त ने इसे राजधानी बनाया, तब से इसका प्रभाव बहुत बढ़ा है। राजकीय विभागों तथा अधिकारियों के लिये बड़े-बड़े हर्म्यादि बनाए गए हैं। राजप्रासाद साम्राज्य के योग्य है। इसके चारों ओर प्रशस्त मैदान दूर तक चला गया है। ऊँचा तीन खंडों का है, तथा सब ओर से सुंदर वातायनों, गवाक्षों, अलिंदों आदि से सुशोभित है। जब मैदान में मेला, चौगान, खेल, तमाशे इत्यादि होते हैं, तब इन अलिंदों में महादेवी, रानियाँ तथा राजकीय परिवार की अन्य महिलाएँ उन्हें देखने को विराजती हैं। मुखद्वार ऊँचा और प्रशस्त है, जिसमें रथादि सुगमता-पूर्वक आ-जा सकते हैं। मुख-द्वार-तोरण पर प्रातःकाल नौबत झरा करती है। मुखालिंद-तोरण पर सम्राट् विराजकर प्रजा को दर्शन दिया करते हैं। उसके नीचे सदैव अविरल जन-संपात रहता है। प्रासाद में सब ओर पाषाण-वेदिकाएँ बनी हैं, जिनमें स्तंभों पर योषित-प्रतिमाएँ परम सुंदर प्रकार से निर्मित हैं। उनमें प्रायः नग्न यक्षिकाएँ देख पड़ती हैं। फाटक पर मकर-तोरण सुशोभित है। वहाँ द्वारपालों की अध्यक्षता में पुरुष-रक्षक तथा स्त्री-रक्षिकाएँ रहती हैं। प्रतीहार यत्र-तत्र कार्यों में व्यस्त हैं। महाप्रतीहार सब प्रासाद-सेवकों पर पूर्ण अधिकार रखता है। यद्यपि वंग में राजविद्रोह अब तक दबाया नहीं जा सका है, तथापि उसका कोई प्रभाव प्रासाद अथच राजधानी की शोभा में नहीं देख

पड़ता। अंतः सदन में मुख्य प्रवेश के लिये खोजाओं से काम भी लिया जाता है। प्रासाद में यथास्थान तूर्य, घंट, शंख, पुष्कर, वीणा, वेणु आदि के श्रवण-सुखद कलरव सुनाई देते हैं। व्यवहारासन, धर्मासन आदि में विविध अमात्य अपने-अपने पदों के अनुसार कार्य-संपादन करते हैं। न तो कहीं गुल-गपाड़ा मचता है, न सहस्रों लोगों के होते हुए भी कोई अव्यवस्था देख पड़ती है। सब लोग उचितरीत्या अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं।

आजकल शक्तिपूर के युवराज सवर्ग पधारे हैं, तथा उन्हीं के इच्छानुसार राजकुमार चंद्रगुप्त ने मित्रों का एक छोटा सा साहित्यिक समाज जोड़ा है, जिसमें उपयुक्त महानुभावों के अतिरिक्त और मित्र-मंडली भी एकत्र है। इस मंडली में महादंडनायक, दंडपाशाधिकरण तथा नवीन वैद्यराज बालेंदुशेखर भी उपस्थित हैं। समय ऐसा निकाला गया है कि शीघ्रता न करनी पड़े। यह मंडली सम्राट् रामगुप्त की इच्छा से राजप्रासाद ही में एकत्र हुई है, किंतु अभी तक वह पधारे नहीं हैं, वरन् आज्ञा आ चुकी है कि कार्यारंभ हो जाय। कालिदास अपने रघुवंश महाकाव्य का निर्माण आरंभ कर चुके हैं। यहाँ कोई कवि-सम्मेलन नहीं है, वरन् उन्हीं की नवीन रचना सुनने को यह विद्वन्मंडली एकत्र है। राजपुत्र चंद्र तथा इंद्रदत्त के अनुरोध से महाकविजी थोड़े-से छंद सुनाने को उद्यत हुए हैं।

कालिदास—महोदयो, यदि आपकी इच्छा मेरी साधारण रचना को मान प्रदान की हुई है, तो मेरा अहोभाग्य! अच्छा, सुनिए। केवल रघुवंश के ही छंद कहूँगा—

> बानिहूँ अरथ के समान जे मिलेई रहे,
> न्यारे न रहत कबौं कौन हू दसान मैं;
> बानिहू अरथ की सफलता लहन काज
> बंदत सदा ही गौरि सिव सावधान मैं।

जगत के मातु-पितु ह्वै करि दया सों भरि
पालि कै जहान जिन सुख सरसायो है;
डमरू बजाय, पुनि मोद को बढ़ाय गीत
व्याकरन दोउन प्रगटि दरसायो है।

दंडपाशाधिकरण—महाशय! आपने गणेशजी की बिनती आदि में न की?

इंद्रदत्त—यदि उनकी न की, तो उनके दोनो पितरों की कर दी।

कालिदास—क्या इतने पर भी वे अपनी विघ्नकारी सेना का प्रयोग मुझ पर कर ही देंगे?

चंद्रगुप्त—क्यों करने लगे, क्योंकि विघ्नेश का पद भी तो इन्हें रुद्र से ही मिला था। (सब लोग हँसते हैं)। अब कोई और छंद सुनाने की कृपा हो।

कालिदास—गुणौ-दोष जानै भली भाँति सों जे;
सुनैं मोद सो संत या को सदा ते।
तथा कालिमा लालिमा हेम केरी
सिखी-ताप ही सों परै नैन हेरी।

महादंड नायक—अब तो हम लोगों की भी चाटुकारिता होने लगी।

इंद्रदत्त—किंतु समझने की पात्रता उपार्जित करने को हमें संत भी बनना होगा।

दंडपाशाधिकरण—और नहीं तो क्या? चलिए, पहले केश मुंडित कराके वल्कल धारण करें।

कालिदास—यदि सुपात्रता प्राप्त कर लीजिए, तो शायद इतना कष्ट भी न उठाना पड़े।

चंद्रगुप्त—तब तो सुनने को चित्त शायद हुलसने लगे।

कालिदास—पौन भरै वर बाँसन मैं,
तिनसों मुरली-सम तान सुहाई;

पूरित होत दसौ दिसि मैं.
बन मैं अति-ही स्रुति-आनँददाई।
मानहु कुंजन मैं बनदेव
भरे मुद मंजुल बीन बजाई;
गावत कीरति भूपति की पय-
फेन-सा जौन दिगंतर छाई।
ता बन-पालक के फिरतै बन
मैं बिन ही बरषा सुखदाई;
गो बुझि घोर दवानल त्यों,
फल-फूल भए अति ही अधिकाई।
जीवबहुते बल-हीन जिते, तिनको,
बलवान सके न सताई;
कानन हू मैं दिलीप महीपति
राज-समान सुनीति चलाई।

इंद्रदत्त—वाह महाकविजी, वाह! कहाँ वन में गोचारण और कहाँ राजसी ठाठ! दोनो का मिलाना आप ही का काम था।

कालिदास—धन्यवाद! अब और सुनिए—

त्रान करै निहिचै छतसों,
यहि कारन छत्रिय नाम परयो है;
जाहिर या बसुधातल मै यह
बैन महान प्रभाव भरयो है।
ता गुन सों बिपरीत चले नृप,
तो महँ लाभ कछू न लखाई;
प्रान मलीन धरे धिक है,
अपकीरति जासु दसौ दिसि छाई।

चंद्रगुप्त—धन्य महाकवि, धन्य! क्या बढ़िया राजधर्म कहा है!

महादंडनायक—आज कल इस प्रकार की दशा देश में प्रायः उपस्थित हो जाती है।

कालिदास—पौन-बिहीन सरोजहि-से थिर,
ईछन सों सुत सुंदर को मुख;
देखन मैं तेहि काल अलौकिक
जौन महीप दिलीप लह्यो सुख।
सो न समाय सक्यो तन मैं, बरु
बाहेर सीमहि लाँघि भयो इमि—
पूरन चंद बिलोकि गुनागर
सागर को जल-ओघ बढ़ै जिमि।

दंडपाशाधिकरण—इस छंद में पुत्रोत्पत्ति की प्रसन्नता का क्या ही अच्छा रूप आया है?

इंद्रदत्त—अवश्यमेव बहुत ही बढ़िया छंद है।

इतने ही में प्रतीहार घोषित करता है कि सम्राट् महोदय की अवाई हो रही है। सब लोग अभ्युत्थान देते हैं, और परम भट्टारक पधारकर अपने आसन पर विराजते हैं।

सम्राट्—कहिए महाकविजी! क्या कथन हो रहा था?

कालिदास—रघुवंश के कुछ चुने हुए छंद सुनाए जा रहे थे, देव! अब तक बहुतेरे छंद हो चुके हैं। आज्ञा हो, तो कोई अन्य विषय उठाया जाय?

सम्राट्—(चंद्रगुप्त से) इन दिनों आपने एक सुंदर यवनिका बनवाई थी। कुछ पात्र भी एकत्र हुए थे।

चंद्रगुप्त—उसके लिये तो प्रबंध हो रहा है, देव!

इंद्रदत्त—यदि देव की इच्छा हो, तो मित्र-मंडली में ही पात्र बनाकर एक आत्मीय एवं अंतरंग खेल तैयार किया जाय।

सम्राट्—यह तो बहुत ही अच्छी बात है। सुना, हमारे महा-कविजी ने कोई नवीन नाटक बनाया भी है।

कालिदास—अभी बनाया तो नहीं है, परम भट्टारक! किंतु उसका ढाँचा तैयार हो चुका है, तथा कुछ भाग बन भी चुके हैं।

सम्राट्—नाम क्या है?

कालिदास—नाम है शकुंतला नाटक।

इंद्रदत्त—(सम्राट् से) इसी के खेलने का प्रबंध क्यों न हो, देव!

सम्राट्—बहुत ठीक है।

इंद्रदत्त—मैंने कई लोगों से बात की; तो बहुतेरे सज्जन इसमें भाग लेने को प्रस्तुत हैं।

बालेंदुशेखर—यदि देव की आज्ञा हो, तो मेरी कन्या चिप्राबाई शकुंतला बन सकती है।

सम्राट्—क्या हानि है?

बालेंदुशेखर—अच्छा, फिर दुष्यंत कौन बनेगा?

सम्राट्—यदि कोई और न मिले, तो इस पात्र का भार स्वयं मैं ले सकता हूँ।

महादंडनायक—इससे प्रोत्साहन तो हम लोगों का पर्याप्त होगा, किंतु अभी आदि में कोई और ही बनता, तो अच्छा था। यदि देव बनेंगे, तो देखेगा कौन? (इंद्रदत्त से) आप ही क्यों न बन जाइए?

इंद्रदत्त—क्या हानि है?

चंद्रगुप्त—अच्छा, कण्व और दुर्वासा कौन-कौन बनें?

कालिदास—जब स्वयं युवराज महोदय दुष्यंत बनते हैं, तब मैं कण्व ऋषि का काम करूँगा तथा दंडपाशाधिकरण महोदय दुर्वासा बन जायँ।

सम्राट्—इनका काम भी दंड देना है; सुझाया आपने ख़ूब। अच्छा, अनसूया और प्रियंवदा कौन-कौन होंगी?

इंद्रदत्त—शक्तिपुर की बाई माधवी इन दिनों यहीं है, वह इनमें से एक काम कर देगी ; दूसरी कोई और विचार ली जाय।

सम्राट्—इन साध्वी सखियों का मान अच्छा हो रहा है। (लोग हँसते हैं।)

कालिदास—दूसरी सखी माधवी ही सोच लेगी।

इंद्रदत्त—ठीक है। अच्छा, मांडव्य कौन होगा ?

कालिदास—यह पात्र कुछ कठिन है। विदूषक का काम सुगम नहीं। बड़े कौशल की आवश्यकता रहती है।

सम्राट्—मैं समझता हूँ कि महाबलाधिकृत इसके लिये अच्छे होंगे।

बालेंदुशेखर—परमेश्वर ने सुझाया अच्छा; मैं भी पसंद करता हूँ। इन्हें कोई आपत्ति तो न होगी ? आजकल हैं यहीं।

चंद्रगुप्त—वह तो इसे बहुत पसंद करेंगे।

सम्राट्—यही बात है। मैं समझता हूँ कि मातलि का काम मेरे सारथी कर देंगे।

कालिदास—तब तो मुख्य-मुख्य पात्र निश्चित हो ही गए। जो शेष हैं, वे और सोच लिए जायँगे।

सम्राट्—सज्जनो ! अब यदि इच्छा हो, तो मंत्रणागार में भी कुछ देर बैठक हो जाय। कुछ बातें हैं आवश्यकीय।

महादंडनायक—क्यों नहीं देव ? आज अमात्य-परिषत् की बैठक के लिये सूचना भी जा चुकी है। भद्रपीठ, भद्रासन, वेत्रासन आदि वहाँ पर सजाए जा चुके हैं। पधारना हो न ?

सम्राट्—समय भी आ चुका है।

इस प्रकार परामर्श होकर और सब लोग अपने-अपने स्थानों को चले गए, तथा चंद्रगुप्त, कालिदास, इंद्रदत्त अथच मुख्य मंत्री लोग सम्राट् की सेवा में मंत्रणागार में उपस्थित हुए। जब सम्राट्

समेत सब लोग यथास्थान स्थित हो चुके, तब देव ने यों परामर्श आरंभ किया—

सम्राट्—अभी तक वंगदेशीय उपद्रव तो पूर्णतया शांत नहीं है, और उधर उज्जयिनी से भी आक्रमण का आरंभ सुन पड़ता है।

सांधिविग्रहिक—सुनने में तो यही आया है, देव!

सम्राट्—इसका क्या प्रबंध योग्य है?

महा मंत्री—अभी शकों से वैमनस्य का कोई कारण तो है नहीं।

चंद्रगुप्त—मैंने सिंहसेनजी से युवराजत्व के समय गुप्तों और शकों में मित्र-भाव स्थिरीकरण के विषय में बात भी की थी, किंतु उनका उत्तर बहुत आशाप्रद न था।

कालिदास—फिर भी प्रयत्न करने से सफलता-प्राप्ति संभव है, यद्यपि निश्चय नहीं हो सकता।

सम्राट्—(महाबलाधिकृत से) क्यों आर्य! इसमें आपकी क्या सम्मति है?

महाबलाधिकृत—मैं समझता हूँ कि जब तक वंग का विरोध शांत न हो, तब तक इधर झगड़ा न छिड़ना था अच्छा।

अक्षपटलाधिकृत—आर्थिक दशा तो साम्राज्य की ठीक है, किंतु आगा-पीछा सोचकर काम करना योग्य है ही।

सांधिविग्रहिक—अपना साम्राज्य दृढ होकर भी है अभी थोड़े समय का; इसी से कुछ शक्तियों को इससे ईर्ष्या-सी है।

चंद्रगुप्त—यही तो बात है, बहुत समझ-बूझकर चलने की आवश्यकता है।

सम्राट्—कोई भय तो समझ नहीं पड़ता, किंतु प्रयत्न मेल का कर ही लिया जाय।

सांधिविग्रहिक—संकट का विचार मुझे भी नहीं दिखता।

चंद्रगुप्त—जब पितृचरण ने नागों और वाकाटकों को पद-दलित किया था, तब इन्हीं शक्तियों को क्या भय समझ पड़ता था ?

सम्राट्—मैं तो आपके संशयों में कुछ आततायीपन की दुर्गंध देखता हूँ।

चंद्रगुप्त—जैसी आज्ञा।

महामंत्री—मेरी समझ में महाकवि कालिदास ही राजदूत बनाकर भेजे जायँ।

चंद्रगुप्त—क्यों कविवर ! आप यहीं के आदिम-निवासी भी हैं।

कालिदास—कहाँ साहित्य-रचना और कहाँ सन्धि-विग्रह का परामर्श ! मुझसे तो उपमाएँ सुन लीजिए।

सम्राट्—वह भी सुनाइएगा, किंतु पहले साम्राज्य तो चिंता-हीन हो।

चंद्रगुप्त—इसमें आप आगा-पीछा न कीजिए मित्रवर ! जो काम वहाँ आपसे बनेगा, वह दूसरा न संपादित कर सकेगा।

कालिदास—वहाँ महाक्षत्रप महोदय ऐसे कुछ हठवादी हैं कि एक बार निश्चय करके मत-परिवर्तन प्रायः नहीं करते।

सम्राट्—दौत्य के असाफल्य से भी आपकी योग्यता पर कोई संदेह थोड़े ही उठ सकता है। और तो कोई आपत्ति नहीं है ?

कालिदास—आपत्ति यह भी नहीं है, देव ! केवल मानसिक भ्रम था।

सम्राट्—तब फिर यात्रा का प्रबंध कीजिए, शायद इस विषय पर सर्व-सम्मति है।

महामंत्री—ऐसा तो है ही देव !

इस प्रकार परामर्श के पीछे मंत्रिमंडल ने सर्व-सम्मति से यह बात स्वीकार की, और यथासमय महाकवि कालिदासजी राजदूत बनकर

स्वदेशार्थ प्रस्थित हुए। समय पर जब उज्जयिनी में इन्होंने पदार्पण किया, तो शक-मंत्रिमंडल द्वारा इनका यथायोग्य मान हुआ, तथा अभिप्राय जानने पर अमात्य-परिषत् में परामर्श होकर दरबार कराया गया। प्राभृतक, प्रदर्शन, भेंट, नज़र-निछावर तथा साधारण कुशल-प्रश्न के पीछे यों बात हुई—

महामन्त्रीजी—कहिए महाकविजी ! सम्राट् महोदय ने क्या आज्ञा की है ? हम लोगों का आपके इस रूप में पधारने से भारी मान हुआ है।

महाक्षत्रप—यों तो आप हमारे ही थे, और शायद हैं भी, तथापि इस रूप में हम आपको उन्हीं का प्रतिनिधि समझते हैं।

कालिदास—यह योग्य ही है, देव ! मैं तो आपकी राजभक्त प्रजा अवश्य ही हूँ, किंतु जब तक वहाँ हूँ, तब तक उनकी ओर से निवेदन करूँगा ही। अब मेरा यहाँवाला रूप स्थगित समझना होगा।

सांधिविग्रहिक—सो तो ठीक ही है। हाँ, कहिए, सम्राट् महोदय क्या चाहते हैं ?

कालिदास—उनका कहना है कि आजकल यहाँ कुछ सामरिक तैयारी की बातों के जो समाचार मिले हैं, उनके विषय में जानना है कि क्या बात है ? कहनेवाले कहते हैं कि शक-शक्ति शायद साम्राज्य के प्रतिकूल जाने के विचार में हैं।

महाक्षत्रप—हाँ, कहते जाइए।

कालिदास—जहाँ तक राजकीय संबंध है, इस शक्ति से साम्राज्य का मित्र-भाव सदैव अक्षुण्ण रहा है। ऐसी दशा में ऐसा कौन-सा नवीन प्रश्न उपस्थित हुआ, जिससे संदेह की बात खड़ी हो रही है ?

सांधिविग्रहिक—बात यह है कि यह शक्ति साम्राज्य से बिगाड़ न कभी करती थी, न अब करना चाहती है। फिर भी इतनी बात अवश्य

है कि साम्राज्य ने थोड़े दिनों से जो दक्षिण की ओर पैर बढ़ाए हैं, उससे यह शक्ति एक प्रकार से अपना घिर जाना-सा मानती है। यह शक-शक्ति भी सदा से अपने को मध्य भारतीय सम्राट् मानती आई है, यद्यपि देश में अभी इस रूप का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ है।

कालिदास—इस कथन का अर्थ बहुत दूर तक भी जा सकता है। क्या कृपया यह आज्ञा की जायगी कि उज्जयिनी साम्राज्य से क्या चाहती है?

महाक्षत्रप—बात यह है कि जहाँ से अपना राज्य है, वहाँ से दक्षिण यदि साम्राज्य प्रसर करेगा, तो झमेला उठेगा, ही। वर्मनों की जो मालव-शक्ति है, उसे किसी से भी यथेच्छित संधि करने का अधिकार रहना चाहिए। वह गुप्तों से या शकों से चाहे जैसी संधि करे। उसमें दक्षिण गुप्तों को न बढ़ना चाहिए। हाँ, वाकाटकों से जो उनकी संधि है, उसके प्रतिकूल हमें कुछ नहीं कहना है।

कालिदास—इन कथनों में तो पल्लव आदि दाक्षिणात्य नरेशों से साम्राज्य के जो व्यवहार हैं, उनमें अंतर आता है।

महामंत्री—यह तो बात ही है।

कालिदास—ऐसी दशा में मुझे दो विनतियाँ देव की सेवा में उपस्थित करनी हैं; एक तो आत्मीय और दूसरी राजकीय।

महाक्षत्रप—आत्मीय कथन शायद राजकुमार चंद्रगुप्त का हो।

कालिदास—यही बात है, देव! उनका कहना है कि बिना कारण प्राचीन मित्रों में वैमनस्य न होना चाहिए। वे नहीं चाहते कि देव से जो उनकी प्रगाढ़ मित्रता है, उसमें अंतर पड़े।

महाक्षत्रप—अच्छा, दूसरी बात कहिए।

कालिदास—वह साधारण और प्रकट है। गुप्तों से शक-शक्ति का व्यवहार सदैव प्रेम-पूर्ण रहा। अब भी उस मित्र-भाव के छिन्न होने का कोई समुचित कारण नहीं है। कहते ही हैं कि युद्ध के दो

शीश होते हैं। कौन कह सकता है कि इसका फल किस ओर झुकेगा ?

महाबलाधिकृत—यह कथन बहुत कुछ योग्य है ही, फिर भी यदि सम्राट् समुद्रगुप्त इतना आगा-पीछा सोचते, तो भारतीय विजयार्थ एकाएकी निकल न पड़ते।

महाक्षत्रप—इतना समझे रहना चाहिए, महाकविजी ! कि जब उन्होंने पलक मारते हुए जादू की छड़ी-सी फेरकर अपना नवीन साम्राज्य स्थापित कर लिया था, तब क्या उस मित्र-शक्ति ने शकों से पूछा था कि इस कार्यवाही में इन्हें कोई आपत्ति तो नहीं ? अपना भला-बुरा सभी सोचते हैं। जब यह शक्ति अपना घिरना समझ रही है, तब सामर्थ्य रखते हुए भी कब तक हाथ-पर-हाथ रक्खे हम लोग बैठे रहें ? रही मित्रता की बात; उसमें बहुत कुछ सार है।

कालिदास—तो मेरी बिनती यह है कि इसी पर विचार करके यह महाभारत न उठाया जाय।

महाक्षत्रप—इसमें भी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं; एक यह कि मेरे निजू मित्र तो गुप्त सम्राट् हैं नहीं, दूसरे मित्र-भाव के कारण मैं बहुत कुछ दब सकता हूँ, किंतु इतना नहीं कि शक-शक्ति के समय पर निर्मूल हो जाने का जो बीज पड़ा हुआ है, उसे सामर्थ्य रखते हुए भी हरा-भरा होने दूँ। यदि चंद्रगुप्तजी हठ करें, तो मैं दाक्षिणात्य कोई भी विशेष राज्य गुप्तों के लिये छोड़ सकता हूँ, किंतु सारा दक्षिण नहीं।

कालिदास—समझ लें, देव ! जिनके मिलने की एक दिन उत्कंठा लगी रहती थी, वे ही अब एक दूसरे के रुधिर-पिपासु हो जायँगे। यह बात प्राचीन शुद्ध मित्र-भाव के कितनी प्रतिकूल पड़ती है ? शक्ति के प्रश्न पर भी मतभेद बहुत कुछ संभव है, किंतु उस विषय पर देव को सम्मति देने का मुझे अधिकार नहीं।

महाक्षत्रप—यह तो मैं भी समझता हूँ, किंतु अस्तित्व सबसे बड़ी आवश्यकता है। यही उत्तर मैंने इन्हें पहले भी दिया था। शक-शक्ति पर जो आपने संदेह प्रकट किया, उस पर यहाँ का मंत्रिमंडल विचार करेगा।

कालिदास—एक बात निजू भी मुझे विनती करनी है।

महाक्षत्रप—हाँ कहिए, क्या इच्छा है?

कालिदास—शायद देव को स्मरण हो कि छोटी महारानीजी का कभी मैं पड़ोसी था, और दोनो कुटुंबों में बहुत प्रेम था, यहाँ तक कि मैं देवीजी को भगिनी के समान मानता था। यदि संभव हो, तो मैं उनके दर्शन निजू प्रकार से करना चाहता हूँ।

महाक्षत्रप—यदि वह भी आपसे मिलना चाहें, तो मुझे कोई आपत्ति न होगी। इस प्रकार संभाषण होने पर महाकविजी का दरबार समाप्त हुआ, तथा समय पर वह मल्लिकाबाई के प्रासाद में ले जाए गए, जहाँ उनका साक्षात्कार हुआ।

मल्लिकाबाई—कहिए, भाईजी! स्वस्थ और प्रसन्न तो हैं?

कालिदास—आपकी कृपा से बहुत प्रसन्न हूँ।

मल्लिकाबाई—आप तो अवंती की सारी संपत्ति बेंच-खोंचकर ऐसे अंतर्धान हुए कि मिलने की आशा ही शेष न थी।

कालिदास—क्या करता, दूर का मामला हो गया। आप तो भली भाँति से हैं न?

मल्लिकाबाई—सच तो यों है कि मैंने महत्त्वाकांक्षा में पड़कर अपने पति का साथ छोड़ तो दिया, किंतु अब थोड़ा-बहुत राजसी गौरव प्राप्त होकर भी पश्चात्ताप बढ़ रहा है। ऐसा विश्वस्त कथन भाईपन के नाते आप ही से किया जा सकता है।

कालिदास—यह अब आप न सोचिए, भगिनीजी! जो हो गया, सो तो हो ही गया! यदि आज्ञा हो, तो एक विशेष बात पूछूँ।

मल्लिकाबाई—क्या आपको भी मुझसे ऐसी बातें करनी चाहिए? भाई-बहन में क्या ऐसी ही प्रीति होती है? जो चाहिए, निर्भय रीति से पूछिए।

कालिदास—धन्यवाद! अच्छा, मैं जानना चाहता हूँ कि राज-काज में भी क्या आपका कोई प्रभाव पड सकता है?

मल्लिकाबाई—पड़ता तो थोड़ा-बहुत अवश्य है, किंतु आप ने सुना ही होगा कि सम्राट् के निश्चयों को कोई हिला नहीं सकता है।

कालिदास—लोगों को वर्तमान सम्राट् रामगुप्त के प्रबंध का माना हुआ ढीलापन ऐसा भारी समझ पड़ता है कि साम्राज्य का भविष्य ही उन्हें सन्दिग्ध दिखने लगा है। इतना तो भी जाने रहना चाहिए, बहनजी! कि जितने युद्धकर्ता बड़े सम्राट् महोदय के समय में थे, वे वर्तमान अब भी हैं, तथा स्वयं उनके स्थान पर सामरिक गौरव में छोटे महाराज माने जा सकते हैं। इनका युद्ध-संबंधी कौशल बड़े सम्राट् वाले से कम नहीं है।

मल्लिकाबाई—किंतु सुना जाता है कि रामगुप्त ऐसे हठी और क्रोधी हैं, कि मंत्रिमंडल में योग्यायोग्य का समुचित बोध नहीं रखते।

कालिदास—है इस कथन में न्यूनाधिक तथ्यांश, किंतु इस हठ के कारण दो-एक हारें होने पर लोगों के समझाने-बुझाने से सँभल अवश्य जायँगे। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जिसे अंत में हँसने का सौभाग्य मिलता है, उसी की प्रसन्नता में वास्तविक सुख है।

मल्लिकाबाई—है यह भी विचारणीय विषय; कहूँगी मैं उनसे अवश्य, किंतु आशा अधिक नहीं है।

कालिदास—यह मैं भी समझता हूँ, देवि! अच्छा, अब आज्ञा हो। यदि डौल लगा, तो फिर कभी दर्शन करूँगा। (कुछ अलं-कार दिखलाकर) क्या भाई के नाते इन्हें भेंट कर सकता हूँ?

मल्लिकाबाई—इतनी दूर जाना ठीक नहीं; किसी ब्राह्मण को देने के स्थान पर उससे कुछ ले लेना कहाँ तक योग्य है। मानती मैं आपको भाई के ही समान हूँ, किंतु लेने के स्थान पर मुझे ही अपने छोटे भाई को कुछ दे देना चाहिए।

कालिदास—छोटे भाई और कवि के लिये बहन तथा महारानी से कुछ पाना अनुचित नहीं, किंतु साधारण वस्तुएँ न लेकर कभी समय पर कुछ माँगूँगा। अभी मेरी भेंट थाती के रूप में आप ही के पास रक्खी जाती है। माँगने पर न देने का भी आपको अधिकार होगा।

मल्लिकाबाई—(हँसकर) बहुत ठीक है, यथासाध्य नाहीं न होगी।

कालिदास—क्या सेना में आपका भी जाना होगा?

मल्लिकाबाई—प्राय: हाँ, और यदि मेरी भी इच्छा हो, तो निश्चय।

कालिदास—तब इतना तो माँगे ही लेता हूँ कि पधारिएगा अवश्य।

मल्लिकाबाई—स्वीकार है।

कालिदास—तो अब आज्ञा हो। आपका समय भी बहुत लिया है।

मल्लिकाबाई—यह तो कहते नहीं कि स्वयं समयाभाव में हैं। अच्छा, प्रणाम।

कालिदास—सौभाग्यवती भव।

इस प्रकार मल्लिकाबाई से मिलकर कविवर ने अपने पुराने मित्रों से गुप्त परामर्श कर करके महाक्षत्रप के सहायकों तथा उसकी आक्रमणार्थ सेना की संख्या, मार्ग आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। प्राचीन मित्रों की भेंटों के बहाने प्रचुर धन व्यय

द्वारा भी आपने छोटे-बड़े सैन्येशों की योग्यता, दल-संचालन की रीति तथा अनेकानेक और ज्ञेय सामरिक बातों का, ज्ञान उपार्जित किया। अयोध्या में कविवर ने युद्ध-शास्त्र तथा अंतरराष्ट्रीय व्यवहारों का भी कौशल प्राप्त किया था। उन्हीं बातों को काम में लाकर शक-शक्ति के निगूढ़ सामरिक भेदों को आपने यथासंभव समझ लिया। अनंतर इन्हें महाक्षत्रप की ओर से सम्राट् के लिये भेंट तथा स्वयं इनके लिये साधारण से अच्छी बिदाई मिली, और महामंत्री तथा सांधिविग्रहिक ने चलते समय इनसे भेंट भी करके यात्रा का समुचित प्रबंध कर दिया। उज्जयिनी में ही इन्हें ज्ञात हो गया कि मालवेश वर्मन-शक्ति ने इस भावी युद्ध में तटस्थता की नीति पकड़ी थी, सौराष्ट्रीय शकों ने सेना भेजी थी, तथा वाकाटकों ने साम्राज्य से अपनी संधि स्थापित रखने को कहा था। प्रायः दो लाख दल से आक्रमण होने को था।

तेरहवाँ परिच्छेद

संकट

यथासमय कविवर कालिदासजी ने अयोध्या पहुँचकर उज्जयिनी की तैयारियों का समाचार मंत्रिमंडल की सेवा में पहुँचाया, तथा गुप्तरूप से अपने भेदिएपन का भी सारा वृत्तांत राजकुमार चंद्र से निवेदन कर दिया। पूरा हाल सुनकर ये प्रसन्न हुए। थोड़े ही दिनों में शक-सेना के उज्जयिनी से प्रस्थान का भी समाचार मिला। तब कुमार चंद्र ने महाबलाधिकृत को सूचित कराया कि प्रायः पाँच सहस्र सेना लेकर कुछ चुने हुए सहायकों के साथ आप स्वयं शत्रु-बल का भेद लेने तथा उसकी चालों के अनुसार साम्राज्य की सेना का उचित नियोजन विचारने को जानेवाले थे तथा इस बात की राजाज्ञा चाहते थे। सहायकों में मुख्यतः युवराज इंद्रदत्त कालिदास, प्राचीन महाबलाधिकृत कृतान्तजी अथच प्राचीन सांधि-विग्रहिक वीरसेन की थी। वर्तमान महाबलाधिकृत को अंतिम दोनो अधिकारच्युत महाशयों के जाने का विचार कुछ अप्रिय लगा, किंतु जब यह प्रश्न अमात्य परिषत् में उपस्थित हुआ, तब मतभेद कम दिखा।

महामंत्री—वीरसेनजी तथा कृतान्तजी ने राज्य के प्रतिकूल तो कुछ किया न था, वरन् केवल मत-प्रकाशन के कारण वे पदच्युत हुए थे।

महाबलाधिकृत—जब एक बार किसी कारण से पदच्युत हुए, तब क्या उनसे कोई राजकीय कार्य लेना अनुचित नहीं ?

महादंडनायक—अनुचित तब होता, जब उनकी राजभक्ति पर संदेह

उठता। उपरिक महाराज राजकीय कोष से तो उनके वेतन चुकाते नहीं, वरन् अपनी युक्ति से या किसी और प्रकार उन्हें संतुष्ट रखते हैं। यह समय राजकीय आज्ञाओं की मान्यता अथवा अमान्यता का न होकर किसी प्रकार से साम्राज्य के सुरक्षित रखने का है।

दंडपाशाधिकरण—वरन् इस गाढ़े समय में उन दोनो का राजभक्त बना रहना बहुत आवश्यक है। यदि शत्रु से मिल जायँ, तो इस संकट के समय अपना बहुत कुछ अनिष्ट संभव हो सकता है।

महामंत्री—फिर राजकुमारजी को देखिए कि तीन प्रांतों के उपरिक महाराज बने रहते हुए सामरिक अन्वेषण-भार भी अपनी इच्छा से ले रहे हैं।

महाबलाधिकृत—उपरिक महाराज तो उन्हें बड़े सम्राट् ने स्वयं बनाया था, किंतु वास्तव में वे महोपरिक हो रहे हैं; गोप्ता का काम तो तीनो प्रांतों में कालिदासजी तथा वे ही दोनो महाशय करते हैं।

महामंत्री—काम तो सब ठीक-ठीक चल रहा है। पाश्चात्य प्रांतों में किसी प्रकार का दुष्प्रबंध नहीं। मुख्य-मुख्य कार्य वे करते ही हैं। अमुख्य कार्यों के विषय में किसी से भी काम ले सकते हैं। इसके लिये वे दोनो व्यक्ति कुछ अनुपयुक्त नहीं।

सांधिविग्रहिक—जब मंत्रिमंडल में ही थे, तब उन पर इतना विश्वास कौन बहुत है? यों तो महोपरिक वास्तव में सम्राट् ही हैं।

महाबलाधिकृत—समझ पड़ता है कि मुझे छोड़कर सारे मंत्रिमंडल में मतैक्य है।

महादंडनायक—ऐसा दिख ही रहा है।

महाबलाधिकृत—तो मैं भी अपना विरोध हटाए लेता हूँ।

महामंत्री—देव तो आज यहाँ विराज नहीं रहे हैं, हम लोगों

की सम्मतियों के पृथक्-पृथक् पत्र-मात्र उनकी सेवा में जायँगे। यदि वास्तविक मत न मिलता हो, तो पृथक् सम्मति लिखने में दोष नहीं है।

महाबलाधिकृत—नहीं, आर्य ! अब मेरी सम्मति ही इतर भाइयों के कथनों से इस विषय पर बदल गई है, और वास्तविक मतैक्य है।

इस प्रकार परामर्श के पीछे सब मंत्रियों ने अपनी-अपनी सम्मति पृथक् पत्रों पर लिख दी तथा परामर्श का विषय महाप्रतीहार को समझाकर उनके द्वारा नियमानुसार सब सम्मति-पत्र सम्राट की सेवा में प्रेषित कर दिए। सम्राट् को भी पहले महाबलाधिकृत की भाँति दोनो पदच्युत मंत्रियों के इस कार्य में सम्मिलित किए जाने में कुछ संदेह हुआ, किंतु पीछे से महामंत्री से विशेष कारण जानकर उन्होंने महाप्रतीहार के द्वारा लिखित स्वीकृति भेज दी।

अनंतर उपरिक महाराज के नाम शासन भेज दिया गया, तथा वे पूर्व निश्चयानुसार पाँच सहस्र सेना अथच पूर्वोक्त मुख्य सहायकों के साथ शत्रुसेन-संचालन का अन्वेषण करने को प्रस्थित हो गए। पाँचों सरदार एक-एक सहस्र सेना लेकर पाँच ओर से चले, किंतु नियम यह था कि वे सब प्रति सप्ताह एक-एक बार सेनापति चंद्रजी से मिलकर सैनिक दाँव-पेंचों पर परामर्श कर लेते थे। पाँचों दल दूतों, सैनिकों आदि के द्वारा अपने से मिले हुए सैनिक-विभागों से आंतरिक संबंध रखते थे, यद्यपि देखने को वे नितांत पृथक् थे और कोई छोटी सेना या लोग उनके बीच में भी पड़कर यह गुप्त संबंध न जान सकते थे, यद्यपि सेन-संचालन के कौशल से वे लोग उसका भेद जान लेते थे। प्रत्येक अनी से भी सौ-सौ योद्धा अपने-अपने चमूपों की अध्यक्षता में कई टुकड़ियों में दो-तीन ओर चलते थे। कुछ ही काल में इनका चाक्षुष संघट्ट शत्रु-दल से हो गया। और उसे पराजित करने के समुचित स्थानों पर भी इन पाँचों की सम्मति मिल

गई। अपने चारों साथियों को राजकुमार समर-कौशल की विविध कार्यवाहियों को बतलाते भी जाते थे और इतरों की मंत्रणाओं तथा इन्हीं की आज्ञाओं से सारा प्रबंध हो रहा था। इनको यह भी भेद मिल गया कि साम्राज्य के अन्य महाराजाओं की सेनाएँ तो सहायतार्थ आ रही हैं, किंतु वाकाटकों की ओर से ढील है। अतएव उनके पास मृदु आज्ञा-पत्र के साथ उच्च कक्षा के दो राजदूत भेजे गए। जिनके प्रयत्नों से उस राज्य ने भी सेना भेजने का प्रबंध किया। चंद्रगुप्त ने प्रायः १५ दिनों के प्रयत्नों से ताड़ लिया कि अमुकामुक स्थानों से शत्रु पर सफल आक्रमण मार्ग में ही संभव था। सबसे पहला मोरचा नर्मदा पार करते समय सोचा गया, और फिर अन्य पहाड़ी स्थानों तथा नदियों के घाटों की ओर निगाह की गई।

सब दाँव-पेंच सोच-समझकर तथा अपने चारों मुख्य सहायकों से मत मिलाकर अब राजकुमार थोड़े से योद्धाओं को लिए हुए अयोध्या वापस आए। आपने आते ही मंत्रिमंडल में अपने युद्ध-संबंधी विचार उपस्थित कर दिए। आपका कथन यह हुआ कि शत्रु सेना महती है और यदि वह गंगा पार हो गई, तो अपने लिये बचाव दुस्तर होगा। बड़े कौशल के साथ यदि युद्ध किया जाय, तो अभी उसकी पराजय भी निश्चित है। जो प्रायः डेढ़ लक्ष सेना इस काल मूल में है, उसमें से एक लक्ष यदि उनको दी जाय, तो अपने चारों सहायकों को लेकर युद्ध में प्रवृत्त होने से वे जय की आशा निश्चितप्राय समझते हैं, किंतु इस युद्ध में वे वर्तमान महाबलाधिकृत को साथ लेना या कम-से-कम कोई मुख्य भार देना नहीं चाहते। जब यह सम्मति अमात्य-परिषत् में उपस्थित की गई, तब स्वभावशः महाबलाधिकृत को पहले से विष-सी लगी। उन्होंने इसका घोर प्रतिवाद किया।

महामंत्री—महाबलाधिकृतजी ! आपको सोचना चाहिए कि यह समय महासंकट का है। अपनी से अधिक शत्रु-सेना आ रही है, और वह अच्छे नेताओं द्वारा परिचालित भी है। जब वंग में साधारण शत्रुओं का दमन आपका युद्ध-कौशल शत्रु से दूनी-चौगुनी सेना के होते हुए भी न कर सका, तब इतने भयानक युद्ध का भार आपको स्वयं न लेना चाहिए। महाराज चंद्र को समर-शास्त्र तथा स्वयं युद्ध का अच्छा अनुभव है। मेरी समझ में आप उन्हीं पर यह भार डालकर हल्के हो जाइए। युद्धोपरांत तथा उससे पहले भी आपका पद बना-बनाया है। युद्ध-काल में भी वह पद जैसे-का-तैसा रहेगा; उसमें कोई क्षति न आने पावेगी। इस बात का भार मैं स्वयं लेता हूँ तथा महाराज चंद्र ने यही बात मुझ से कही भी थी।

महाबलाधिकृत—आर्य ! क्या आप मुझे छोकरा बनाते हैं ? यदि युद्ध के समय अपनी अशक्यता के नाम पर पीछे हट जाऊँ, तो महाबलाधिकृत कैसा ? क्या क्षीर हीन गाएँ बहुत-से घंटों से सुशोभित होकर भी अच्छे दामों पर बिक सकती हैं ?

महादंडनायक—बात आपकी न्यूनाधिक यथार्थ होने पर भी समय को देखते हुए अमान्य है। आपके पद में कुछ धक्का अवश्य लगता है, किंतु राजकुमार यदि महासैन्येश बनें, तो वह बात भी बचती है। माना कि हम लोगों ने मंत्रिमंडलवाले भाई चारे के नाते आपका समर्थन किया, और यदि कहीं पाँसा उलटा पड़ गया, तो सारे साम्राज्य के साथ हम सभों का भी मान कहाँ रह सकता है ?

दंडपाशाधिकरण—ऐसी दशा में तो सम्राट् तक का मान संदिग्ध हो जायगा। आप स्वयं विचार कर लीजिए।

सांधिविग्रहिक—मेरी भी पदोन्नति आप ही के साथ प्रायः एक ही कारण से हुई थी। राजकुमार पुराने सांधिविग्रहिक को भी

अच्छा समझते हैं, जिससे यदि उनकी सम्मति चले, तो हम दोनो के उच्च पदों का कल्याण नहीं है। मैं सब बातें खोलकर स्पष्ट कहता हूँ। फिर भी यह समय ऐसी निजू बातों पर ध्यान देने का नहीं है। सोचना चाहिए कि यदि ईश्वर न करे, कहीं साम्राज्य पर बुरा दिन आ गया, तो कैसी ठहरेगी? अतएव मैं भी राजकुमारजी की सम्मति सत्कारने के पक्ष में हूँ। समय को देखिए, मित्रवर!

महाबलाधिकृत—आप सज्जनों की सम्मति यदि उचित होती, तो मैं उसके मानने में समय को देखते हुए, अणु-मात्र आना-कानी न करता। वास्तविक बात यह है कि आप मेरे कौशल को हेय समझते हैं, किंतु मैं आशा-पूर्ण हूँ।

सांधिविग्रहिक—यदि ऐसा ही था, तो वंगीय अराजकता का दमन अब तक क्यों न हुआ?

महाबलाधिकृत—वहाँ जल तथा वन-बाहुल्य ऐसा है कि छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बड़े दलों को बनाकर देश में उत्पात-मात्र मचा सकती हैं। कौन बड़ा युद्ध हमारी सेना हारी, जो आपका साहस छूटा जाता है?

महामंत्री—दश सहस्र सेना ने जो विद्रोहियों को आत्मसमर्पण किया, वह आपको शायद छोटी-सी बात दिखती है।

महाबलाधिकृत—बहुत छोटी-सी तो नहीं, किंतु इतनी बड़ी भी नहीं है कि साहस छोड़ दिया जाय।

सांधिविग्रहिक—क्या महाराज चंद्र का रण-कौशल आपको नगण्य दिखता है? कुछ सोच-समझकर बात कीजिए, मित्रवर!

महाबलाधिकृत—अभी उनकी अवस्था ही क्या है, भाईजी! राज्य-संबंधी मान का भाव छोड़ देने से मैं ऐसे-ऐसों को पढ़ाए बैठा हूँ। जिन सरदारों का वे मान विशेष करते हैं, उन्हीं में कौन-सा समर-कौशल है? मित्रता एक बात है और वास्तविक अनुभव

दूसरी। आप सज्जनों को धर्मासन पर बैठकर किसी का ऐसा अयोग्य अपमान न करना चाहिए।

महामंत्री—अब इससे आगे परामर्श को स्थान नहीं रहता। आइए, हम लोग पत्रों पर अपनी-अपनी सम्मतियाँ लिखकर देव की सेवा में महादूत द्वारा नियमानुसार प्रेषित कर दें।

ऐसा ही किया गया, और नियमानुसार उन्हें विना देखे परम भट्टारक ने अपनी सम्मति लिखी, जो महाबलाधिकृतवाली के अनुकूल थी। जब महादूत ने देव की सेवा में मंत्रिमंडलवाली शेष सम्मतियों की प्रतिकूलता का निवेदन किया, तब महामंत्री आहूत होकर सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुए और परामर्श होने लगा।

सम्राट्—समझ पड़ता है कि आप लोगों की जो सम्मति वर्तमान बलाधिकृत की योग्यता के प्रतिकूल थी, वह अब भी चल रही है।

महामंत्री—जब देव ने एक बार उन्हें इस पद के योग्य माना और तदनुसार कार्य भी होने लगा, तब हम सेवकों ने भी उन्हें योग्यता सिद्ध करने का अवसर देना उचित समझा।

सम्राट्—किंतु पीछे का अनुभव भी उनके प्रतिकूल ही निकला?

महामंत्री—इसका उत्तर तो वंगीय प्रयत्न के फल से प्राप्त हो गया है, देव! क्या हम लोगों को अपने ही में से एक भाई की अयोग्यता का कथन करने में मानसिक वेदना नहीं होती?

सम्राट्—उसका कोई प्रकाश तो दिखता नहीं, आर्य!

महामंत्री—प्रायः डेढ़ साल के पीछे हमारी यह पहली सम्मति उनके प्रतिकूल हुई है, देव! स्मरण रहना चाहिए कि जो नवीन सांधिविग्रहिक हम सेवकों की सम्मति के प्रतिकूल नियत हुए थे, उनका भी इतरों से इस विषय में मतैक्य है। समझने की बात है परमेश्वर! यह कोई साधारण अवसर नहीं है। यदि किसी

प्रकार से पैर पीछे पड़ा, तो देव के समेत सारे साम्राज्य के न केवल मान, वरन् अस्तित्व का भी प्रश्न है।

सम्राट्—समझ ऐसा पड़ता-सा है, आर्य! कि अमात्य परिषद् चंद्र की सम्मति का जितना मान करता है, उतना मेरी का नहीं; कम-से-कम उनकी सम्मतियों से प्रभावित विशेष होता है।

महामंत्री—देव से विनतियाँ करने में यह सेवक आत्मीयता को भूलकर सदैव निवेदन करता रहा है। अतएव इतना स्वीकार ही होगा कि हम लोगों को उनकी सामरिक योग्यता पर विश्वास है, तथापि इससे यह निष्कर्ष न तो निकलता है, न निकाला जाय कि परमभट्टारकीय मान्य सम्मतियों की मंत्रिमंडल मानसिक भी उपेक्षा करता है।

सम्राट्—इसका संदेह मैं नहीं करता, किंतु इतना आप लोगों को भी जाने रहना चाहिए कि साम्राज्य की सारी सामरिक शक्ति चंद्र के अधीन करने में मुझे कुछ आशंका भी उपस्थित होनी स्वाभाविक है।

महामंत्री—है देव की आज्ञा बहुत दूरदर्शिता-पूर्ण, और गुप्त प्रकार से ध्यान में रखने योग्य, फिर भी यह समय बड़े संकट का है, और यदि किसी भी कारण से अपनी शक्ति पूर्ण योग्यता से संचालित न हुई, तो न-जाने क्या हो जाय? मैं यह भी समझता हूँ कि राजकुमारजी में अभी तक कोई अनुचित महत्त्वाकांक्षा नहीं है। फिर भी सम्राटों को सोचे सब कुछ रहना योग्य ही है।

सम्राट्—आर्य! आपको मैं निश्चय दिलाता हूँ कि हमारे महाबलाधिकृत की योग्यता उच्च कक्षा की है। वंगीय निराशा उस प्रांत की नैसर्गिक दशाओं के कारण से है, जो बातें इस ओर प्रस्तुत नहीं। भय की कोई बात नहीं है; देखिएगा कि कैसा उत्कृष्ट प्रयत्न होता है? मैं जानता हूँ कि मंत्रिमंडल का मैतक्य इस

विचार से न होगा, किंतु एक बार मेरी सम्मति के अनुसार ही यह भारी कार्य चलने दीजिए।

इस व्याख्यान के पीछे महामंत्रीजी को कुछ और विनती करने का अवसर न समझ पड़ा, और वे विनम्र भाव से प्रणाम करके प्रस्थित हो गए। अमात्य परिषत् में इन आज्ञा से दुःख तो विशेष हुआ, और कुछ आश्चर्य भी, किंतु सबों ने पूर्ण शक्ति के साथ इसे चलाने का संकल्प किया, क्योंकि समय साम्राज्य के लिये जीवन-मरण का था। उपरिक महाराज ने अब अपने अनुभवों, शत्रुदल-संबंधी अन्वेषणों तथा पाँचों नेताओं की सम्मतियों का सार विश्वस्त भाव से बिना कुछ भी छिपाए महाबलाधिकृत से बतलाया, और इन बातों पर यथासंभव पूर्ण विचार करने का अनुरोध किया। उन्होंने भी इसका वचन दिया, अन्वेषण-कार्य के लिये नवीन सेना लगाई, तथा नेताओं सहित राजकुमार का दल उस ओर से पलट आया।

इधर उज्जयिनी की सेना ऐसी द्रुत गति से बढ़ती आ रही थी कि वह आतुरता से नर्मदा पार होकर यमुना के दक्षिणी कूल प पहुँचने को हुई। गुप्त दलाधिपति ने अपना बल प्रस्तुत करके यमुना-पर्यंत पहुँचने का भी समय न देखा, और गंगाजी का घाट रोकने का प्रबंध किया। सारा शक-दल सुगमता-पूर्वक गंगाजी के उस पार आ गया, और जिस घाट को गुप्त-दल ने रोका था, उसे बचाकर दो भागों में पूरब और पच्छिम की ओर हटकर निर्विघ्न गंगा पार हो गया। अब शीघ्रता-पूर्वक कुछ और दक्षिण बढ़कर वह चार भागों में बँट गया, और चारों का सहयोग स्थापित रखते हुए एकाएक चार ओर से साम्राज्य की एक ही स्थान पर एकत्रित प्रायः एक लक्ष सेना पर बढ़कर आक्रमण कर बैठा। गुप्त महाबलाधिकृत ने भरसक प्रयत्न किया, और उन्हें अपने देश का जो विशेष ज्ञान था, उसके आधार पर संचालन में भी चातुर्य दिखलाया, किंतु एक तो दूने दल का सामना

था, दूसरे शकों के गंगा पार होने में दल-संचालन की नीति में गुप्त सेना पहले ही पराजित हो चुकी थी। प्रायः तीन पहर घोर युद्ध हुआ, जिसमें शकों ने पूर्ण विजय पाई। उनकी हानि भी विशेष न हुई, तथा साम्राज्य का दल प्रायः आधा कट गया, अथच शेषार्द्ध क्षत-विक्षत अवस्था में बड़ी दुर्दशा के साथ राजधानी पहुँचा। अयोध्या में हाहाकार मच गया, और राज्य-वर्ग तथा सारी प्रजा में साम्राज्य-पतन के साथ लूट-पाट की भी घोर आशंका हुई।

अब महाकवि कालिदास फिर राजदूत के रूप में महाक्षत्रप की सेवा में उपस्थित हुए। शक-दल अयोध्या से प्रायः पाँच कोस की दूरी पर ठहरा हुआ था, और उसे भोज्य सामान भेजने का भार विजित राजधानी अपने ऊपर ले चुकी थी। इस बार दरबार न करके महाक्षत्रप ने कालिदासजी से परामर्श एकांत में केवल शक महामंत्री को साथ रखकर किया। उज्जयिनी के मंत्रिमंडल को इस पर कुछ आश्चर्य भी हुआ।

महाक्षत्रप—(मुस्किराकर) कहिए महाकविजी! आपके स्वामी सकुशल और प्रसन्न तो हैं?

कालिदास—राजपरिवार में तो दैव की कृपा से अद्य पर्यंत कुशल है, और यदि परमभट्टारक ने चाहा, तो प्रसन्नता भी हो जायगी।

महामन्त्री—अच्छा, अब साम्राज्य क्या चाहता है?

कालिदास—हम लोगों के चाहने से तो कुछ होता नहीं, अब तो महाक्षत्रप महोदय की इच्छा प्रधान है।

महामंत्री—आपको समझना चाहिए कि साम्राज्य का दाक्षिणात्य भाग अब पूरा का-पूरा हमारे अधिकार में है, और शेष भाग की भी दो-तीन मास में वही दशा संभव है।

कालिदास—इस विषय पर हम लोग क्या मत प्रकाशित करें!

जो दशा है, वह प्रकट ही है। प्रश्न यह है कि अब उज्जयिनी किस आधार पर संधि स्वीकार कर सकती है ?

महाक्षत्रप—यदि वर्तमान दशा और भविष्य की आशंकाओं पर साम्राज्य का पूर्ण ध्यान हो, तो संधि भी। अच्छी और शीघ्र संभव है।

कालिदास—ध्यान और ज्ञान के विषय में अब तो किसी अंध को भी संदेह न होगा।

महामंत्री—अभी कल ही स्वयं आप हमारी शक्ति पर संदेह प्रकट करते थे।

महाक्षत्रप—यह मुँह चिढ़ाना हो गया, आर्य ! ऐसी बात पराजित शत्रु से भी अनुचित है। इधर महाकविजी तो अंत में हैं हमारे ही।

कालिदास—बड़ा उदार कथन हुआ है, देव ! तो अब संधि-संबंधी नियमों की भी आज्ञा हो जाय।

महाक्षत्रप—मैं इस पर भी पूरी उदारता से काम लेना चाहता हूँ, केवल एक बात कठिन है। यदि इसे मान लें, तो सब सुगम हो जाय। केवल दूर-दर्शिता और विचार-स्वातंत्र्य की आवश्यकता है।

कालिदास—देव के कथन एक साथ ही आशा-जनक तथा चिंता-प्रद हैं, किंतु अभी समझ में नहीं आ रहे हैं ; कुछ विशेष प्रस्फुटन की प्रार्थना है।

महाक्षत्रप—बात यह है कि एक विशेष बात के अतिरिक्त शेष मेरी बातें अब भी वे ही हैं, जो मैंने पहले कही थीं, अर्थात् साम्राज्य वाकाटकों से इतर सारी दाक्षिणात्य शक्तियों से अपना संबंध हटा ले तथा शेष साम्राज्य पर पूर्ववत् अधिकार रक्खें। जितने प्रांत शक छीन चुके हैं, वे भी छोड़ने को प्रस्तुत हैं। आज से पुनः पूर्व-वत् मित्र-भाव स्थापित होगा।

कालिदास—यहाँ तक तो परम भट्टारक की उदारता शतमुख से सराहनीय है, अब वह आज्ञा भी हो जाय, जो देव के विचार से मामले को संदिग्ध करती है।

महाक्षत्रप—उसे मैं प्रकट रूप से नहीं कहना चाहता था, इसी-लिये यह राजकीय वार्तालाप गुप्त भाव से केवल महामंत्री की उपस्थिति में हो रहा है। आप भी उत्तर देने में शीघ्रता न कीजिएगा। अपने मस्तिष्क में गुप्त भाव से विचारिएगा। यदि आप लोग इसे मेरे समान गोप्य रख सकें, तो कोई जानेगा भी नहीं कि क्या हुआ ? समझ-भर की बात है।

कालिदास—मेरी ज्ञानेच्छा परमेश्वर के कथनों से और भी बलवती हो रही है।

महाक्षत्रप—इतना तो आप भी मान चुके हैं और शायद सारा साम्राज्य मानेगा कि मेरे उपर्युक्त कथन भारी उदारता गर्भित हैं।

कालिदास—यह बात पूर्णतः स्वीकार्य है।

महाक्षत्रप—यह भी आपको समझना चाहिए कि मैंने जो यह भारी आरंभ उठाया है, वह केवल आपके "यशसः विजगीषूनां" (यश ही के लिये विजय करनेवालों का) वाले कथन के चरितार्थ करने ही को नहीं था। है यशेच्छा भी, किंतु उसी के साथ एक निज भावना भी लगी हुई है। सम्राट् रामगुप्त को इससे हानि थोड़ी है, किंतु मेरी एक प्राचीन अभिलाषा पूर्ण हो जायगी। यह समझे रहिए, मैंने भी जोखिम कम नहीं उठाया है।

कालिदास—देव के कथन समझ उचित पड़ते हैं, किंतु अभी तक इनका भेद मैं बिलकुल नहीं पा सका हूँ।

महाक्षत्रप—भेद जानने पर भी आप इन्हें पावेंगे वैसे ही योग्य, जैसा कि अभी सोच रहे हैं, केवल समझने-भर की बात है। हानि है मानसिक-मात्र, किंतु महत्ता विमर्दिनी, तथापि यदि बात गुप्त रक्खी

जाय, तो संसार में प्रभाव का अणु-मात्र पतन भी न होगा। जिस वस्तु से सिवा व्यय के अपना कोई लाभ ही नहीं, उसे पास रखने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यदि इसका गुप्त दान कर दिया जाय, तो मैं पूर्ण स्वस्तिवाचन करके किसी को अणु-मात्र सताए बिना अभी यहाँ से प्रस्थान कर जाऊँ। यदि एक छोटी-सी बात भी मेरी मानी न जाय, तो आप समझ सकते हैं कि मेरी भी प्रचंड क्रोधाग्नि भभक सकती है, जिसमें गुप्त-साम्राज्य के साथ सारे मंत्रिमंडल तथा राजधानी की भी गरिमा स्वाहा हो जायगी। यदि चाहूँ, तो सम्राट् तक से नीच-से-नीच टहल ले सकता हूँ। क्षमा कीजिएगा, मैं केवल दशा का कथन कर रहा हूँ।

कालिदास—देव के सौजन्य से आशा है, कोई अनुचित कार्य न किया जायगा। जहाँ तक आज्ञा हुई है, वहाँ तक उसके पालन में मुझे कोई आपत्ति नहीं समझ पड़ती। प्रकट-भर कर दिया जाय, फिर बहुमूल्य-से-बहुमूल्य रत्न तक पलक मारते सामने होगा। परमभट्टारक के कथनों से मुझे आशा होती है कि हम लोगों के मुख मोड़ने का भय शायद निर्मूल निकले।

महाक्षत्रप—यह तो मैं भी मानता हूँ, किंतु इसके लिये परिस्थिति की पूर्ण परख आवश्यक है, जिसकी आशा मुझे सम्राट् के-से हठी और क्रोधी व्यक्ति से नहीं होती। समझ लीजए कि इन बातों में पड़ने से धोखा खा जायँगे, और पूरे राज-परिवार-सहित सारा वणिक मंडल तक मेरी कोपाग्नि में स्वाहा हो जायगा। इतने पर भी जो वस्तु मैं चाहता हूँ, वह लेकर ही छोड़ूँगा। प्रश्न इतना ही है कि उसी के साथ सारा साम्राज्य भी पासंग में अशेष हो जाय कि नहीं। मेरे क्रोध का फल बुरा है। कुशल इसी में है कि मुझे कुपित न किया जाय। आप समझते हैं कि मैं जो चाहूँ, अभी ले सकता हूँ। यह केवल मेरा सौजन्य है कि सारा साम्राज्य छोड़ रहा हूँ। एक बार फिर कहूँगा

कि समझने-भर की बात है। जो वस्तु अपने काम की नहीं, उसे रखकर क्या होना है?

कालिदास—मैं प्रार्थना करूँगा कि अब प्रयत्न आपका ही कृपा हो जाय। इतनी भूमिका के पीछे मुझे भी कुछ संदेह होने लगा है। जब देव इतना कथन कर रहे हैं, तब माँग भी कोई बड़ी अनोखी-ही होगी।

महाक्षत्रप—अच्छा, अब प्रकट कहता हूँ कि महादेवी ध्रुव स्वामिनी मेरे हृदय में बसी है। आप स्वयं जानते होंगे कि उज्जयिनी से उस पर मेरी दृष्टि थी, किंतु उड़ा रामगुप्त लाए। वह यक्ष्मापीड़िता होकर भी मुझे चाहिए। किसी से प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार से चाहें, गुप्त या प्रकट रूप से मुझे सौंप दें। विवाह के समय से अब तक इनकी उनसे भेंट नहीं हुई है, न होने की आशा है। केवल मान भंग का प्रश्न है। मुझे गुप्त रीत्या भेज दें तथा उसकी मृत्यु का संवाद जनता में उड़ा दें। मैं भी प्रतिकूलता न करूँगा। समझे! बात थोड़ी ही-सी है, किंतु बढ़ाइए, तो बढ़ने की सीमा नहीं।

कालिदास—इस कथन से तो मैं बहुत ही चकित और एक प्रकार से ज्ञान शून्य-सा हो गया हूँ, किंतु अब देव की सारी भूमिका समझ में आ रही है। अब मैं आज्ञा माँगता हूँ, तीन दिनों में इसका उत्तर देने का वचन दिए जाता हूँ। फिर भी मैं बिनती करता हूँ कि यक्ष्मापीड़ित महादेवी को लेकर आप करेंगे ही क्या?

महाक्षत्रप—उज्जयिनी के भिषज ऐसे निपुण हैं कि चार दिनों में नीरोग करा लूँगा। वह अयोध्या थोड़े ही है?

कालिदास—तब फिर आज्ञा दी जाय!

महाक्षत्रप—जितनी बातें मैंने कही हैं, उन्हें स्मरण रखकर

सम्राट् को समझा दीजिएगा। जाने रहिए कि अब साम्राज्य और राजधानी की कुशल इन्हीं के हाथ है।

कालिदास—यह मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ, देव!

महाक्षत्रप—एक बात और जान लीजिए ; आप भी हैं हमारे ही ; यदि आपकी योग्यता से मेरा काम बन गया, तो जिस दाक्षिणात्य अथवा मध्य भारतीय छोटे राज्य को चाहिएगा, उसका आपको स्वतंत्र राजा बना दूँगा। मेरी कृपा और कोप हैं दोनो असीम।

कालिदास—इस आज्ञा के लिये मैं विशेष धन्यवाद देता हूँ। प्रयत्न मैं यों भी करता, किंतु अब और भी चाव से करूँगा। समझाने-बुझाने में कसर न लाऊँगा। यदि छोटी महारानी द्वारा कोई विशेष प्रार्थना प्रबंध के विषय में कराऊँ, तो उस पर भी विचार होते रहें तथा उनके दर्शनों की आज्ञा अभी दे दी जाय, तो कार्य-सिद्धि की और भी संभावना है।

महाक्षत्रप—(हँसकर) अब मैंने जाना कि आप केवल महाकवि नहीं, वरन् पूर्ण अंतरराष्ट्रीय पंडित भी हैं। मेरे उपर्युक्त वचन सुनकर कोई साधारण राजदूत संज्ञा-शून्य ही क्या, किंकर्तव्य-विमूढ़ भी हो जाता, किंतु आपने तुरंत सब मामला समझ लिया। मेरी सेवा में यथारुचि आने-जाने, छोटी महारानी के दर्शन करने तथा स्वयं मुझसे भी यथारुचि मिलने के आपको अधिकार दिए जाते हैं। सुअवसरों पर सब कुछ आप करेंगे ही।

कालिदास—इसमें क्या संदेह है, देव!

महाक्षत्रप—देखना, कविवर! आपकी योग्यता की एक यह भी जाँच है।

कालिदास—आशा है, रुचिकर उत्तर ला सकूँगा। (कालिदास का चलना)

महाक्षत्रप—अभी सुनते तो जाइए।

कालिदास—(पलटकर) क्या आज्ञा है? देव!

महाक्षत्रप—चूकिएगा नहीं।

कालिदास—जो आज्ञा। (प्रस्थान)

चौदहवाँ परिच्छेद

रिपुधर्षित अयोध्या

अयोध्या में वापस जाकर महाकवि ने पहले उपरिक महाराज चंद्र से मिलकर अपने दौत्य का वृत्तांत साद्यंत वर्णन किया।

चंद्रगुप्त—बात तो बड़े ग़ज़ब की है, फिर भी आपने अपने को संभाला बहुत कि उसके राज्यार्पण पर प्रसन्नता तक प्रकट की।

कालिदास—यदि ऐसा न करता तो उसे नैराश्य हो जाता, जिससे किसी युक्ति के चलाने में सफलता की आशा घटती। फिर भी इतनी बात फैलने न पावे, अतएव आपके सिवा किसी और से मैं इसे न कहूँगा।

चंद्रगुप्त—यह तो आपने स्वयं कहा भी है—

"मंत्रहु इंगित गोपि काज फल सों प्रगटावत,
ज्यों पूरब के करम फलहिं सों भेद जनावत।"

कालिदास—आपको मेरे छंद समय पर उपस्थित ख़ूब हो जाते हैं।

चंद्रगुप्त—उन्हें दो-दो, चार-चार बार पढ़ने के भी तो अवसर आते हैं।

कालिदास—कितना बड़ा दुष्ट है? कुछ माया चलानी ही होगी, क्योंकि अब सम्मुख युद्ध कठिन है। आपने बंगीय सेना भी तो पचास सहस्र मँगा भेजी थी?

चंद्रगुप्त—मँगाई तो थी पचीस सहस्र उपरिक प्रांतों से, तथा इसी संख्या में शक्तिपूर से भी। वाकाटक-दल भी अब आ जाना चाहिए।

कालिदास—यदि ये चारों सेनाएँ आ मिलें, तो डेढ़ लक्ष नवीन

बल अपने पास हो जाय। ऐसी दशा में अयोध्या का दल भी फिर से हिम्मत बाँध सकता है।

चंद्रगुप्त—साहस तो उसने अब भी नहीं छोड़ा है। विजयोल्लास में सारा शकदल प्रायः एक ही स्थान पर एकत्र है। उधर प्रबंध मैंने ऐसा किया है कि वंगीय सेना पूरब की ओर से लगे, वाकाटकीय दक्षिण से, प्रांतोंवाली दक्षिण-पश्चिम से तथा शक्तिपुर की ठीक पश्चिम से। सब ओर दूत धावित हो चुके हैं।

कालिदास—आशा है कि आजही कल में चारों सेनाएँ गुप्तरीत्या अपने-अपने स्थानों पर पहुँच जायँगी। महामंत्रीजी को सम्राट् की आज्ञा पाने में अब इतना निश्चय-सा है कि उन्होंने आपको उसकी आशा में ही सारा प्रबंध दृढ़ करने को कह दिया है। अयोध्या का दल भी छिपे-छिपे संनद्ध हो ही रहा है।

चंद्रगुप्त—क्या कहूँ ? यदि सम्राट् हिचकिचा न गए होते अ मूर्ख महाबलाधिकृत की दुर्व्यवस्था न होती, तो मैं शत्रु के नर्मदा और यमुना पार होने के पूर्व ही उसकी सेना आधी पर भी समाप्त कर चुका होता, तथा गंगा और यमुना के बीच बिना लड़े ही ऐसा घेरता अथच खाद्य सामग्री की पहुँच ऐसी रोकता कि गंगा-पार करने के पूर्व ही भूखों मर कर उसे आत्म-समर्पण करना पड़ता।

कालिदास—उस मूर्ख बलाधिकृत को अपनी सेना गंगा पार ले जाने का साहस ही न हुआ, न उसके पार करने में शत्रुदल की चालों को वह रोक सका। एक छोटे-से युद्ध से सारा साम्राज्य पत्ते-सा उलटा जाता है। बड़े आश्चर्य की बात है। देखिए जगन्नियंता क्या खेल दिखलाता है ?

चंद्रगुप्त—अयोध्या की सेना का नेतृत्व मैं स्वयं लूँगा तथा शेष उपर्युक्त चारों दलों के निरीक्षक आप चारों महोदय हो जाइएगा।

कालिदास—सो तो हुई है; शक्तिपुर का दल युवराज के नेतृत्व में रहेगा ही; वाकाटक वाले के नेता वही लोग होंगे, किंतु निरीक्षण तथा परिचालन का भार कृतांतजी पर रहे। बंग-दल पर मैं चला जाऊँगा, तथा प्रांतवाले पर वीरसेनजी। मुझे शक दल में भी आना-जाना पड़ेगा।

चंद्रगुप्त—आप ये दोनो भार सुगमता-पूर्वक उठा सकेंगे।

कालिदास—आज कल कुछ समय से मेरा साहित्यिक कार्य अवरुद्ध-सा है। मन लगता विशेष इसी में था।

चंद्रगुप्त—इसमें तो मैं भी जी लगाता हूँ, किंतु साम्राज्य-रक्षण यदि हो गया, तभी सब कार्य भली भाँति चलेंगे।

कालिदास—इसमें क्या संदेह है? फिर भी भविष्य के लिये अपना यश साम्राज्य से भी इतना नहीं हो सकता, जितना श्रेष्ठ साहित्य से। अब यदि आज्ञा हो तो महामंत्रीजी का साक्षात् करके सारी दुरावस्था की बात सुना आऊँ, केवल भविष्य के अपने राजत्व की मिथ्या आकांक्षाएँ दबाए रहूँगा।

चंद्रगुप्त—अच्छा, जाइए। यदि सम्राट् बिना हस्तक्षेप किए उचित आज्ञाएँ भर देते रहें, तो हम लोग अब भी शक-दल को ध्वस्त कर सकते हैं।

कालिदास—अवश्य, अवश्य।

इस प्रकार राजकुमार से मंत्रणा करके महाकविजी ने सारा वृत्तांत महामंत्री से निवेदन किया और उन्होंने सम्राट् की सेवा में उपस्थित होकर एकांत में मंत्रणा का प्रस्ताव किया, जिसके स्वीकृत होने पर परामर्श प्रारंभ हुआ।

सम्राट्—क्या कहूँ, आर्य! आप लोगों की माननीय सम्मतियों की अवहेलना करने का फल पा रहा हूँ। अब क्या होगा?

महामंत्री—अब तो, देव! शत्रु के महाधृष्ट प्रस्ताव पर विचार

करना है। इधर नागरिक ऐसे घबड़ाए हुए हैं कि सिवा लूट-पाट वाले भय के उनके मुखों से दूसरी बात ही नहीं निकलती। अब देव के धैर्य-धारण का समय है। जो हुआ, सो हो ही चुका।

सम्राट्—प्रथम कायस्थ, नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह और प्रथम कुलिक से भी बात की थी ?

महामंत्री—इन सबके भी होश उड़े हुए हैं। कहते हैं कि प्रजा का यहाँ तक कथन है कि जब पर-चक्र से हमारी रक्षा ही नहीं की जाती, तब कर किस बात का लिया जाता है ? बतलाते हैं कि क्या बड़े सम्राट् के समय से कोई राज कर हम न्यून देते हैं, जो रक्षा-विभाग की यह दशा है ?

सम्राट्—उनका भी कहना एक प्रकार से है यथार्थ। हाय, मुझे यह अवगत न हुआ कि मेरी एक भूल के इतने बड़े परिणाम देखने में आएँगे कि सारा साम्राज्य ही दल चल-दल हो रहा है। मैंने चंद्र के अनिश्चित भविष्य पर इतना ध्यान दिया कि वर्तमान काल कराल रूप रखकर मेरे सामने सिंह के समान गरज रहा है। हाय, आर्य ! अब इससे पीछा कैसे छूटेगा ?

महामंत्री—अभी कुछ हुआ नहीं है, देव ! एक तो शक युद्ध-भर के लिये सारा सामरिक भार राजपुत्र चंद्र पर छोड़ दिया जाय। महाबलाधिकृत बने रहें, किंतु इन दिनों के लिये उनकी आज्ञा स्थगित रहे, पहली बात तो यही समझ में आती है।

सम्राट्—क्या सारे अमात्य परिषत् का यही मत है ?

महामंत्री—यही बात है, देव ! उनकी लिखित पत्रावली भी सेवा में भेज दूँगा।

सम्राट्—अच्छा, यह आज्ञा तुरंत घोषित कर दी जाय। संधि के विषय में शत्रु की माँगें तो हलकी हैं ; केवल महादेवी वाली बात घोर अपमानजनक है।

महामंत्री—प्रजा वर्ग तो इतना घबराया हुआ है कि इसे भी मानकर पीछा छुड़ाने के लिये न केवल प्रस्तुत होगा, वरन् आग्रह तक करेगा। फिर भी अमात्य परिषत् चाहे प्राण दे दे, किंतु ऐसी कादर सम्मति न देगा।

सम्राट्—एक-एक बात पर चलिए।

महामंत्री—जो आज्ञा।

सम्राट्—आप समझते हैं कि यदि मैं इतना भी अपमान उठा लूँ, तो प्रजा में कोई अपकीर्ति न होगी?

महामंत्री—वर्तमान परिस्थिति में वे आत्मरक्षा पर ऐसे तुले हुए हैं कि मानापमान पर उनका ध्यान जा ही नहीं सकता। सबके मुखों से 'अर्द्ध तजहिं बुध सरबस जाता।" की बात निकल रही है।

सम्राट्—इधर महादेवी के मान की बात है ही। किसी सम्राट् ने ऐसा घोर अनादर प्राण रहते सह्य न माना होगा।

महामंत्री—यही तो बात है, देव!

सम्राट्—तो भी इतना और विचारणीय है कि महादेवीपन का कोई फल तो है ही नहीं, सप्तपदी-भर की बात है।

महामंत्री—इसमें उनका क्या दोष है? विवाह सोहाग पर आधरित न होकर कन्यादान और सप्तपदी पर ही है।

सम्राट्—ऐसा तो है ही। चाहता मैं उन्हें प्राणों से अधिक था, किंतु उनकी रुग्णता से विवाह, न होने के समान है। वैवाहिक वर्तमान और भविष्य दोनो अंधकार-पूर्ण हैं। ऐसी दशा में यदि किसी प्रकार अपमान की बात न रहे, तो उनके जाने से भी कोई वास्तविक हानि नहीं है। समय पर उनकी मृत्यु का समाचार प्रकट किया जा सकता है। शत्रु भी इसे गुप्त रखने के प्रयत्न में सहयोग देने का वचन देता ही है।

महामंत्री—किंतु, देव ! ऊँट की यह चोरी झुके-झुके कैसे हो सकती है ?

सम्राट्—स्वयं ऊँट ही आकाश तक ऊँचा है ।

महामंत्री—यथार्थ कथन होता है, देव ! यदि आज्ञा हो, तो कामकाजू दृष्टि से भी इसके परिणाम प्रकट कर दिए जायँ ।

सम्राट्—हाँ, ऐसा अवश्य करो, आर्य !

महामंत्री—यदि महादेवी तक देने का अपमान अंगीकार किया जाय, तो भी साम्राज्य-पद रहेगा नहीं, अपनी पदवी केवल शकाधीन महाराजा की रह जायगी । ऐसी निर्बलावस्था देखकर शत्रु इतना विस्तृत राज्य कितने दिन छोड़े रहेगा ?

सम्राट्—उधर यह भी तो है कि बात न मानने से सारा राज्य अभी जा सकता है । भविष्य के लिये इस दिन के टलने से समय-समय पर बल-संग्रह संभव है ।

महामंत्री—दूसरी बात यह है कि स्वयं महादेवीजी प्राण दे दगी, किंतु पर-पुरुष की शैया पर त्रिकाल में भी न चढ़ेंगी । चुपके-चुपके जायँगी भी नहीं । बात सब प्रकट हो जायगी, तथा अपना राज्य पूर्णतया घृणास्पद होकर सारी लोक-मान्यता खो बैठेगा । ऐसी दशा में वह कितने दिन चल सकेगा ?

सम्राट्—यह विषय अवश्य विचारणीय है ।

महामंत्री—फिर आपके अनुज तथा युवराज इंद्रदत्तजी किसी दशा में प्राण रहते हुए ऐसा अपमान सह्य न समझ सकेंगे ।

सम्राट्—इसमें भी कोई संदेह नहीं है ।

महामंत्री—बंग, वाकाटक, शक्तिपुर तथा पश्चिमी प्रांतों से प्रायः डेढ़ लक्ष नवीन सेना आज ही कल में पहुँचनेवाली है । अर्द्ध लक्ष इधर अयोध्या में भी प्रस्तुत हैं । ऐसी दशा में पराजय का इतना भय भी नहीं है कि साम्राज्य का रूप बिना लड़े छोड़ दिया जाए ।

सम्राट्—इस विषय में मुझे विजय की आशा नितांत असंभव दिखती है। एक तो "औषध दूरि हिमाद्रि पै शिर पै सर्प कठोर" की बात है। दूसरे शत्रु अयोध्या को पहले तहस-नहस कर ही सकता है, पीछे नवीन सेना के आने पर चाहे जो हो।

महामंत्री—तो देव की इच्छा क्या है?

सम्राट्—आप महादेवी को समझा देखिए। यदि कुटुंब-रक्षा के विचार से वह छिपकर चली जाने को प्रस्तुत हों, तो नागरिकों का भी कल्याण हो जाय। मुझे सबसे बड़ा ध्यान प्रजा के हित का है।

महामंत्री—यद्यपि देखने में यह विचार कादरता-पूर्ण कहा जा सकता है, तथापि है इसमें भी कुछ सार। मैं प्रयत्न पूरा करूँगा, किंतु यदि उन्होंने न माना, तो उस दशा के लिये क्या आज्ञा होती है?

सम्राट—तब फिर चंद्र और इंद्रदत्त से जो कुछ करते बने, सारी राजकीय शक्ति की सहायता से करें।

महामंत्री—बहुत उचित आज्ञा हो रही है, देव!

नागरिकों के विचार

इधर तो इस परामर्श के पीछे महामंत्रीजी अपने कार्य में लगे, उधर विश्रामशाला की नीम के नीचे कुछ नागरिकों की मंडली में यों बातें हो रही थीं।

प्रबंधकर्ता—देखिए भाई! बड़े सम्राट् की पवित्र छाया हमारे ऊपर से उठे हुए अभी पूरे दो वर्ष भी नहीं हुए हैं, और दशा क्या हो रही है?

प्राड्विवाक का कायस्थ—वही अयोध्या का बल अब भी है, जिसने उत्तर से दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम पर्यंत सारे भारत में विजयस्तंभ स्थापित कर दिए थे तथा शाही और शाहानुशाही तक

का दमन किया था, और आज उसी की यह दशा है कि घर बैठे हुए भी लूट-पाट के भय से हम लोग चौंक-चौंक-से पड़ते हैं।

लेखक—चौंकना दूर की बात है; भाईजी! अब जन और धन दोनो की कुशल नहीं दिखती। दस-पंद्रह दिनो के भीतर न-जाने कौन हो और कौन न हो? कौन धनी रहता है और कौन निर्धन, सो भी पता नहीं। महाप्रलय का सामना दिखता है।

एक्केवाला—विजयिनी शक सेना फाटक पर ही गरज रही है, भाईजी! जान सूखी जाती है।

नापित—यह भी डर लग रहा है कि कहीं घरों में डकैती न पड़ने लगे। नहीं समझ पड़ता कि रात में सोकर सवेरे कुशल से जागने की नौबत आएगी कि नहीं?

कर्मकार—सच कहता हूँ, भाई! कई निर्बल लोग हृदय के रोग से मर तक गए, बेचारे घबराहट न संभाल सके।

नापित—सुन पड़ता है कि छोटे महाराज शत्रु के रगड़ देने को तैयार थे, किंतु उन्हें अधिकार ही न दिया गया।

एक्केवाला—उनकी सेना तो लड़ाई के मैदान से लौटा तक ली गई।

आवेदन लेखक—यही तो भौसा आज कल मचा हुआ। भोंदू बलाधिकृत की आज्ञा चल रही है, और वे चोर छोटे महाराज को कोई पूछनेवाला नहीं है।

प्राड् विवाक का कायस्थ—उन्होंने तो सुना, अच्छा युद्ध-ज्ञान उपार्जित किया है।

प्रबंधकर्ता—अब उसे घोल-घोल कर पिएँ। बेचारे छटपटाकर रह गए।

नापित—एक और बड़े गज़ब की बात महादेवीजी के प्रासाद से सुन पड़ी है। उस पर तो रोएँ खड़े होते हैं।

कर्मकार—क्या बात है, भाई!

नापित—सुना, शक महाक्षत्रप अपनी महादेवीजी को माँगते हैं और इतने से संतुष्ट होकर पलट जाने को कहते हैं।

प्रबंधकर्ता—है तो भाई बड़ी बेजा बात, किंतु यदि दे दी जातीं तो हम लोगों का गलफाश छूट अवश्य जाता।

कर्मकार—ऐसी उलटी बात मुख से न निकालनी चाहिए; है हमारे मतलब की ज़रूर।

नापित—बड़े अचरज की एक और बात सुन पड़ती है।

आवेदन लेखक—क्या, भाई! तुमको तो सारी बातों का पता रहना चाहिए।

कर्मकार—इनकी जजमानी ही ऐसी है कि इन से बात नहीं छिप सकती।

प्राड्विवाक का कायस्थ—अच्छा, कहो तो सही कि क्या बात है?

नापित—छिप्राबाई का मान परम भट्टारक के यहाँ तो है ही, उधर महादेवी जी भी उन्हें बहुत चाहती हैं। कितनी उलटी बात है?

आवेदन लेखक—है तो अवश्य, किंतु छुई रोग के कारण इन्हें दुनिया की बातों से प्रयोजन ही क्या है? ऐसी दशा में सौत से ईर्ष्या क्या करें? कोई कहीं भी आवे-जाय, इनकी क्या हानि-लाभ है?

प्रबंधकर्ता—तो भी ऐसियों को देखकर स्त्री सुलभ ईर्ष्या होती ही है।

नापित—यही तो कहता हूँ।

कर्मकार—बात तुम्हारी तुक की है। भला यह पूछता हूँ कि वैद्यराज बालेंदुशेखर की भी आँखों का पानी कैसा मर गया है?

नापित—और नहीं तो क्या? बेटी चाहे जहाँ आवे जाय, और चाहे जैसी बातें लोग कहें, वैद्यजी उसका पहले ही का-सा मान करते और पूरी ललक से बोलते हैं।

कर्मकार—ऊँचे ठौरों की ऐसी बातें करनी न चाहिए ।

आवेदन लेखक—अरे अब कौन ऊँचा-नीचा रहा जाता है? फिर जानता कौन नहीं? सारी बातें तो अयोध्या-भर की जिह्वा पर हैं।

प्राड्विवाक का कायस्थ—अरे भाई! इस समय तो जान की पड़ी है; ऐसी बातों की ओर मन दौड़ता कब है?

नापित—एक बात और सुनने में आई है।

कर्मकार—वह क्या?

नापित—सुना, हमारे वैद्यराज अपनी बेटी को लेकर शक डेरे में भी लुक-छिपकर पहुँचे थे।

आवेदन लेखक—है लाला बड़े एँच-पेंच का आदमी। साल-ही-दो सालों में सारी अयोध्या का प्रेम-पात्र बन गया, स्वयं परमेश्वर और युवराज, इंद्रदत्त से मेल बढ़ा लिया, और अब उज्जयिनी वालों के यहाँ भी जा पहुँचा।

नापित—किसी का भेदिया तो नहीं है?

कर्मकार—जो इतनी ही बुद्धि होती, तो अपनी बेटी को न सम्हालते?

प्राड्विवाक का कायस्थ—सच कहते हो, पूरा बेहया और स्वार्थी है; गौं खूब गाँठता है।

राज प्रासाद

इधर इस प्रकार की घबराहट मची हुई थी, उधर महादेवीजी के प्रासाद से महाराज चंद्र तथा युवराज इंद्रदत्त का बोलौआ हुआ। दोनो परम शीघ्रता से साथ ही-साथ पहुँचे, और यथा योग्य अभिवादन करके आसनों पर विराजे।

इंद्रदत्त—कहिए, देवीजी! आज कई दिनो के पीछे स्मरण किया।

ध्रुवदेवी—आज आप को यों ही कष्ट दिया है; मुख्य बात इनसे थी।

चंद्रगुप्त—बड़ी कृपा हुई, भाभीजी! किंतु क्या कहें, हाल-बेहाल हो रहा है।

ध्रुवदेवी—यहाँ की बात आपने सुनी ही होगी, राजा!

चंद्रगुप्त—हाँ सुनी तो है, सदेह पृथ्वी में गड़ा जा रहा हूँ।

ध्रुवदेवी—अब तो समझ पड़ रहा है कि बड़े सम्राट् के पीछे इस राजवंश में सारे लोग नपुंसक रह गए हैं।

चंद्रगुप्त—बात तो कुछ ऐसी ही दिखती है, देवि!

ध्रुवदेवी—जानते हो कि एकाध स्मृति में नपुंसक-वध का पातक कैसे छूटता है?

चंद्रगुप्त—आज्ञा हो।

ध्रुवदेवी—एक गाड़ी-भर तृण मात्र पुण्य कर देने से।

चंद्रगुप्त—ऐसी आज्ञा न हो, देवि! स्वामी के दो अपराध भी क्षम्य होते हैं।

ध्रुवदेवी—यदि वह स्वामी हो तब न? यहाँ तो आपके परम भट्टारक परमेश्वर सम्राट् रामगुप्तजी देव साम्राज्य और महादेवी दोनो मूल्य में देकर अनिश्चित महाराज पद मोल ले रहे हैं। जिस गद्दी के पाद-पीठों पर सारे भारतवर्ष के राजमुकुट लोटा करते थे, जिसके पुनीत चरणकमल सारे भारतीय नरेशों के मणि-माणिक्यों की आभा से लाल रहते थे, आज वही सम्राट् केवल दो वर्षों के भीतर एक साधारण महाराज की दाप न सम्हालकर उसके चरणों पर अपना मुकुट अर्पित कर रहा है। यदि आपके ज्येष्ठ भ्राता संग्राम में शौर्य के साथ गत हो जाते, तो मुझे सुख से सती होने का सौभाग्य तो प्राप्त होता। आज वह भी सुख अप्राप्य हो रहा है। यदि कोई कुलवती स्त्री पर पुरुष की ओर आँख उठाए, तो भी वह कुलीनता से गिरकर पति और उसके स्वजनों द्वारा अस्पृश्य हो जाय, और यहाँ पति कहे जानेवाले महाशय स्वयं पर पुरुष के यहाँ

महादेवी भेजने को प्रस्तुत हैं। मैं पूछती हूँ कि यह साम्राज्य भोक्ता वंश है या भड़ुहों का? महाराजाजी! आप कृपया मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए।

इंद्रदत्त—देवीजी! कुछ तो साधारण सभ्यता का रूप रखिए। सोचे रहिए आप सम्राट् समुद्रगुप्त के मान्य राजपुत्र से बात कर रही हैं।

चंद्रगुप्त—भाईजी! आप महादेवीजी को टोक क्या रहे हैं? इनके कथन का एक-एक विंदु विसर्ग तक यथार्थ है। जो कुछ और कहें, वह भी थोड़ा होगा।

इंद्रदत्त—फिर भी बात तो एक मान्य राजकुमार से हो रही है।

ध्रुवदेव—जी नहीं, एक भड़ुहे के अनुज से। जिस सम्राट् की महत्ता का गर्व था, वह अब कहाँ है? अब तो वह वंश प्रस्तुत है, जिसका नेता योषित विक्रेता हो रहा है।

चंद्रगुप्त—पूज्या महादेवीजी! आपका क्रोध नितांत योग्य और समयोचित है, फिर भी स्मरण रखिए कि वैवाहिक धर्म-विवाह से पूर्ण हो जाता है। सोहाग का अभाव स्त्री-धर्म का बाधक नहीं।

ध्रुवदेवी—क्या कहते हो, राजा! कैसी स्त्री और कैसा पति? क्या आप भी सम्राट् की आज्ञा के पोषक हैं?

चंद्रगुप्त—ऐसा संदेह सुनने से भी मुझे पाप लगता है, भाभी-जी! आप आज्ञा तो करें, फिर देखें कि इसका पालन कैसा होता है? मेरे स्वामी जैसे सम्राट हैं, वैसे ही साम्राज्ञी भी। आप निश्चयपूर्वक आज्ञा तो दीजिए!

ध्रुवदेवी—आज्ञा देनेवाली मैं कौन हूँ? (चरणों पर गिरकर) मुझे इन पवित्र चरणों से पृथक् न कीजिए, बस इतनी ही प्रार्थना है।

चंद्रगुप्त—(उठाकर) शांत हूजिए देवी! मुझ सेवक को

आज्ञा-भर देती रहिए, प्रार्थना और चरण-स्पर्श करना तो मेरा काम है।

इंद्रदत्त—यह आप न कहिए। ऐसी बात सुनकर भी पाप लगता है। आप हम दोनो के हर प्रकार से पूज्य हैं।

चंद्रगुप्त—आपने केवल आज अनर्गल कथन किया है। (साम्राज्ञी से) मेरा पातक क्षमा हो, देवि! आगे के लिये पूर्णतया निश्चित रहिएगा। मैं जानता था कि सम्राट् की कादरता से आप त्रिकाल में भी सहमत न होंगी। अब से अपने को आक्रमण-मुक्त समझिए। जबतक इस शरीर में रुधिर का एक बिंदु भी शेष है, तब तक चिंता न करनी होगी। (इंद्रदत्त से) भाईजी! अब भविष्य की कार्यवाही सोचना हमारा आपका काम है। भाई कालिदासजी इसके प्रबंध का बीजारोपण पहले ही से कर चुके हैं।

ध्रुवदेवी—राजा मेरे! क्या इस पुनीत कुल के बचाव की आशा तुमको अब भी है?

चंद्रगुप्त—आशा कैसी, देवि! मुझे इसका निश्चय है। डेढ़ लक्ष नवीन सेना अपने-अपने स्थानो पर पहुँच चुकी है तथा जोड़-बटोरकर एक लक्ष अयोध्या ही में प्रस्तुत हैं। शत्रु को गत मानिए। वह घिर चुका है। फिर भी मैं ऐसा प्रबंध कर रहा हूँ कि यही कटार (कटार दिखलाकर) इसी हाथ से उसका वक्षस्थल विदीर्ण करे। चाहे युक्ति सफल हो या नहीं, न तो शत्रु बचेगा न उसकी सेना। आप बैठी हुई तमाशा-भर देखा कीजिए। यदि बड़े सम्राट् नहीं हैं, तो यह चंद्र तो अभी प्रस्तुत है।

ध्रुवदेवी—धन्य राजा धन्य! अब मैंने जाना कि जब तक इस महावंश का चंद्र चमक रहा है, तबतक पराजय का अंधकार इसे न घेर सकेगा। शाबाश! मैं इसी समय से देवर का पद छोड़ाकर आपको पुराना मित्र-पद देती हूँ।

चंद्रगुप्त—इन आज्ञाओं का अर्थ न तो मैं समझ रहा हूँ, न समझने का अभी समय है। आप देवर मानें, या मित्र, या दोनो या एक भी नहीं, है सब कथनों का अर्थ एक ही। हर दशा में स्वस्थ होकर विराजिए। न तो आपका बाल बाँका होगा, न गुप्त महादेवी पद में अणु-मात्र विच्छेद पड़ेगा। जब तक इन बाहुओं में स्वल्प भी शक्ति और मस्तिष्क में आज्ञा देने का बल कुछ भी शेष रहेगा, तब तक आपको चिंता न करनी पड़ेगी। आप अब भी महादेवी हैं और ज्येष्ठ बंधु परमेश्वर! इन पदों में अंतर शक शक्ति डाल न सकेगी। अब आज्ञा हो।

ध्रुवदेवी—(प्रणाम करके) जाइए, परमेश्वर आपको विजयी करे।

चंद्रगुप्त—यह भूल आप आज दो बार कर चुकी हैं। मैं प्रणाम का पात्र न होकर आशीर्वाद का हूँ। बस, आज्ञाकारी दास बना रहूँ। विपत्ति पड़ने पर इतना विचलित होना आप-जैसी महादेवियों का काम नहीं।

ध्रुवदेवी—समय पड़ने पर आप समझ लेंगे कि मैं अणु-मात्र विचलित नहीं हूँ। और नहीं तो मेरी आज्ञा ही मानकर प्रणाम न कीजिएगा।

चंद्रगुप्त—आज्ञा-पालन तो मेरे लिये हर दशा में योग्य है।

इतनी बातें होकर ये दोनो महोदय अंतः सदन से अपने-अपने स्थानों को गए।

पंचदशम परिच्छेद

सामरिक स्कंधावार

विजय के उपलक्ष में शकदल मंगल गानकर-करके आनंदोत्सव में मग्न था, यह किसी को आशा न थी की इतने बड़े भारतीय साम्राज्य पर इतना शीघ्र तथा स्वल्प हानि से पूर्ण विजय प्राप्त हो जायगी। जिस सुगमता से ऐसी भारी जीत मिली, उसी के अनुसार गुप्त शक्ति की हेयता पर भी शकदल का दृढ़ विश्वास हो गया। उन्हें समझ पड़ने लगा कि क्षत्री लोग कर ही क्या सकते हैं? यह तो गत सम्राट् समुद्रगुप्त का निजू कौशल-मात्र था कि गुप्त सेना ने जादू की-सी छड़ी फेरकर सारे भारत को स्ववश कर लिया था। उनके पीछे अयोध्या की शक्ति में कोई ऐसा पुरुष शेष न रह गया, जो इस महान् उत्तराधिकार को स्थापित्व दे सकता। कहते ही हैं कि विजय के समान साफल्य तथा पराजय के सदृश विश्वासा भाव अन्य किसी बात में नहीं होता। इस काल शक-सेना आत्म गौरव तथा शत्रु की दुर्बलता के विचारों से ऐसी भर गई थी कि उसे पूर्ण चौकसी की आवश्यकता कम समझ पड़ने लगी। चमूयादि नियमों के पालन का मौलिक शासन तो देते रहे, किंतु उनके कार्य में परिणित होने में बहुत कुछ शैथिल्य आ गया। गुप्त राजदूत कालिदासजी ने जिस कल्पित दैन्य-भाव से महाक्षत्रप के समस्त कथन किए थे, उनसे शकदल को और भी विश्वास हो गया था कि गुप्तों में अणुमात्र आत्म-निर्भरता शेष नहीं थी।

साधारण कार्य-कुशलता से स्वयं महाक्षत्रप अपना काम करते जाते थे।

महामंत्री तथा महासांधिविग्रहिक के साथ बैठकर वे एकांत में प्रधान आगंतुकों से बात कर रहे थे। सबसे पहले वैद्यराज बालेंदुशेखरजी चिप्राबाई के साथ वहाँ प्रस्तुत होकर अपनी सेवाएँ निवेदित करने लगे।

महाचत्रप—कहिए ऐमर महोदय! आजकल वैद्यकी कसी चल रही है?

बालेंदुशेखर—इन दिनों, देव! पांडे जी हो गया हूँ और सेठानी चिप्राबाई जो मेरी पुत्री हैं। मैं सुब्बाराव न होकर बालदुशेखर हूँ।

महाचत्रप—(हँसकर) ठीक ही है। अच्छा, मामले कैसे चले?

बालेंदुशेखर—परमभट्टारक के आज्ञानुसार हम दोनो ने अयोध्या में पहुँचते ही यथा सभव पूर्ण उदारता-पूर्वक सेवा धर्म का व्यवहार आरंभ किया। धन की ऐसी उपेचा भी न की कि लोगों को गुप्त भेदि होने का संदेह होने लगता। एक ही दो बार शुल्क तथा ओषधियों के दाम माँगते थे, और तब उसमांग को भूल जाते थे, चाहे कोई कुछ दे अथवा नहीं। निर्धनों से कुछ माँगते भी न थे। जिसमे जितनी कृपा की आशा की, उससे कुछ विशेष ही पाई। रोगियों के घरों को भी हम दोनो निः शुल्क प्रकार से भी जाने में सदैव प्रस्तुत रहते थे। गुरुवर की कृपा से वैद्यक के कार्य में कुछ प्रवेश तथा अनुभव थे ही; बस काम चलते देर न लगी। लोग नीरोगता से भी अधिक आर्थिद उदारता से प्रसन्न होते ही हैं।

चिप्राबाई—हम दोनो के यश इस शीघ्रता से फैले कि महाभिषज की मानसिक पदवी लोगों के विचारों में मिल गई। अतिशीघ्र राजप्रासाद में भी प्रवेश हो गया।

महाचत्रप—काम तुम दोनों ने बड़े उत्साह के साथ किया। तुम्हारे प्रवंध में उज्जयिनी का जितना व्यय हुआ, वह सफल है, ऐसा कहने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं।

महामंत्री—क्षिप्राबाई के सौंदर्य से भी सुना बहुत काम निकला।

बालेंदुशेखर—इस में क्या संदेह है? स्वयं रामगुप्त की इन पर कृपा बूढ़े सम्राट् के समय से ही आरंभ हो गई थी।

क्षिप्राबाई—आप भी ऐमर महोदय क्या विषय चला रहे हैं? स्वामी के सम्मुख कुछ तो लज्जा रखिए।

बालेंदुशेखर—बाईजी! स्वामी मा-बाप के समान होता है। यहाँ कामकाजू विनती हो रही है; कुछ छिपाया कैसे जा सकता है?

महामंत्री—देव के सम्मुख ऐसे मामलों में लज्जा का ढोंग अनावश्यक है। आप भेजी ही और क्यों गई थीं?

क्षिप्राबाई—अच्छा, आर्य! आपकी आज्ञा का पालन हुआ भी ठीक-ही-ठीक।

बालेंदुशेखर—समय पाकर यह बात जनता में भी फैल गई। अनंतर शक्तिपुर की राजकुमारी का विवाह युवराज से होने को हुआ, और इन्होंने उससे बचना चाहा, तब स्वाभाविक कारणों से युवराज इंद्रदत्त को इनके द्वारा निष्कपट सेवा की आशा हुई। हम लोगों ने इस अपने मुख्य कार्य को पूर्ण संनद्धता से संपादित किया।

महाक्षत्रप—हाँ-हाँ, इसे सविस्तार कहो।

बालेंदुशेखर—जो आज्ञा, देव! विवाह तो नियमानुसार हो गया, किंतु जिस दिन सोहाग-रात्रि थी, उसी दिन महादेवी के गिरकर पसली टूटने का स्वाँग रचा गया।

क्षिप्राबाई—मैंने जाकर वैद्यजी की सलाह से उनकी पसली की दिखौवा मरहमपट्टी की। यह स्वाँग महीने-दो महीनों तक चलता रहा। मेरी सम्मति के अनुसार वे अंतः सदन में एकांत सेवन विशेष करने लगीं, और अपने विश्वासवाली सेविकाओं के सम्मुख

प्रसन्नता पूर्वक रहतीं तथा समुचित व्यायामादि कर लेती थीं। जब घड़ी-दो-घड़ी के लिये साधारण सेविकाओं के सामने आती थीं, तब रोगिणी बन जाती थीं। वैद्यजी की आज्ञा से प्रायः नित्य वायु-सेवनार्थ रथ पर बाहर जाना होता था। स्वास्थ्य ठीक रहा।

बालेंदुशेखर—इस प्रकार जब दो मास बीत गए, और पसली का ढोंग विशेष न चल सकने का समय आया, तब यक्ष्मा की बात निकाली गई। मेरे पास गुरु के प्रसाद से ऐसी-ऐसी औषधियाँ हैं कि दिन दो दिनों के लिये नाड़िका कि गति बढ़ जाय और यक्ष्मा का रूप दिखने लगे। यह दवा खाने वालों को कुछ हानि भी नहीं पहुँचाती। महादेवी द्वारा इसी के सेवन से अयोध्या के राजवैद्य तथा इतर प्रवीण भिषजों ने पूरा धोखा खाया। अंतरंगा सखियों के बीच प्रसन्नता-पूर्वक रहती, किंतु सप्ताह-दो सप्ताहों में जब कभी रोगिणी होने का भाव दिखलाना आवश्यक होता था, तब यक्ष्मा पीड़िता होने का रूप दिख जाता था। इस प्रकार से इनका पूर्ण सौंदर्य तथा शारीरिक शक्ति स्थापित रखकर भी हम दोनों ने प्रायः डेढ़-दो सालों से पीड़िता होने का ढकोसला दिखला रक्खा है। अद्य पर्यंत वे विवाहिता कुमारी हैं, देव!

महाक्षत्रप—एक बात अब भी रह गई कि उन्होंने अपने स्वामी तथा युवा सम्राट् से इस प्रकार बचना चाहा क्यों?

क्षिप्राबाई—यह बात हमलोग भी नहीं जान पाईं, देव! शायद वह किसी और से विवाह चाहती थीं और हुआ और से। विवाह के पीछे भी उन्हें प्राचीन भाव चलाने का समय मिलने की क्यों आशा थी, सो मैं नहीं जानती।

महाक्षत्रप—क्या वह तुम्हारी ऐसी सेवाएँ होते हुए भी मन की बात कभी न कहती थीं?

क्षिप्राबाई—इस बात में, देव! वह बहुत पक्की हैं। मेरी समझ

में चाहती थीं महाराज चंद्र को, किंतु विवाह ज्येष्ठ बंधु से हो गया।

महाक्षत्रप—क्या उनसे कभी मिलती-भेंटती थीं?

क्षिप्राबाई—कभी नहीं, देव! यदि कभी दो-चार महीनों में एकाध बार साक्षात्कार होता भी था, तो युवराज इंद्रदत्त के साथ; एकांत में अथवा किसी अन्य के भी सामने कभी नहीं।

महाक्षत्रप—मैं आप दोनो की सारगर्भित सेवाओं के लिये पूर्ण प्रसन्नता प्रकट करता हूँ। अब तुम दोनो जा सकते हो।

तब प्रणामानंतर दोनो वहाँ से उठकर अयोध्या की ओर गुप्त भाव से प्रस्थित हुए। उधर महाशक्ति ने जाकर महाक्षत्रप महोदय के दर्शन किए।

महामंत्री—आइए, आर्य! शक्तिपुरवाला कार्य जो आपने किया था, वह मैं देव की सेवा में निवेदित कर चुका हूँ।

महाक्षत्रप—नहीं, मैं इन्हीं के मुख से सुनना चाहता हूँ।

महाशक्ति—वह मामला तो देव! असफल रहा। सफलता में केवल अर्धकोस का अंतर रह गया था कि इतने ही में राजकीय सेना आ पहुँची, और बना-बनाया खेल बिगड़ गया। यदि रथ मेरे स्थान तक किसी भाँति पहुँच सकता, तो ऐसा प्रबंध हो चुका था कि वह सुगमता-पूर्वक उज्जयिनी पहुँचा दी जातीं; किंतु क्या कहूँ, बनी-बनाई बात सारी-की-सारी बिगड़ गई।

महाक्षत्रप—इसमें तुम्हारा क्या दोष था? भाग्य का फेर था। यदि तुम कहीं सफल हो गए होते, तो मुझे यह उत्तरी धावा क्यों करना पड़ता?

महाशक्ति—यह मेरा दुर्भाग्य था।

महाक्षत्रप—अच्छा, अब वंग का वर्णन करो।

महाशक्ति—शक्तिपुर में मैं छैलगुंडा बना था और वंग में सिद्ध

बन गया था। दोनो दशाओं से कोसों दूर। बन में धन इधर-उधर गाड़कर खोदवा लेता था, जिससे सिद्धता चटक गई। शेष हाल पत्रों में भेज ही चुका हूँ।

महाक्षत्रप—अब उस ओर की क्या आशा है?

महाशक्ति—परम भट्टारक के प्रताप से विप्लव अच्छा चल रहा है। गुप्त महाबलाधिकृत ऐसा बोदा है कि एक लक्ष सेना की सहायता से भी मुट्ठी-भर विप्लवकारियों का दमन न कर सका।

महाक्षत्रप—उसी की कृपा से यह विजय भी मुझे अति सुगमता-पूर्वक मिल गई। यदि चंद्रगुप्त का प्रबंध होता, तो कुछ कठिनता पड़ती ही। जीत अंत में होती अपनी ही, किंतु ऐसी सरलता तथा स्वल्प हानि से नहीं।

महामंत्री—यही बात है, देव!

महाक्षत्रप—(महाशक्ति से) अभी दस-पाँच दिन इधर ही रहकर आप सीधे वंग चले जाइएगा। यदि मैं उस प्रांत को समय पर लेना चाहूँ, तो कैसी ठहरेगी?

महाशक्ति—सुगमता-पूर्वक मिल सकेगा, देव! उन लोगों में शक्ति ही क्या है? सारे गोप्य रहस्य मुझे ज्ञात भी हैं।

महाक्षत्रप—अच्छा, अब विश्राम करो। तुम्हारे कार्यों से यह साम्राज्य पूर्ण संतोष प्रकट करता है।

महाशक्ति—बस, मेरे सारे प्रयत्न सफल हो गए, देव!

इस प्रकार कार्य संपादन करके महाक्षत्रप ने कुछ काल के लिये विश्राम लिया। उधर कालिदासजी ने मल्लिकाबाई से भेंट की।

मल्लिकाबाई—प्रणाम भाईजी! कहिए, कुशल तो है?

कालिदास—सौभाग्यवती भव! आपके अनुग्रह से आत्मीय रूप से मज़े में हूँ।

मल्लिकाबाई—जिस साम्राज्य के लिये आपने स्वदेश तक छोड़ा, वह तो सायंकाल का सूर्य हो रहा है।

कालिदास—यदि ऐसा समझता, तो क्यों यहाँ आ फँसता?

मल्लिकाबाई—कहिए, मुझसे क्या आज्ञा है?

कालिदास—धृष्टता क्षमा हो, सच तो यों है कि आपके महाक्षत्रपजी नित नई रमणियों के पीछे दौड़ रहे हैं। एक महादेवीजी हैं हीं, अब अयोध्यावाली भी पहुँचेगी।

मल्लिकाबाई—इस बात की मुझे भी महती चिंता है। मैं तो अब किसी राग की नहीं रही जाती। अब तो यही सोचती हूँ कि पति-सदन छोड़कर जो पातक किया, उसका फल पा रही हूँ।

कालिदास—इसीलिये तो आज सेवा में उपस्थित होकर एकांत में परामर्श का प्रार्थी हुआ हूँ। इतनी बात है ही कि अपने घर के सामने जहाँ पदवी ऊँची है वहाँ चिंताओं की सीमा नहीं।

मल्लिकाबाई—फिर पद ही क्या है? यही न कि कभी कोई इच्छा राज में चल जाती है। इससे मेरा लाभ ही क्या है? प्रासाद अच्छा है, सेवक-सेविकाएँ बहुत हैं, किंतु पातक भी है। कुल मिला-कर मैं अपने को प्रसन्न नहीं पाती। आपने सहानुभूति के लिये कृपा की है, किंतु केवल इससे क्या होता है? कोई युक्ति बताते तब न समझती कि मेरा भी सहायक और नहीं तो एक भाई ही प्रस्तुत है।

कालिदास—इसीलिये तो मैं आया ही हूँ, यों क्या कोरी सहानुभूति करनी थी? मैं अब कवि होने के अतिरिक्त, राजमंत्री भी हूँ।

मल्लिकाबाई—तब फिर अनुमति देते क्यों नहीं?

कालिदास—बात ऐसी गोप्य है कि उसके प्रकट हो जाने से मैं इसी समय स्वर्गवासी या कम-से-कम कारागार-वासी किया जा सकता हूँ।

मल्लिकाबाई—जो कहिए, वह सौगंध तक खाने को मैं प्रस्तुत हूँ।

कालिदास—आपका वचन ही सौगंध है।

मल्लिकाबाई—तब फिर बेखटके कहिए। इच्छा, हो तो ब्राह्मण और भाई का शरीर छूकर सौगंध खा सकती हूँ।

कालिदास—यह अनावश्यक है, देवि! अच्छा, सुनिए। आपने उज्जयिनी में ध्रुवदेवी को देखा था ही।

मल्लिकाबाई—एक नहीं, दस-बीस बार।

कालिदास—तब मैं महाक्षत्रपजी से विनती कर सकता हूँ कि आपही यहाँ पधारने में उनका निरीक्षण करें। मैं दूसरी स्त्री उनके स्थान पर भेज दूँगा, जो उनसे थोड़ा-बहुत मिलती-जुलती भी होगी। आप इतना कहने की कृपा करें कि वही ध्रुवदेवी हैं। उसको ऐसा समझा-बुझाकर रक्खेंगे कि महीने-दो महीनों में ही ऐसी उद्दंडता दिखलावे कि निर्वासित ही करदी जाय।

मल्लिकाबाई—यदि वध-दंड मिल गया तो?

कालिदास—राजभक्ति की पूर्णता से वह मरने को भी प्रस्तुत है।

मल्लिकाबाई—यदि खुलाव खुल गया?

कालिदास—तो रूप साम्य से धोखा खाने की बात आप कह सकती हैं। दो-तीन वर्षों के पीछे रात में देखकर पहचानना क्या बहुत सुगम है? फिर प्रबंध ऐसा बढ़िया होगा कि भेद खुल सकेगा नहीं। महाक्षत्रप महोदय से विनती करके भी यहाँ महादेवीजी की मृत्यु का समाचार उड़ा दिया जायगा और वे साल-दो-साल के लिये छिपा डाली जायँगी।

मल्लिकाबाई—समझ में तो ठीक पड़ता है, किंतु भेद खुलकर जोखिम की धुकधुकी लगी हुई है।

कालिदास—बिना थोड़ा-सा खटके का सामना किए प्रयोजन भी तो नहीं बनता। फिर मैं वचन देता हूँ कि भंडा फूटने न पाएगा।

मल्लिकाबाई—बात ठीक है। यदि आपका विश्वास न करूँगी तो करूँगी किसका?

कालिदास—महाक्षत्रप महोदय के पास आंतरिक दरबारों में कितनी यवनी स्त्रियाँ शरीर रक्षिका के रूप में रहती हैं?

मल्लिकाबाई—प्रायः पाँच।

कालिदास—हमारी महादेवीजी के साथ तो सात-आठ आएँगी।

मल्लिकाबाई—मैं समझती हूँ कि इसमें कोई आपत्ति वहाँ से न होगी।

कालिदास—तब फिर पूरी दृढ़ता रखिएगा।

मल्लिकाबाई—इसमें संदेह न होगा।

कालिदास—मैं चंद्रचूड़जी से भी प्रबंध-संबंधी कुछ बातें कि गुप्त परामर्श करना चाहता हूँ, यदि इच्छा हो तो उनका सारांश आपको भी बतला रक्खूँ।

मल्लिकाबाई—इसकी आवश्यकता नहीं है। वह आपको यहीं मिलेंगे। मेरे ही शिविर में किसी एकांत स्थल में उनसे बात कर लीजिए।

कालिदास—जैसी आज्ञा।

इस प्रकार बाईजी से गुप्त मंत्रणा के पीछे कविवर कालिदासजी वहाँ से बिदा हो एकांत स्थल में ले जाकर चंद्रचूड़जी से इस प्रकार परामर्श करने लगे।

कालिदास—कहिए भाई चंद्रचूड़जी! आप प्रसन्न हैं न?

चंद्रचूड—आपकी कृपा से बहुत अच्छा हूँ। सुना है अब

आपको कोई राज्य मिलने वाला है। भाई, मेरा भी स्मरण रखियेगा।

कालिदास—इन बातों में क्या रक्खा है? भाई! आगे की आशा जाने दीजिए, मैं आज ही आपको मालामाल कर सकता हूँ।

चंद्रचूड—भलाई और फिर पूछ-पूछकर! कहिए! क्या आज्ञा है?

कालिदास—कहना यह है कि अपने स्वामी से कोई विश्वास-घात भी न कीजिए! केवल मेरे स्वामी का थोड़ा-बहुत मान रख लीजिए, इतनी ही प्रार्थना है; मैं अभी आपको बीस सहस्र दीनारों की भेंट कर सकता हूँ।

चंद्रचूड—क्या सच ही सच! ऐसा कहाँ संभव है? आप मुझे बना-भर रहे हैं।

कालिदास—नहीं, सच-ही-सच कह रहा हूँ।

चंद्रचूड—अच्छा, बात तो कहिए; भाईजी! मेरा भी भाग्य जागता हुआ दिख रहा है। क्या सच ही कह रहे हैं?

कालिदास—बात इतनी-सी है; कल गुप्त महादेवी आपके शिविर में महाक्षत्रपजी की सेवार्थ उपस्थित होंगी। यह तो आपने सुना ही होगा।

चंद्रचूड—बात है तो बहुत गोप्य, किंतु मुझसे कहाँ छिप सकती थी? मैं भाई! उड़ता पक्षी पकड़ता हूँ। अच्छा, मुझसे क्या आज्ञा होती है?

कालिदास—उनकी सहगामिनी यवनी रचिकाएँ, बाँदियाँ आदि जो आवेंगी, वे तो सीधी महाक्षत्रपीय शिविर में उन्हीं के साथ चली जायँगी, और जो हज़ार-दो हज़ार सिपाही आवेंगे, वे बाहर

रहेंगे। यद्यपि बात कुछ भी नहीं है, तथापि महादेवी तो ठहरीं, वह चाहती हैं कि उनके अनुगामी शिविर से दस-बीस पैग दूर तक चले आवें। एक तो यों ही बिना अंतःपुरवाले रक्षकों के उन्हें सदैव भय लगा रहता है, दूसरे यहाँ शत्रु-शिविर की सेना भी है, इससे वे बहुत डर रही हैं।

चंद्रचूड़—रहना तो अंत में यहीं है; ऐसी दशा में हमारे भटों को भी उन्हें अपने ही मानना चाहिए।

कालिदास—है तो अब यही बात, किंतु आपका भाग्य बलवान है। स्त्री की जाति ठहरीं, डर नहीं जाता; हठ भी पकड़ रही हैं। सब कुछ समझवाया, नहीं समझतीं। मैंने उन्हें वचन दे रक्खा है कि यहीं प्रबंध करा दूँगा; बस, अब मामला आपके ही अधीन है।

चंद्रचूड—महाक्षत्रप महोदय की सेवा में क्यों नहीं निवेदन कर देते?

कालिदास—उनसे भी कई विनतियाँ करनी हैं, बहुत-बहुत बातें करने में डर लगता है; इसी से आपकी सहायता इस छोटी-सी बात में चाहता हूँ। यदि उन्हीं से निवेदन करने का साहस होता, तो स्वामी का इतना प्रचुर धन क्यों व्यय कराता?

चंद्रचूड़—बात छोटी-सी ही दिखती है; कोई धोखे का मामला तो नहीं है?

कालिदास—जब एक लक्ष गुप्त दल शकों का सामना न कर सका, तो दो सहस्र लोग भला क्या बना लेंगे? यहाँ तो स्त्री हठ की बात है।

चंद्रचूड—समझ यही पड़ता है।

कालिदास—बस, सारा प्रबंध गुपचुप हो जाय, कानोंकान कोई कुछ जाने नहीं।

चंद्रचूड़—जानेगा कैसे ? मैं भी जीवन-पर्यंत इसी दरबार में रहा हूँ। किसी रक्षक आदि की मजाल है कि मेरे प्रबंध में चूँ कर सके ?

कालिदास—बस, इतनी ही बात है। अब आपको हुँडी के रूप में कहिए अभी दे दूँ या सुवर्ण कहीं भेजवा दूँ ?

चंद्रचूड़—हुँडी ही ठीक होगी, इतने सुवर्ण से सब लोग जानेंगे और मेरी अपकीर्ति संभव है।

कालिदास—(हुँडियाँ देकर) तो लीजिए, इन्हें संभाल लीजिए। धोखा न हो भाई, क्योंकि ऐसी बातों में लोग प्राणों तक के ग्राहक हो जाते हैं।

चंद्रचूड़—इतना मैं भी समझता हूँ, आप निश्चिन्त रहिए। मैं क्या कच्ची गोली खेले हुए हूँ ?

इस प्रकार प्रधान शरीर रक्षक चंद्रचूड़ से बिदा होकर कालिदास ने महाक्षत्रप महोदय की सेवा में अपने आने का समाचार भेजवाया। यह उनके पुनर्बार मिलने का अवसर भी था और महामंत्रीजी उन्हीं की सेवा में प्रस्तुत थे। अतएव कविवर तुरंत आहूत हुए, और परामर्श प्रारंभ हो गया।

महाक्षत्रप—कहिए कविवर ! मुझे निराश तो न होना पड़ेगा।

कालिदास—यदि ऐसी ही बात होने को होती, तो मुझ पर उस दिन वैसी कृपा क्यों की जाती ?

महाक्षत्रप—(प्रसन्न होकर) तो क्या मामला ठीक कर लाए ? धन्य है आपकी बुद्धि को।

कालिदास—यदि एकाध विनती भी करूँ, तो आशा है, क्षमा किया जाऊँगा। सच तो यों है कि उस दिन मुझे इस शीघ्रता से साफल्य की आशा थी नहीं।

महाक्षत्रप—हाँ-हाँ, कहिए। मुझे आपको कुछ अदेय नहीं है।

कादास—मैं इतनी करबद्ध प्रार्थना करूँगा कि विना पाँच लक्ष वार्षिक आयवाले राज्य के मेरा पूर्ण संतोष न होगा, देव! यों तो आज्ञा के बाहर किसी दशा में नहीं हो सकता।

महाक्षत्रप—पाँच नहीं सात लक्ष का राज्य लीजिए। कहिए तो आज ही अंकयुक्त शासन निकाल दूँ।

कालिदास—धन्य-धन्य देव! आज्ञा-पत्र की आवश्यकता नहीं; भवदीय वचन ही शासन हैं। अच्छा, अब प्रबंध-संबंधी दो-एक साधारण विनतियाँ हैं।

महामंत्री—वे भी कह डालिए।

कालिदास—एक तो जब हमारी महादेवीजी बाहर निकलती हैं, तब बाँदियों के अतिरिक्त सात-आठ सशस्त्र यवनी शरीर-रक्षिकाएं उनके साथ रहती हैं।

महाक्षत्रप—इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? मेरे पास तो पाँच ही होंगी, किंतु अभी वे साम्राज्य की महादेवी हैं, उनके लिये आठ सही।

कालिदास—उज्जयिनी में जाकर वहाँ के नियमों का पालन करेंगी ही; किंतु अभी अयोध्या में हैं?

महाक्षत्रप—(हँसकर) अच्छा भाई! यहाँ उनका मान मुझसे विशेष रहे।

कालिदास—दूसरी बात यह है कि सहस्त्र या दो सहस्त्र सैनिक अपने-अपने चमूपों-सहित उनके साथ होंगे, जो शिविर के बाहर रह जायँगे।

महामंत्री—(हँसकर) उनके एक लक्ष सैनिकों ने कुछ कर लिया और कुछ इनके लिये शेष है।

कालिदास—इतना तो मैं भी समझता हूँ, आर्य! किंतु क्या करूँ? स्वय सम्राट् के समझाने तक से न मानीं। स्त्री-हठ की बात हो गई।

महाक्षत्रप—(हँसकर) अच्छा, यहाँ तक मामला जा चुका है ; तब मैं भी समझ गया। दो नहीं, तीन सहस्र बलि के बकरों को लावें, मुझे कोई आपत्ति नहीं। और तो कुछ नहीं कहना है ?

कालिदास—अब मेरी बिनतियाँ समाप्त हो गईं, देव !

महाक्षत्रप—तो मुझे भी एकाध बात पूछनी है ?

कालिदास—अवश्य आज्ञा हो।

महाक्षत्रप—कहीं स्त्री बदलने की युक्ति न हो, क्योंकि मैं महादेवीजी को पहँचानता भी हूँ। यदि ऐसा हुआ, तो मुझसे बुरा कोई नहीं।

कालिदास—इसका संदेह न किया जाय, देव ! वरन्, मैं यों बिनती करूँगा कि स्वयं छोटी महारानीजू देवि कदाचित् उन्हें पहँचानती भी हैं। वही उनसे मिलकर निश्चय कर लें।

महाक्षत्रप—तब यह बात निर्णीत हो गई। दूसरी बात यह है कि हमारे सैनिकों ने इधर-उधर कुछ राजकीय सेनाओं को देखा। इसका क्या प्रयोजन है ?

कालिदास—यह तो, देव ! यहाँ का साधारण नियम है ; जब परचक्र का अवसर होता है, तब हज़ार-पाँच सौ सेना, जो प्रति प्रांत में अंतपालों के साथ रहती है, वह अपनी-अपनी सीमाओं पर आ जाती है कि जिसमें कोई पराई सेना उन देशों में निर्विघ्न न घुस पड़े।

महाक्षत्रप—(महामंत्री से) क्यों आर्य ! क्या ऐसे ही दल यत्र-तत्र देखे गए हैं ?

महामंत्री—ऐसा ही समझ पड़ता है, देव !

कालिदास—तब मुझे आज्ञा होती है न ?

महाक्षत्रप—महादेवीजी के पधारने का समय तो अभी आपने कहा ही नहीं।

कालिदास—कल संध्या को सवा या डेढ़ पहर रात गए।

महाक्षत्रप—ठीक है। अब आप जा सकते हैं। देखिए, किसी प्रकार का धोखा या विलंब न हो। आप क्या उनके साथ पधारिएगा?

कालिदास—मेरी इसमें बड़ी अपकीर्ति होगी, देव! केवल अंतः-पुर का स्त्री-समाज तथा वहीं के रक्षक आवेंगे।

महाक्षत्रप—(हँसकर) कोई बात नहीं है, ऐसा ही सही।

(कालिदास प्रणाम करके बाहर जाते हैं) अजी सुनते जाइए।

कालिदास—(पलटकर) आज्ञा, देव!

महाक्षत्रप—अनुचित विलंब न होने पावे।

कालिदास—यथासंभव न होगा। (जाते हैं)

अनंतर दरबार समाप्त करके महाक्षत्रप महोदय मल्लिकाबाई के शिविर में संध्योपरांत पधारे और अपने स्थान पर विराजकर संभाषण करने लगे।

महाक्षत्रप—प्राणप्रिये! आज तुम्हारा बदन-कमल कुछ उतरा हुआ है, क्या बात है?

मल्लिकाबाई—नाथ! मैं तो यथाशक्ति इन चरणों की सेवा पूर्ण भक्ति के साथ करती आती हूँ, किंतु देखती हूँ कि संतोष नहीं दे पाती।

महाक्षत्रप—ऐसा नीरस विचार तुम्हारा कैसे हुआ? यदि ध्रुव-देवी के कारण कहती हो, तो समझ लो कि जब से तुम्हारे दर्शन किए हैं, उसके पूर्व से वह मेरे हृदय में बस रही है।

मल्लिकाबाई—यदि मुझे उससे श्रेष्ठतर समझते, तो क्या उसका विचार चित्त से उतर न जाता?

महाक्षत्रप—यदि तुम भी पुरुष होतीं, तो यह बात न कहतीं। जब किसी ओर चित्त गड़ जाता है, तब करोड़ युक्ति करने से भी

नहीं निकलता। लोकोक्ति चलती ही है कि प्रेम नेत्र से प्रेम-पात्र को न देखकर चित्त से देखता है।

मल्लिकाबाई—चित्त ऐसा उच्छृंखल होने ही क्यों पावे? उसे स्ववश रखना चाहिए।

महाक्षत्रप—यही बात महादेवी भी कहा करती हैं, किंतु क्या करूँ? मन समझाया नहीं समझता। यदि तुम्हारे मान अथवा चरण सेवा में अणुमात्र ऊनता हो, तो कान पकड़ लीजिएगा।

मल्लिकाबाई—(हँसकर) आपके वचनों में जितना माधुर्य है, उतना ही कार्यों में सदैव नहीं दिखता।

महाक्षत्रप—(प्रसन्न होकर) यदि ध्यान-पूर्वक देखो, तो दिखने भी लगे।

मल्लिकाबाई—तो आप वचन-बद्ध होते हैं कि मेरे मान में कोई कमी न आवेगी?

महाक्षत्रप—अणु-मात्र नहीं; प्राणप्रिये! क्या जानती नहीं कि जब से आपकी कृपा हुई है, तब से पहलेवाली मेरी दो-तीन प्रेमिकाएँ पूर्णतया त्यक्त हो चुकी हैं?

मल्लिकाबाई—यह मैं भी सुन चुकी हूँ। फिर भी एक बार विनती किए लेती हूँ कि कम-से कम आज के वचनों का निरादर न हो।

महाक्षत्रप—त्रिकाल में नहीं।

सोलहवाँ परिच्छेद

बदला

आज महाक्षत्रप महोदय का हृदय बाँसों उछल रहा है। वर्षों की आकांक्षा निर्विघ्न पूर्ण होनेवाली है। ध्रुवदेवी का अपूर्व सौंदर्य चिर काल से इनके चित्त में बसा हुआ है। जैसी मल्लिकाबाई की सांत्वना की थी, वैसे ही अपनी महादेवी की भी कर आए हैं। भविष्य में उन्हीं के महादेवी बनी रहने का वचन भी दे चुके हैं। आज इनका चित्त किसी काम में नहीं लग रहा है। राम-राम करके किसी प्रकार संध्या का समय पकड़ पाया है। अब तो पत्ते के खड़कने से भी इन्हें गुप्त महादेवी ही की अवाई की आशा होती है। अंतरंग दरबार का प्रबंध हो चुका है। महाशक्ति की प्रार्थना से शक्तिपुर की गायिका माधवीबाई आज समाज को नृत्य-गान प्रदर्शनार्थ नियत हो चुकी हैं। बहुत ही धीरे धीरे रेंगता हुआ रवि-रथ-चक्र किसी प्रकार आगे बढ़ा, और दरबार का समय उपस्थित हुआ। महाक्षत्रप के प्रधान कृपा-पात्रों का समाज एकत्रित किया गया और वह भी अपने सिंहासन पर विराजकर मद्य-पान तथा नृत्यावलोकन में संलग्न हुए। मित्र-समाज में परमोत्कृष्ट सुरा के प्याले चलने लगे। महामंत्री की आज्ञा से माधवीबाई गान और नृत्य की अपनी ऊँची कला दिखलाने लगी। पक्के गाने के साथ कई चित्ताकर्षिणी गतियाँ भी नाचकर उन्होंने दिखलाईं। वाहवाही की प्रतिध्वनि से सारा दरबार गूँजने लगा। ऐसी ऊँची कला देखकर महाक्षत्रप महोदय भी बहुत प्रसन्न हुए। अनंतर उनकी आज्ञानुसार गाना भी सुनाने लगीं। उनके तीनों वाद्यकार भी अपना-अपना गुण

परमोत्कृष्ट रीति से समाज को दिखलाने लगे। मृदंग और सारंगियों की ध्वनि दर्शकों का मोहने लगी। गाना इस प्रकार होने लगा—

मदिरा मुल्लसों निद्य बतावे।
तऊ समै पर नहिं कोऊ चूकै, छकि-छकि सबै उड़ावैं,
कोऊ खुले छिपे कोउ पीवै मद सो बाज न आवैं।
प्याले-पै-प्याले ढरकावै भलेहि मस्त बनि जावै,
खुले बहुत दिन धारन कीन्ही अब ऐसी चित आवैं;
त्यागिन मैं हमहूँ मिलि बैठें छिप-छिप चोट चलावै।

महाक्षत्रप—(चंद्रचूड़ से कान में) क्या अभी तक महादेवी की सवारी नहीं आई ?

चंद्रचूड़—(धीमे स्वर में) नहीं, देव ! कई धावन लगे हुए हैं। आते ही मैं सब लैस कर दूँगा।

महाक्षत्रप—(गायिका से) बहुत अच्छा गाया, हाँ, ऐसा ही एक और सुनाओ।

माधवी—(कई बार प्रणाम करके) बड़ी ही कृपा हुई, देव ! (गाती है)

लाल-लाल लै मद्य हाथ पीता जो है ना,
उसका-सा बैकल्प देख जग और परैना।
समझो केवल एक जनम दुनिया में पाना,
क्या गँवार के सरिस चाहिए उसे गँवाना।
इस संसार-असार बीच बरनूं क्या भाई ?
केवल पंच मकार मनुज को हैं सुखदाई।
देनी उत्तम सीख साधु का काम सदा है,
गुनो सफल वह तभी पालता दास यदा है।

महाक्षत्रप—(हँसकर) क्या ही उच्च तथा धर्म-पूर्ण शिक्षा हुई है ? (चंद्रचूड़ से कान में) क्या अब भी सवारी नहीं आई ?

चंद्रचूड़—(धीमे स्वर में) अभी आई तो नहीं है, देव ! किंतु आना ही चाहती है ; राजदूत पहुँच चुके हैं। अभी एक गाने का समय और है।

महाक्षत्रप—ख़ूब सजग रहना। (चंद्रचूड का प्रस्थान) एक और गाना सुना दो, किंतु अब कोई अन्य विषय हो।

माधवी—जो आज्ञा, देव ! (गाती है)

"यह सुख पाया मैंने मैया के राज मैं जू
कारी बदरिया में झूले क झूलना।
यह सुख पाया मैंने सासू क राज मैं जू
आधी हू राति लौं जू चक्की क पीसना।
यह सुख पाया मैंने बलमू के राज मैं जू
चंदा-समान भोले मुखड़े क चूमना।
यह सुख पाया मैंने रामू के राज मैं जू
गंगा नहाय वृंदा गौरी क पूजना।"

सब लोग उच्च स्वर से हँसते हैं। महाक्षत्रप महोदय भी हँस पड़ते हैं।

चंद्रचूड़—(बाहर से आकर उच्च स्वर से) सब महाशयो चैतन्य हो जाओ ; महादेवीजी की सवारी शिविर-द्वार पर प्रस्तुत है। (महाक्षत्रप से) आज्ञा, देव !

महाक्षत्रप—(परम प्रसन्नता नाट्य करते हुए चंद्रचूड से कान में) क्या छोटी महारानीजी पहचान चुकी हैं ?

चंद्रचूड़—(धीमे स्वर से) जी हाँ, देव !

महाक्षत्रप—(साधारण स्वर से) अभी आदर-पूर्वक ले आओ। (महामंत्री से) आप स्वयं जाकर मान-पूर्वक ले आइए।

महामंत्री—जो आज्ञा। (चंद्रचूड को साथ लेकर बाहर जाता है तथा महादेवी शाल में मुख छिपाए मंथर गति से सिंहासन की

ओर आती हैं। उनकी आठ सशस्त्र यवनी शरीर-रक्षिकाएँ सिंहासन को घेरकर खड़ी होती हैं, तथा बीस-पच्चीस सेविकाएँ शालों के घूँघट से केवल नेत्र निकाले हुए यथास्थान उपस्थित होती हैं।)

महाक्षत्रप—स्वागत, महादेवी महोदया ! आपने इस दास पर बड़ी कृपा की ; आशा है, अयोध्या से कम मान आपको उज्जयिनी में भी न समझ पड़ेगा। आइए, अब इस सिंहासन को पुनीत कीजिए।

महादेवी सिंहासन पर चढ़कर अपना शाल उतारकर फेंकती है, और एक सशस्त्र तथा सलौह कवच षोडशवर्षीय युद्धकर्ता निकल पड़ता है। लोग चौंक पड़ते हैं, और महाक्षत्रप उठने को करता तथा खड्ग की मूठ पर हाथ ले जाता है। इतने ही में वह वीर बढ़कर उसके दोनो हाथ पकड़ लेता है, तथा उसकी एक यवनी शरीर-रक्षिका कूदकर सिंहासन पर चढ़ती और महाक्षत्रप के हृदय में कठोर कटार का आघात करती है। वह कटार उसके कवच-हीन हृदय में मूठ-पर्यंत घुस जाता है और यवनी उसे तुरंत बल-पूर्वक खींचकर वैसा ही दूसरा वार करती है। रुधिर-धार बह निकलती है और महाक्षत्रप का स्वभावशः सबल शरीर बिलकुल निर्बल हो जाता है।

महाक्षत्रप—(यवनी का क्रुद्ध मुख कुछ-कुछ पहचानकर) हाय धोखा ! यवनी चंद्रगुप्त धोखा ! इतने ही में यवनी द्वितीय बार कटार को बल-पूर्वक खींचकर तृतीय घातक वार करती है, जिससे महाक्षत्रप का प्राण-पखेरू उड़ जाता है। अनंतर कटार को खींचकर वही यवनी महाक्षत्रप के मृत शरीर को हृदय से लगाकर उसे मान-पूर्वक सिंहासन पर रख देती है। इतनी कार्यवाही ऐसे तड़िद्वेग से होती है कि सारी सभा भौचक-सी रह जाती है। इतने ही में महाक्षत्रप की पाँचों यवनी शरीर-रक्षिकाएँ युद्धोन्मुख होती हैं, किंतु

महादेवी की यवनियों के एक ही आध स्वल्प प्रहार से चलित धैर्य होकर भागती हैं। अब महादेवी की सेविकाएँ भी शाल फेंक-फेंककर सशस्त्र और सकवच योद्धा बन जाती हैं। यही माधवी के तीनों वाद्यकार (साज़िंदे) तथा महाक्षत्रप के लोग करते हैं, और दरबार के उसी शिविर में खचाखच तलवारें चलने लगती हैं। महादेवी की यवनियाँ उच्च स्वर से सिंहनाद करती हैं, जिससे जो अयोध्यावाले सिपाही बाहर नियोजित हैं, वे भी कुछ शिविर में घुस पड़ते और शेष शक रक्षकों को यम-सदन पहुँचाने के कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। जहाँ-तहाँ गोले दगते हैं, जिससे अयोध्यावाला सारा दल तथा घेरनेवाले सैनिक रातोरात चारो ओर से शक-दल पर तत्काल प्रचंड आक्रमण करते हैं। शिविर के आक्रमणकर्ता गड़बड़ में शक-वीरों को काटते हुए अपनी सेना में मिलकर फिर से युद्ध प्रारंभ करते हैं। शक-सेना युद्धार्थ तैयार न रहने, सब ओर से घिरी रहने, अँधेरी रात्रि के अचानक धावे तथा उस ओर के देश से अपरिचित होने के कारण कुछ कर न सकी तथा मूली-गाजर-सी कटने लगी। आक्रमणकारी सेना संख्या में भी उससे सवाई अथच महाक्षत्रपीय अनुचित माँग के कारण महाक्रोधित थी। शक-दल बिल्लाकर सब ओर भागा, किंतु खदेड़-खदेड़कर मारा जाने लगा। मार्गवाली प्रत्येक नदी पार करने में उसकी संख्या प्रायः आधी हो जाती थी। शत्रु के भटाश्वपति और कटुक रात्रि के कारण कुछ कर न पाए। सैकड़ों हाथी और सहस्रों घोड़े गुप्त सेना ने पकड़ लिए। इन्होंने रात्रि के युद्ध में अपनी गज-सेना से तो काम न लिया, किंतु हयारोहियों ने भी शत्रु-दल को ख़ूब काटा।

प्रायः पचास सहस्र शकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। लगभग एक लाख तलवार के घाट उतार दिए गए, और शेष अस्त्र फेंक-फेंककर विविध रूपों में भागते-भूगते स्वदेश की ओर धावित हुए। यह

खदेड़ का काम पंद्रह-बीस दिनों तक चलता रहा। अनंतर अपनी कुछ विजयिनी सेना नर्मदा के इस पार स्थापित करके तथा सहस्रों इतर योद्धाओं को बंदी पर लगाते हुए महासेनापति चंद्रगुप्त अपने मित्रों के साथ परम आह्लाद-पूर्ण दशा में अयोध्या की ओर प्रस्थित हुए। उन्होंने अपनी सारी सेना, चारो प्रधान सेना-नायकों, वाकाटक शक्ति तथा इतर उचित सहायकों को भूरि-भूरि धन्यवाद दिए। सबों ने विनम्र-भाव से उनका अभिवादन किया। विजयी वाकाटक-दल उसी ओर से स्वदेश को चला गया, तथा शक्तिपुर की भी सेना अपने राज्य की ओर प्रस्थित हो गई, केवल युवराज महोदय थोड़ी-सी सेना तथा मित्रों के साथ अयोध्या की ओर चले। शत्रु-पक्ष का सारा मंत्रिमंडल, महादेवी, मल्लिकाबाई आदि के साथ बंदी हो गया था। महाराज चंद्र ने मन्त्रिमंडल तथा शक महादेवी को मान-पूर्वक उज्जयिनी भेज दिया और मल्लिकाबाई अपनी इच्छा से कालिदास के प्रबंध में रह गईं।

मार्ग में युवराज इंद्रदत्त प्रायः महाराज चंद्र के साथ एक ही रथ पर चलते थे और बातें भी हुआ करती थीं। एक दिन चंद्रगुप्त ने उनसे इस प्रकार संभाषण किया।

चंद्रगुप्त—महादेवीजी की कार्यवाही मेरी समझ में भली भाँति नहीं आ रही है।

इंद्रदत्त—आपकी बातें भी तो वे न समझ पावेंगी। जब अपने देवर राजा को दाढ़ी-मूछ मुड़ाए यवनी के वेश में देखेंगी, तब प्रसन्न हो जायँगी।

चंद्रगुप्त—क्या कहें, भाईजी! समय के फेर से अपने सात साथी वीरों-सहित मुझे भी श्मश्रु तथा मुच्छ मुड़ाकर यवनी बनना पड़ा। बिना ऐसा किए उस दुष्ट के सिंहासन तक पहुँच सुगमता-पूर्वक न हो सकती। तुम्हारे एक साथी के शरीर की बनक भाभी

जी के ही कुछ-कुछ समान होने से कार्य-सिद्धि अच्छी हुई। मल्लिका-बाई ने भी न जाना कि वह स्त्री न थी।

इंद्रदत्त—जब एकाएकी कवचधारी वीर निकल पड़ा होगा, तब शत्रु-सभा के मुखों की आकृतियाँ देखने ही योग्य हुई होंगी।

चंद्रगुप्त—कुछ न पूछिए, भाईजी! सब-के-सब ऐसे घबराए कि देखते ही बनता था। महाक्षत्रप ने ही सबसे विशेष धैर्य दिखलाया। यदि मैं सिंहासन पर तुरंत न पहुँच जाता, तो संभवतः महाक्षत्रपीय खड्ग से उस बालक का शिर उड़ गया होता।

इंद्रदत्त—था तो वह भूपाल भी अच्छा युद्धकर्ता।

चंद्रगुप्त—अपने समय का पूरा रावण था; वैसा ही उत्साही, स्त्रैण तथा प्रबंध-पटु। मैं तो उसे मित्र ही मानना चाहता था, किंतु महाकवि द्वारा समझाए जाने पर भी उसकी बुद्धि ने काम न किया।

इंद्रदत्त—समझता सब कुछ था, किंतु स्त्रैण भाव तथा बल-दर्प ने उसे बावला बना दिया। सम्राट् की अयोग्यता से उसे बड़ी आशा बँधी थी, जो बहुत कुछ सफल भी हो गई। अब समय पर शक-शक्ति अशेष होनी चाहिए।

चंद्रगुप्त—मेरा बस चला, तो इसमें संदेह न होगा। भला, एक बात मैं और पूछना चाहता हूँ। जानते ही हैं कि ऐसे अवसरों के लिये मैं बधिर सारथी रखता हूँ।

इंद्रदत्त—अच्छा, पूछिए। अब मैं भी ऐसा ही सारथी अपने लिये चुनूँगा।

चंद्रगुप्त—हमारी भाभीजी की यक्ष्मावाली बात पर मुझे सदैव आश्चर्य हुआ ही करता था। वैसा ही तेज, वैसा ही रूप-रंग, वैसा ही शरीर; किसी प्रकार की कोई क्षति न दिखती थी। उस दिन

के महाकोप में उनका मुख और भी भला लगता था। वह आश्चर्य तो कृत्रिम रोग का हाल जानकर दूर हो गया, किंतु अब दूसरे अचरज ने घेरा है।

इंद्रदत्त—अब आपको यह जानना होगा कि इतने कष्ट का कारण क्या है?

चद्रगुप्त—यही तो ध्यान में नहीं आता। माना कि आप सब लोग मुझसे सबंध चाहते थे, किंतु वह बात तो अब असंभव है। तब देवदर्शन छोड़कर मित्रभाव का कथन, महादेवी पन का महत्त्व तजकर कनिष्ठ के पद वंदन, मेरे प्रणाम का वर्जन, इन सब बातों का क्या अर्थ? जब एक बार विवाह होही चुका, तब विवाहित पति से इतनी अश्रद्धा। यह सब क्या बातें हैं? क्या किसी कुलवती के लिये ये सब योग्य हैं? माना कि पति का आचरण बहुत अनुचित था, फिर भी कथनों की तीव्रता आश्चर्य-जनक थी।

इंद्रदत्त—आप तो दस दस बातें साथ-ही-साथ पूछते हैं, किस-किसका उत्तर दूँ?

चंद्रगुप्त—किसी ओर से चलिए।

इंद्रदत्त—तब सबसे पहले यही कहता हूँ कि यह सिंहिनी किसी शृंगाल के लिये न थी और न है।

चंद्रगुप्त—इस प्रकार मेरे ज्येष्ठ बंधु की निंदा आप के लिये योग्य नहीं।

इंद्रदत्त—क्षमा कीजिएगा, इस प्रकार का मिथ्या भाषण आपके भी योग्य नहीं। आपही ने क्यों सिंहिनी, मृग और सिंह का स्वप्न देखा था?

चंद्रगुप्त—क्या उसका यह अर्थ था? फिर मुझसे महाराजा ने बतलाया क्यों नहीं?

इंद्रदत्त—ऐसा स्पष्ट भाषण राजनीतिज्ञ नहीं कर सकते। पूरे का पूरा तब समझ में भी न आया था।

चंद्रगुप्त—यह तो बहुत ही बुरी बात है; मैं यथासंभव जेष्ठ बंधु की रक्षा अवश्य करूँगा।

इंद्रदत्त—यह कथन योग्य ही था, किंतु परिस्थिति भी देखिए।

चंद्रगुप्त—वह तो अब वश में है।

इंद्रदत्त—केवल पर-चक्र के लिये, सो भी कुछ काल को। "दुर्बलो दैवघातक:" की बात क्या भूल रहे हैं?

चंद्रगुप्त—आप समझते हैं कि भविष्य में भी कुप्रबंध होगा ही, और कोई-न-कोई परचक्र अवश्य प्रबल हो पड़ेगा।

इंद्रदत्त—यह बात ऐसी ही अनिवार्य है जैसे दिन के पीछे रात्रि का होना।

चंद्रगुप्त—तो क्या हम लोग सो जाएँगे?

इंद्रदत्त—शक आक्रमण में क्या सोते थे?

चंद्रगुप्त—तब तो सम्राट को लोगों ने मेरे प्रतिकूल संदेह दिला दिया था।

इंद्रदत्त—भविष्य के लिये शायद आप यह बात असंभव मानते हैं।

चंद्रगुप्त—कुछ दिनों को तो यह परिस्थिति दूर है।

इंद्रदत्त—भाईजी! आपने इतना भारी समर जीता है; लोग उन्हें संदेह दिला देंगे। पर चक्र की आवश्यकता नहीं, आपके लिये अभी से जीवन-मरण का प्रश्न उठेगा।

चंद्रगुप्त—अभी से।

इंद्रदत्त—जी हाँ, अभी से।

चंद्रगुप्त—सार तो कुछ आपके कथन में भी है; तब फिर करूँ क्या?

इंद्रदत्त—हटाओ इस क्लीव शृगाल को।

चंद्रगुप्त—क्या कह गए? भाईजी! होश ठिकाने कीजिए।

इंद्रदत्त—मेरे होश ठिकाने हैं; आपही की बुद्धि चरने गई है, श्रीमान् उपरिक महाराज! समझे कि नहीं?

चंद्रगुप्त—समझा क्यों नहीं? है आपका कथन सार-मूलक, किंतु वह भ्रातृविरोध गर्भित है।

इंद्रदत्त—परिस्थिति ही ऐसी है, भाईजी! आपकी बुद्धि है तेज़, किंतु इस मामले में वह काम नहीं दे रही है। लोग कहते ही हैं कि अच्छे-से-अच्छा वैद्य अपनी नाड़िका नहीं देख सकता, न दवा कर सकता है।

चंद्रगुप्त—है तो कुछ ऐसी ही बात। अच्छा, आप स्पष्ट भाषण कीजिए।

इंद्रदत्त—स्पष्ट बात यह है कि या तो सम्राट् बनिए, या मृत्यु स्वीकार कीजिए।

चंद्रगुप्त—ऐसा!

इंद्रदत्त—ऐसा नहीं फिर कैसा?

चंद्रगुप्त—क्या आप भ्रातृ-वध का उपदेश देते हैं?

इंद्रदत्त—नहीं, केवल उन्हें राज्यच्युत करने का।

चंद्रगुप्त—मैं न तो मरूँगा, न भ्रातृ-विरोध करूँगा। दोनो प्रतिकूल दशाओं को किसी भाँति निभाऊँगा।

इंद्रदत्त—तब मुझे ऐसा दिखता है कि या तो आपका अमंगल होगा, या ज्येष्ठ बंधु का। आपकी योग्यता में मुझे इतना विश्वास है कि अपना बचाव बहुत करके कर ही ले जायँगे, अतएव उन्हीं का खटका इस औंधे मानस से दिखता है।

चंद्रगुप्त—मैं तो अपने अमंगल के खटके से भी भ्रातृ-वध न करूँगा, कितनी गर्हित बात है?

इंद्रदत्त—आपके अमंगल से भी वे न तो साम्राज्य बचा सकेंगे, न अपना शरीर ही। शत्रु ऐसा कृपालु न होगा कि उन्हें छोड़ दे। फल यह है कि या तो आप साम्राज्य लीजिए, अथवा वह इस वंश ही से निकल जायगा। उनमें उसे बचाने की पात्रता है नहीं।

चंद्रगुप्त—भाईजी ! यदि आपके कोई भाई होता, तो आप भी भ्रातृ-पद की अमोघ महिमा समझते। अभी आप जान ही नहीं सकते कि सगे भाइयों में कैसा निष्कपट प्रेम-पूर्ण व्यवहार होता है !

इंद्रदत्त—एक प्रकार से कथन आपका भी यथार्थ है, किंतु अशक्य समझ पड़ता है। प्रयत्न कर देखिए। फिर भी एक बात अभी से चेताए देता हूँ।

चंद्रगुप्त—वह भी कह डालिए। आपने सारे चातुर्य शास्त्र की आचार्यता शायद आज ही के लिये छिपा रक्खी थी।

इंद्रदत्त—पहले ही से मूर्खता और क्लीवता के कारण सारे नागरिक उनकी निंदा तथा आपकी प्रशंसा किया करते थे। इसकी भनक कानों में पड़कर उन्हें ईर्ष्यालु बनाती थी। इस महती विजय तथा उनके पत्नी विक्रयवाले विचारों से लोगों के ऐसे भाव और भी बढ़ेंगे, जिससे ईर्ष्या की भी मात्रा वृद्धिगत होगी।

चंद्रगुप्त—यह तो अभी से दिखता है। अच्छा, इसकी दवा क्या है ?

इंद्रदत्त—मैं समझता हूँ और यह कालिदासजी का भी विचार है कि आप अयोध्या पलटकर विक्षिप्त बनिए, जिससे आपके द्वारा अपनी हानिवाला उनका भाव जाग्रत् न हो, तथा शत्रुता का भाव दबा रहे।

चंद्रगुप्त—क्या मामले इतनी दूर बढ़ जायँगे ?

इंद्रदत्त—मैं तो यही समझता हूँ।

चंद्रगुप्त—अच्छा, एक बात मुझे और पूछनी है।

इंद्रदत्त—अवश्य पूछिए।

चंद्रगुप्त—आप मेरे मित्र हैं अवश्य, किंतु संबंधी तो पहले उन्हीं के हैं, फिर इन विचारों का क्या अर्थ है? इसी प्रश्न के साथ महादेवीजी के उपर्युक्त भावों का भी विषय लगा हुआ है।

इंद्रदत्त—समय पर यह भी समझ जाइएगा, अभी इतना ही जाने रहिए कि हम लोगों को ऐसे क्लीव का संबंध न तो पसंद था, न है।

चंद्रगुप्त—कठोर शब्दों को छोड़ दीजिए, भाईजी! उचित वार्ता कीजिए।

इंद्रदत्त—अच्छा, परमभट्टारक परमेश्वर महाराजाधिराज श्रीमान् रामगुप्तजीदेव को हम लोग अपनी मूर्खता से संबंधी के रूप में नहीं चाहते और न कभी चाहा।

चंद्रगुप्त—(हँसकर) आप चाहें या न चाहें, वह तो अब हो ही चुका।

इंद्रदत्त—इसका भी भेद समय पर आप जान लेंगे।

चंद्रगुप्त—समय कब आवेगा? अब तक आप ऐसी घुमावदार बातें मुझसे करते न थे। आज बात क्या है?

इंद्रदत्त—(कान में कहता है) अब तो समझे?

चंद्रगुप्त—समझे क्या, आप लोग भी आफ़त के पुतले हैं, क्या मय और शबर की सारी माया शक्तिपुर को ही उत्तराधिकार में मिली है?

इंद्रदत्त—(मुस्किराकर) भाईजी! ज़रा ज़बान सँभालकर बोलिए, देखते नहीं, किससे बात हो रही है? मेरे भी दो उपरिक हैं; उपरिक महाराजजी!

चंद्रगुप्त—हाँ, कुछ भूल गया था, अब स्मरण आया कि शक्ति-

पुरीय युवराज के सम्मुख उपस्थित हूँ। अत्र कर-बद्ध प्रार्थना है कि क्षमा किया जाऊँ।

इंद्रदत्त—आज क्षमा दी जाती है, भविष्य में सचेत रहिएगा (हँसता है)।

चंद्रगुप्त—अब सचेत रहूँगा। अच्छा, विनती करता हूँ कि जगदीश ने अपनी असीम कृपा से ईरानपति मय और वैजयंत-नरेश शंबर की सारी माया का ज्ञान शक्तिपूर के ही उज्ज्वल राजघराने को शायद प्रदान किया है। अब तो कथन में कोई धृष्टता नहीं है?

इंद्रदत्त—हीनोपमा अयोध्या में शायद अधिकोपमा मानी जाती हो।

चंद्रगुप्त—मेरे कथन में हीनोपमा क्या है? मय और शंबर कितने बड़े शासक थे? क्या वे किसी प्रकार निंद्य कहे जा सकते हैं?

इंद्रदत्त—नहीं, उनका-सा महात्मा शायद आजकल के भारतीय साम्राज्यों में भी न निकलेगा।

चंद्रगुप्त—अच्छा, भाई! मैं ही जीता सही, अब तो प्रसन्न हैं।

इंद्रदत्त—भला अब मुझे क्या उपालंभ हो सकता है? जो लोग तपस्वियों को मायावी तक समझते हैं, वे कभी क्या हार भी सकते हैं?

चंद्रगुप्त—यह तो ठीक ही है। किया बेचारी महादेवीजी ने घोर तप अवश्य। अद्यावधि उसका फल भी अनिश्चित है। कुछ युक्ति तो करनी ही पड़ेगी। भला मैं पूछता हूँ कि क्या सचमुच मुझे विक्षिप्त बनना पड़ेगा?

इंद्रदत्त—कुछ तो मय और शंबर का दान आपको भी लेना ही होगा। इतर मित्रों से भी मंत्रणा कर लीजिए।

चंद्रगुप्त—ऐसा ही होगा, किंतु बात आपकी ठीक दिखती है।

इस वार्ता के अनंतर जब अयोध्या की सेना संध्या को विश्रामार्थ ठहरी, तब इन सब मित्रों ने एकत्र होकर मंत्रणा आरंभ की।

चंद्रगुप्त—भाइयो! आज युवराज महोदय ने बड़ी उद्विग्नता-पूर्ण बातें कहीं। (सूक्ष्मतया उनके विचार तथा निष्कर्ष बतलाकर) अब इस गहन विषय पर आप महोदयों की भी सम्मति आवश्यक है।

कालिदास—मुझसे इन्होंने पहले भी मन्त्रणा कर ली थी। मुझे ये बातें वीरसेनजी ने सुझाई थीं। हम दोनो तो सहमत हैं ही।

कृतांत—(चंद्रगुप्त से) तब तो हमी दोनो इस मित्र-मंडली में पराए दिख रहे हैं।

वीरसेन—आपने तो मुझे पहले ही से इस विषय पर न-जाने कितने उपदेश दिए थे, हाँ, विक्षिप्तता की बात अवश्य न आई थी। अब से आप, घर से आप का मामला है। अब क्या सम्मति देते हैं?

कृतांत—सम्मति में संदेह हो नहीं सकता; मान लेना इसका मैं भी आवश्यक समझता हूँ। असली बात यह है कि सम्राट् महोदय की अयोग्यता से सारा मामला बिगड़ रहा है। अनुजों की प्रवीणता राज्यों के लिये शक्ति तथा आनंद-प्रदायिनी रहती है; स्वयं अर्जुन, लक्ष्मण, भरत आदि के अनेक उदाहरण प्रस्तुत हैं। केवल सम्राटों की बुद्धि आवश्यक होती है। यदि वे संतोष के स्थान पर संदेह प्रकट करने लगते हैं, तो दोनो के लिये जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है. जैसी दशा अपने यहाँ भी वर्तमान है।

चंद्रगुप्त—क्या सच्ची भक्ति से संशय दूर नहीं हो सकता?

वीरसेन—यदि हो सकता, तो बड़े महाराजाधिराज के समय में ही आप दोनो में विरोध क्यों उत्पन्न हो गया था?

कृतांत—यह बात बड़े सम्राट् महोदय के समक्ष भी दो बार

उपस्थित हुई थी। यहाँ तक प्रश्न उठा कि ज्येष्ठ बंधु अधिकार-च्युत किए जावें या, नहीं ? सम्राट् के अतिरिक्त सारे मंत्रिमंडल को भी निश्चय-सा था विशेषतया दूसरी बैठक में, किंतु थोड़ा-सा संदेह बना रहा। इतनी बड़ी बात शीघ्रता में न की गई। कुछ दिनों में ऐसा होने का भी निश्चय-सा किया जा चुका था कि इतने में एकाएक परमभट्टारक का स्वर्गवास हो गया।

चंद्रगुप्त—यह बात आपने अब तक क्यों नहीं कही ?

कृतांत—थी हम लोगों की भी बात, किंतु भाइयों में भेद न डालने के विचार से यह गुप्त रक्खी गई। जब आपसी ईर्ष्या के कारण साम्राज्य ही गिरा जाता था, तब से हम दोनो का विचार हुआ कि उचित समय पर गुप्तरीत्या भेद खोल दिया जाय।

चंद्रगुप्त—जानता सारा मंत्रिमंडल होगा ?

कृतांत—जी नहीं, महाराज! हम दोनो के अतिरिक्त केवल महामंत्री, अक्षपटलाधिकृत और महादंडनायक इसमें सम्मिलित किए गए थे। स्वर्गीय देव का भाव था कि ऐसी गोप्य बात सब में प्रकट न हो।

इंद्रदत्त—बात ठीक ही थी। अच्छा, अब भविष्य के विषय में क्या विचार है ?

वीरसेन—मेल की आशा दुराशा-मात्र है, तो भी महाराज उचित ही भ्रातृ-विरोध को गर्हित समझते हैं।

कालिदास—मेल के पूर्ण प्रयत्न में हानि ही क्या है ?

कृतांत—इसमें संदेह प्राण-संकट तक का है, तथापि हम लोगों को स्वार्थीपन का मंत्र न देना चाहिए।

चंद्रगुप्त—है ऐसा ही; फिर भी सगे भाइयों को यथासाध्य अहित के मार्ग पर पैर देना उचित नहीं।

सत्रहवाँ परिच्छेद

सम्राट्-पद

(अ) साम्राज्य-प्राप्ति

विजय से हर्षित गुप्त सेना जब अयोध्या के निकट पहुँची, तब पहले ही से सूचना भेज दी गई। सम्राट् की आज्ञा तथा महामंत्री के प्रबंध से सारी नगरी नई दुलहिन की भाँति सजाई गई। सब ओर ध्वजा, पताकाएँ फहरा रही थीं। मार्गों में १०१ अस्थायी फाटक सम्मानार्थ बनवाए जाकर श्रेष्ठ वसनों, मालाओं तथा अन्य शोभा-प्रवर्धक सामान से सुसज्जित किए गए और उनमें विजय तथा स्वागत-सूचक भाँति-भाँति के छोटे-छोटे वाक्य सुंदर वस्तुओं से लिखाए गए। सारे नगर में वंदनवार आदि बँधे। भद्र पुरुषों ने मार्ग में पड़नेवाले अपने भवनों को और भी सजाया। महिलाएँ गवाक्षों में बैठ-बैठकर स्वागत-गान तथा पुष्पों, खीलों आदि से नेता के अभिवादन की प्रतीक्षा करने लगीं। प्रातःकाल आधा पहर बीतने पर सवारी नगर में प्रविष्ट हुई। सबसे आगे राजकीय झंडा धौंसे की धुकार के साथ चलता था और तब सैनिक बाजावाले मंगल वाद्य बजाते हुए जा रहे थे। अनंतर एक सहस्र पदाती साज़-सामान के साथ थे। उनके पीछे २०० अश्वारोही सजे-सजाए जा रहे थे और तब स्वर्ण-झूलों से आभूषित १०१ हाथी चलते थे, जिसमें सबसे आगे महाराज चंद्रगुप्त और इंद्रदत्त एक ही हाथी पर थे, जिनके पीछे कालिदास, कृतांत, वीरसेन तथा अन्य नेता नियमानुसार इभारोही जा रहे थे। हाथियों के पीछे कुछ रथ और ऊँट भी थे। मार्ग में नागरिक जय-जयकार के साथ पुष्प-वर्षा करते जाते थे, और गवाक्षों

आदि से भी लाजों, पुष्पों, मालाओं आदि की वर्षा होती थी। कार्षापन और धरण निर्धनों को बाँटे और लुटाए जा- रहे थे। सारे नगर-निवासियों को मिठाई, वस्त्र आदि एक दिन पहले उपहार में मिल चुके थे। मंत्रियों आदि ने भी इसी प्रकार उदारता दिखलाई थी। इस भाँति सवारी में जाकर सेनापति चंद्रगुप्त राजप्रासाद में पहुँच, सम्राट् के सिंहासन के सम्मुख जाकर विनयावनत हुए। उन्होंने सिंहासन से उतर इन्हें हृदय से लगाकर मस्तक सूँघा। दोनो भाई बहुत प्रेम-पूर्वक गले मिलकर यथा-स्थान बैठे। मुख्य सेनापतियों तथा युवराज इंद्रदत्त ने भी सम्राट् को प्रणाम कर-करके योग्य आसन ग्रहण किए।

सम्राट्—(चंद्रगुप्त से) मैं आपको अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ कि आपने इस गद्दी तथा कुटुंब दोनो की लाज इस कठिन अवसर पर रख ली।

चंद्रगुप्त—जो कुछ न्यूनाधिक हो सका है, वह सब परमभट्टारक के ही आशीर्वाद और अनुग्रह का फल है। मेरा इसमें बहुत स्वल्प पौरुष था।

सम्राट्—मैं इस समय आपसे बहुत ही प्रसन्न हूँ। जो चाहिए, वर माँग लीजिए।

चंद्रगुप्त—देव की इस दास पर ऐसी ही कृपा सदैव बनी रहे। मैं इस खड्ग की शपथ खाकर विनती करता हूँ (खड्ग चूमता है) कि सदैव इन चरणों का शुद्ध हृदय से सच्चा दास बना रहूँगा। वरदान के नाम से विनती यह है कि दुष्टों के समझाने-बुझाने से इस दास पर कभी संदेह की छाया चित्त में न पड़ने पाए।

सम्राट्—आप शपथ न खाइए, मैं यों ही प्रसन्न हूँ। माँगा हुआ वरदान भी देता हूँ। (इंद्रदत्त से) आपने तो मेरे संबंध का भार

उतार डाला। अब ले मेरे ही ऊपर आपके अनुग्रह का ऋण रह गया।

इंद्रदत्त—बड़ी कृपा हुई, परमेश्वर!

सम्राट्—(कृतांत और वीरसेन से) मैंने केवल निर्भयता-पूर्वक मत-प्रकाशन के कारण आप दोनो सुयोग्य मंत्रियों पर अनुचित क्रोध किया। आपके प्राचीन पदों पर तो इतर व्यक्ति स्थापित हो चुके हैं, फिर भी वचन देता हूँ कि सुअवसर पाते ही आप दोनो की फिर से पदोन्नति करूँगा। इस गाढ़े अवसर पर आपने साम्राज्य की अकथनीय सेवा की है।

कृतांत तथा वीरसेन—(उठ-उठकर विनम्र-भाव से प्रणाम करके) देव से यही आशा थी। सेवक तो सदैव अपराधी रहते हैं; कृपा करनी परमभट्टारक का काम है। वह भी हो ही गई।

सम्राट्—(कालिदास से) कविवर! आपने अपना प्रिय साहित्यिक विषय स्थगित करके जो साम्राज्य की महान् सेवा की है, उससे आप पूर्णतया उऋण हो चुके हैं, वरन् आप ही का ऋण इस गद्दी पर रहा।

कालिदास—ऐसी ही कृपा सदा बनी रहे, देव!

अनंतर दरबार का कार्य समाप्त हुआ, और लोग अपने-अपने स्थानों को पधारे। अपने चारो मित्रों से समय पर एक बार फिर परामर्श करके चंद्रगुप्त ने उन सबके तथा अपने मतानुसार विक्षिप्त बनना ही योग्य समझा। उन्होंने यह भी कहा कि प्राचीन संदेह के चिह्न सम्राट् के तेवरों तथा ढंगों से फिर दिखने लगे थे। अब दूसरे ही सप्ताह में चंद्रगुप्त अकेले हाट में जाकर पाकशाला के लिये आप ही तरकारी ख़रीदने लगे। लोगों को महदाश्चर्य हुआ। विक्रेता ने हाथ जोड़कर बड़ी विनती की, किंतु आप दाम दे अपने ही हाथ में तरकारी का झोला लेकर चल दिए। इसी समय आप के दो-चार

प्रासाद रक्षक खोजते हुए वहीं पहुँचे, तथा झोला हाथसे लेने लगे। इतने ही पर बहुत क्रुद्ध होकर आप उन्हें मारने दौड़े। बोले सावधान मित्रो! यदि मेरी वस्तुएँ हाथ से छुईं, तो बिगड़ जायगी, यह अयोध्या है, कोई वन नहीं। यहाँ दिन-दहाड़े डाका नहीं डाला जा सकता। (एक दंडपाशिक को देखकर) अरे ओ दंडपाशिक! दौड़ो, देखो, मुझ पर डाका पड़ रहा है।

दंडपाशिक—(हाथ जोड़कर) क्षमा हो, महाराज! आपसे यहाँ कहीं भी कोई आँख मिला सकता है?

चंद्रगुप्त—(उच्च स्वर से) मैं भली भाँति जानता हूँ कि तुम सब लोग मिले हुए हो; नगर में दिन-दहाड़े डाका पड़ता है, और तुम मौन हो। मैं महादंडपाशाधिकरण से प्रार्थना करूँगा कि मेरी बात दंडपाशिक लोग नहीं सुनते।

दंडपाशिक—(हाथ जोड़कर) पूज्य स्वामी! इतना कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है? मुझी को आज्ञा न दे दी जाय।

चंद्रगुप्त—इन चारो मनुष्यों को अभी पकड़ो, मेरा माल छीनने के प्रयत्न में थे।

(दंडपाशिक छिपकर भागता है।)

पहला रक्षक—स्वामी! ये क्या बातें हो रही हैं? मैं तो आश्चर्य में हूँ।

चंद्रगुप्त—क्या मैं रसोई के लिये तरकारी न लूँ? मेरा झोला छीनने का तुमने क्यों प्रयत्न किया?

दूसरा रक्षक—क्या हम लोग स्वामी के सेवक नहीं हैं? हमारे होते हुए क्या आप स्वयं झोले को लादेंगे? बात क्या है महाराज!

चंद्रगुप्त—(स्मरण करने का प्रयास करते हुए) क्या तुम लोग मेरे सेवक हो?

तीसरा रक्षक—और नहीं तो किसके है ? आज दस वर्षों से प्रासाद की रक्षा में नियुक्त आप ही ने क्या नहीं कर रक्खा है ?

चंद्रगुप्त—अच्छा, तुम चारो मेरे ही सेवक हो, तो प्रासाद का रास्ता पकड़ो। मैं स्वयं झोला लेता आऊँगा। तुम मार्ग में तरकारी किसी को दे दो, तो ?

चौथा रक्षक—सदा से पाकशाले का सारा सामान क्या आप ही जुटाते रहे हैं ? वहाँ के सेवक-वृंद क्या सोते हैं ?

चंद्रगुप्त—(अट्टहास करके) बिना अपने प्रबंध के कहीं भोजन अच्छा बनता है ? (तलवार निकालकर) भागो तुम लोग यहाँ से, नहीं तो अभी मार दूँगा। तुम छिपे हुए शक हो, शक। दुष्टो ! मुझे धोखा देकर तरकारी प्राप्त करना चाहते हो।

(चारो रक्षक युक्ति से तलवार माँग लेते हैं, और बहुत प्रकार से कह-सुनकर स्वामी को प्रासाद में पहुँचाते हैं।)

दूसरे दिन हलवाई के यहाँ ऐसी ही बातें हुईं। सारे नगर में त्राहि मच गई। बेचारे नागरिक आपस में मिल-मिलकर शोक प्रकट करते थे कि जिस शूर-शिरोमणि ने कल साम्राज्य बचाया, आज उसकी यह दशा हो रही है। बड़े-बड़े वैद्य किसी प्रकार समझा-बुझाकर नाड़िका देखते, तो उसे साधारण पाते थे। उनका यही विचार होता था कि विजय की प्रकांड प्रसन्नता में मस्तिष्क चक्कर खा गया है। महारानी कुबेरनागा पति की यह दशा देखकर अत्यंत विकल हुईं। सारे रनिवास में रोना-पीटना पड़ गया। स्वयं कालिदास ने जाकर बहुत भाँति समझाया, किंतु महारानी का चित्त शांत न हो सका। उनकी राजकुमारी भी रोने-पीटने लगती थी, किंतु बालिका होने से शांत भी हो जाती थी ; तो भी महारानी को किसी प्रकार शांति न मिलती थी। दस-पाँच दिनों में ऐसा समझ पड़ने लगा कि

उनकी शरीर-यात्रा में भी संदेह होने लगा था। ऐसी दशा देखकर एक रात्रि को चंद्रगुप्त ने उन्हें एकांत में समझाया।

चंद्रगुप्त—प्राणप्रिये! तुम रो-रोकर अपना जीवन क्यों नष्ट किए देती हो? मैं वास्तव में लेशमात्र अस्वस्थ नहीं हूँ, धैर्य धारण किए रहो।

कुबेर नागा—यदि ऐसी ही ज्ञान की बातें सदा कीजिए, तो मुझे कष्ट काहे को हो? जब आप बेडौल की बातें बकने तथा उलटे-पुलटे कार्य करने लगते हैं, तब मेरा धैर्य नहीं रह जाता।

चंद्रगुप्त—मान लिया, यदि कभी मेरा अनिष्ट हो जाय, तो तुम क्या प्राण ही दे दो?

कुबेर नागा—ऐसे ही समयों के लिये तो सती का विधान है। मुख से ऐसे अनुचित कथन निकाले ही क्यों जाते हैं?

चन्द्रगुप्त—प्राणप्रिये! तुम धैर्य धारण करो। अपना मन किसी प्रकार से मलीन न होने दो; मैं पागल या विक्षिप्त कुछ नहीं हूँ, केवल कई कारणों से इसका ढोंग बना रहा हूँ; समझीं? केवल दिखलाने-भर को सखियों आदि से थोड़ा-बहुत शोक प्रदर्शन कर दिया करो, किंतु वास्तव में प्रसन्न रहो।

कुबेर नागा—(हँसकर) क्या सचमुच यही बात है? तुम बड़े निठुर हो; हाय, मुझे तो मार डाला! पहले क्यों न बतलाया?

चन्द्रगुप्त—मैं क्या जानता था कि तुम प्राण ही देने लगोगी?

कुबेर नागा—और नहीं तो क्या, जानते थे, कि ढोल पीटने लगूँगी?

चंद्रगुप्त—अच्छा, क्षमा करो, देवि! किंतु यह भेद किसी पर खुले नहीं। इसी पर मेरे जीवन-मरण का प्रश्न लगा हुआ है।

कुबेर नागा—कुछ कहो भी कि मामला क्या है?

चन्द्रगुप्त—यह न पूछो, केवल भेद गुप्त रखना।

कुबेर नागा—कहीं ऐसा न हो कि इस समय आप होश में हों, और पीछे फिर विक्षिप्त हो जायँ।

चंद्रगुप्त—ऐसा न सोचो ; मैं पागल कभी न था, केवल बनने की आवश्यकता पड़ गई है।

कुबेर नागा—ईश्वर कुशल करे।

अनंतर दोनो ने शयन किया। दूसरे दिन युवराज इंद्रदत्त तथा कविवर कालिदास आपके दर्शनो को पधारे। तीनो मित्र आसनों पर विराजकर बातें करने लगे। दो-चार और लोग भी वहाँ प्रस्तुत थे।

इंद्रदत्त—कहिए महाराज, चित्त प्रसन्न है न ?

चंद्रगुप्त—आपने भाँड़-भड़ुओं के तमाशों का पूरा प्रबंध कर ही दिया है, जो इस प्रकार का प्रश्न करते हैं।

कालिदास—क्या आजकल गान-वाद्य में इतनी रुचि बढ़ी हुई है ?

चंद्रगुप्त—और नहीं तो क्या, आपकी भाँति भोजपत्र पर लेखनी घिसा करूँगा ? मुझे ऐसी मूर्खताओं के लिये समय कहाँ है ?

कालिदास—कार्य-भार से भी तो इन दिनों आप दबे हुए हैं।

चंद्रगुप्त—कैसा कार्य-भार ?

इंद्रदत्त—तरकारी, मिठाई आदि ख़रीदने से ही समय कहाँ रह जाता होगा ? फिर शकों से आत्मरक्षा भी करनी पड़ती है।

चंद्रगुप्त—क्या आपके काम बिना इन बातों के ही चल जाते हैं ?

इंद्रदत्त—कैसे चलेंगे ? अभी-अभी हम दोनो भी मिठाई, तरकारी, माखन, दूध, दधि आदि मोल ले-लेकर रसोईघरों में रक्खे चले आ रहे हैं; तब न काम चलता है ?

चंद्रगुप्त—(अट्टहास करके) आप, दोनो भाई ! हैं बुद्धिमान्।

(एक सेवक से) अभी चारों रक्षकों को बुलाओ, (इसका जाना और रक्षकों का प्रवेश। वे प्रणाम करके खड़े होते हैं।) देखो दुष्टो! तुम लोग मुझे सौदा नहीं लेने देते। ये दोनो मित्र भी अभी अपने हाथों ख़रीदे चले आ रहे हैं।

कालिदास—(इन्हें इंगित से बोध देते हैं।) अब तुम लोग जा सकते हो। देखो, इन्हें रोका कम करो। अपना काम अपने ही हाथों अच्छा होता है। (रक्षकों का प्रस्थान।)

इंद्रदत्त—आजकल दल-निरीक्षणार्थ जाना कम होता है क्या?

चंद्रगुप्त—क्या कहा, दल-निरीक्षण! क्या मुझे कोई हर्म्यरक्षक बनाया है। चमूप भी नहीं। क्या आप जाया करते हैं?

कालिदास—नहीं, हम भला कैसे जा सकते हैं? रसोई के ही कामों से समय नहीं बचता।

चंद्रगुप्त—(हँसकर) हैं आप प्रवीण।

इस प्रकार बात करके दोनो महोदय बाहर को पधारे। एक दिन उधर एकांत में महाबलाधिकृत महाशय सम्राट् की सेवा में उपस्थित होकर परामर्श करने लगे।

सम्राट्—कहिए आर्य! क्या हाल है?

महाबलाधिकृत—देव की कृपा से सब ठीक-ही-ठीक चल रहा है। परमभट्टारक ने इस बार राजकुमारजी पर बड़ी कृपा दिखलाई।

सम्राट्—काम भी क्या वैसा ही नहीं हुआ था?

महाबलाधिकृत—इसमें तो संदेह नहीं, किंतु आत्मरक्षा पर भी ध्यान सम्राटों को सदैव रखना चाहिए। साम्राज्य बचा अवश्य, किंतु स्वाद तब है, जब वह अपने भोगने में आवे।

सम्राट्—इसमें भी क्या कोई संदेह है?

महाबलाधिकृत—संशय और होता कैसा है? सारे नगर, वरन्

साम्राज्य में शत्रु के यहाँ महादेवी भेज देने की तत्परता के कारण देव की भारी अपकीर्ति जान-बूझकर फैलाई जा रही है। यह किसी पर न प्रकट किया गया कि विवशता की दशा में केवल प्रजारक्षण के विचार से उच्च भाव-गर्भित आत्मत्याग दिखलाते हुए परमभट्टारक ने उन्हें जाने का अधिकार-मात्र दिया था, और उसी के साथ युद्धाज्ञा भी दे रक्खी थी।

सम्राट्—क्या उस तत्परता-मात्र के प्रकट करने के उपाय किए गए, तथा शेष बातें छिपा डाली गईं?

महाबलाधिकृत—यही तो हुआ, देव! नगर में निंदकों के जमाव की ऐसी भरमार मची रहती है कि कान नहीं दिया जाता। उधर राजकुमार की ऐसी प्रशंसा होती है, मानो स्वयं राम और कृष्ण उनके रूप में एक बार फिर संसार में अवतीर्ण हुए हों। क्या दूत-विभाग द्वारा देव पर ये बातें प्रकट नहीं हुई हैं?

सम्राट्—प्रकट क्यों नहीं हुईं? केवल इतने बल के साथ वे नहीं कथित हुईं। सामने सब महादूत जाते ही हैं।

महाबलाधिकृत—मेरा तो ऐसा अनुमान है, देव! कि ये बातें बार-बार घूम घुमाकर लाई जाती हैं, सो भी जान-बूझकर, जिसमें देव की निंदा तथा राजकुमार की महत्ता के विचार नागरिक चित्तों के सदैव सामने रहें।

सम्राट्—यह कौन करता है?

महाबलाधिकृत—जिसकी प्रशंसा कराई जाती है, उसे छोड़कर क्या मैं करूँगा? सब यही सोचने हैं कि उन्हीं का सम्राट् होना ठीक है। एक यह भी चोंचला नागरिकों में छोड़ा गया है कि स्वयं बड़े सम्राट् उन्हीं को उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे, और यदि एकाएक स्वर्गवासी न हो गए होते, तो ऐसा कर भी जाते।

सम्राट्—इस बात की भनक तो एक बार मेरे कानों में भी

पड़ी थी कि पूज्य पितृचरणों के सामने कुछ मंत्रियों ने यह प्रश्न उठाया था, किंतु उन्होंने स्वीकार न किया।

महाबलाधिकृत—ऐसा ही हुआ होगा, देव!

सम्राट्—किंतु बेचारा राजकुमार तो विक्षिप्त हो रहा है।

महाबलाधिकृत—पहले मैं भी इसी धोखे में आकर प्रसन्न हुआ था कि चलो, इसी प्रकार बला टली; किंतु पीछे से यह बात केवल धोखे की टट्टी समझ पड़ गई।

सम्राट्—सो कैसे?

महाबलाधिकृत—एक तो विजय-यात्रा के पीछे दूसरे ही सप्ताह से उन्होंने विक्षिप्तता के लक्षण दिखलाने आरंभ किए, जिससे कुछ तो संदेह मुझे पहले ही हुआ था। पीछे विदित हुआ कि छोटी महारानी महोदया पहले तो बहुत विकल थीं, यहाँ तक कि उनके लिये जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया था, किंतु पीछे से एकाएक चंगी हो गईं, तथा दिखलाने-भर के लिये थोड़ा-सा खेद तो प्रकट करती हैं, किंतु हँसती, बोलती, खाती, पीती बिलकुल साधारण रीति से हैं।

सम्राट्—इसका क्या तात्पर्य है?

महाबलाधिकृत—समझ ऐसा पड़ता है कि जब राजकुमारजी ने उन्हें बहुत ही विकल देखा, तब असली बात बतलाकर संतुष्ट कर दिया होगा; इसी से विषम शोक छोड़कर प्रसन्न रहने लगी हैं।

सम्राट्—बात तो तुक की बैठती है। यदि बनौवल न होती, तो इतना भेद कहाँ से प्रकट होता? अच्छा, अब करणीय क्या है? उन्हों ने तो खड्ग की शपथ खाकर राजभक्ति की दृढ़ता कही थी।

महाबलाधिकृत—यह भी ढोंग-धतूरे की बात थी, देव! भला-सगे भाइयों में कहीं शपथ खाने की आवश्यकता समझी जाती है?

यदि राजभक्ति में ही पक्के होते, तो पागल बनने का नाटक क्यों रचते ?

सम्राट्—बात समझ ऐसी ही पड़ती है। अच्छा, करना क्या चाहिए ?

महाबलाधिकृत—उन्हें अपने खड्ग का बड़ा घमंड है। मैं एक दिन तलवार से ही मज़ा चखाऊँगा। समझ लीजिए, देव ! मेरे सामने आप नहीं कि स्वर्गलोक में बैठे हैं।

इस प्रकार बातें करके महाबलाधिकृत ने परम भट्टारक का चित्त राजकुमार की ओर से फिर पूर्णतया शंकित कर दिया। एक दिन दो ही चार शरीर रक्षकों के साथ सम्राट् और महाबलाधिकृत राजप्रासाद के निकट उपवन में सैर कर रहे थे कि दैवयोग से दो-चार सेवकों के साथ राजकुमार चंद्रगुप्त भी वहीं होकर निकले। सम्राट् को देखकर इन्होंने पागलपन से प्रणाम तक न किया। इस पर क्रुद्ध होकर वह बोले।

सम्राट्—क्यों भाईजी ! क्या मुझे अब पहँचानते भी नहीं ?

चंद्रगुप्त—पूर्व-परिचित-से तो आप दिखते हैं; स्मरण कुछ होता है।

महाबलाधिकृत—आपके विद्रोह का पोल देव पर सब खुल चुका है। अब कृपया चैतन्य हो जाइए।

चंद्रगुप्त—समझ नहीं पड़ता कि आप क्या कहते हैं ?

सम्राट्—अब कृपया अपना नाटक समाप्त कीजिए। राजभक्ति के लिये खड्ग चूमकर शपथ ली, और दूसरे ही सप्ताह से पागल बनकर मेरे वधार्थ युक्तियाँ सोच रहे हो। धिक्कार है तुम्हारे आडंबर को ! क्या यही भ्रातृभक्ति या राजभक्ति है ?

चंद्रगुप्त—चाहे मैं पागल हूँ या नहीं, किंतु देव के प्रतिकूल मैंने एक बात भी नहीं की है; जो कुछ किया है, वह अनुकूल ही है।

महाबलाधिकृत—सारे नगर में परमभट्टारक की अपकीर्ति तथा अपनी प्रशंसा के जो गीत आठो पहर गवाए जाते हैं, शायद वे भी अनुकूल क्रियाएँ होंगी ?

चन्द्रगुप्त—उसके लिये मेरा क्या उत्तरदायित्व है ? जन-समूह का मुख कौन रोक सकता है ?

सम्राट्—उसे रोकने की आवश्यकता ही क्या है ? प्रत्येक राज-भक्त भ्राता को उसे और भी चतुर्गुणित करना चाहिए ।

चंद्रगुप्त—क्या इसी प्रकार के मिथ्या संदेह करने का मुझे वरदान दिया गया था ? क्रोध शांत हो, देव ! मैं वैसा ही प्रेमी अनुज हूँ, जैसा कभी था । (पैरों पर मुकुट रखता है ।)

सम्राट्—(मुकुट को ठोकर से हटाकर) नीच, धोखेबाज़ ! अब सँभल जा । तुझे अपने खड्ग का बड़ा गर्व है, मैं आज इसी से तेरा मान-मर्दन करूँगा । (खड्ग दिखलाता है ।)

चन्द्रगुप्त—ऐसी आज्ञा न हो, देव ! हम दोनो के माता-पिता एक ही थे । समझिए, तो अब भी हम दोनो एक हैं ।

सम्राट्—अब मैं इन धोखों में फँसनेवाला नहीं । यदि कुछ भी शक्ति हो, तो खड्ग उठाओ, नहीं तो अभी बिना लड़े ही तुम्हारा शिरश्छेदन किया जायगा । समझे, अब माया छोड़ो, क्षत्रियत्व पकड़ो ।

चन्द्रगुप्त—क्या इस जघन्य भ्रातृद्रोह से किसी प्रकार निस्तार नहीं ?

सम्राट्—नहीं ।

चंद्रगुप्त—(महाबलाधिकृत से) तो आप भी आइए । मैं अकेले भ्राता पर प्रहार न करूँगा ; दोनो मिलकर लड़िए ।

महाबलाधिकृत—इतना गर्व ! (खड्ग खींचकर) अच्छा, निकल आइए । सम्राट् के शरीर-रक्षकों ने उनकी अनुचित बातों के कारण

उनके प्रति कोई सौहार्द प्रकट नहीं किया। केवल तीनो में कुछ देर खड्ग-युद्ध होता है, और चंद्रगुप्त पैंतड़े बदलकर थोड़ी ही देर में दोनो का वध करता है। यह संवाद सारे नगर में तद्विद्वेग से फैल जाता है। सम्राट् के ऊर्ध्वदैहिक मरणोत्तर संस्कार यथोचितरीत्या धूमधाम के साथ किए जाते हैं। नगर-निवासी ऐसे कुरुचि-पूर्ण, अन्यायी, हठी और अयोग्य शासक से छुटकारा पाकर मन-ही-मन प्रसन्न होते हैं, यद्यपि ऐसी प्रसन्नता का प्रकटीकरण राजाज्ञा से वर्जित है। अमात्य-परिषत् तथा सारी प्रजा की प्रार्थना से राजकुमार चंद्रगुप्त सजधज से राजसिंहासन पर विराजते हैं। सम्राट् तथा मंत्रि-मंडल की सम्मति से युवराज इंद्रदत्त महादंडनायक तथा महामंत्री के समक्ष व्यवहारासन के निकट अपनी भगिनी महादेवी ध्रुव-स्वामिनी का विवरण विचारार्थ उपस्थित करते हैं।

इंद्रदत्त—महामंत्री महोदयो! यद्यपि सम्राट् का पद भवदीय अधिकार के बाहर है, तथापि अपने कुल तथा साम्राज्य की मर्यादा प्रमाणित रखने के विचार से मैं महादेवी महोदया का विवरण आपके सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करता हूँ। जब मैंने शक्तिपुर से आकर नियमानुसार अपनी भगिनी को बड़े सम्राट् की भेंट किया, तब यह भी इच्छा प्रकट कर दी थी कि उनका पाणिग्रहण देवराज चन्द्र महोदय के साथ हो। फिर भी इस विषय में नियमानुसार निर्णय का अधिकार उन्हीं को था ही, और दुर्भाग्य-वश उन्होंने विवाह की आज्ञा तत्कालीन युवराज के साथ दे दी। शक्तिपुर के राजकुटुंब तथा स्वयं मेरी भगिनी को यह संबंध रुचिकर न था, और यह सब पर विदित है कि वह अद्य-पर्यंत अविवाहिता कन्या के समान हैं। मेरा कथन आज यह है कि उनका विवाह वास्तव में युवराज महोदय के साथ न हुआ, और हम लोगों ने एक बालक को कन्या बनाकर विवाह संपादित कराया। उसका डील-डौल मेरी बहन से बहुत कुछ

मिलता था। अंत में इसी ने शक महाक्षत्रप के यहाँ महादेवी बनकर उसका वध भी कराया। मैं साक्षियों-सहित विवाह-संबंधी पूर्ण प्रमाण आप सज्जनों के सम्मुख अभी उपस्थित करूँगा। पहला साक्षी तो स्वयं मैं हूँ। और भी बहुत-से हैं। इस कथन से सारे नगर में भारी सनसनी फैली, तथा सब लोग बहुत ही प्रसन्न हुए।

युवराज के इस प्रकार कहने के पीछे साक्षियों के शपथ-पूर्वक कथन लिखे गए, और पूर्ण-विचारानंतर ध्रुवदेवी अविवाहिता कन्या प्रमाणित हुईं। अनंतर पूर्ण धूमधाम से उनका विवाह सम्राट् के साथ हुआ। फिर आपने दोनो महारानियों को बुलाकर यह प्रश्न उपस्थित किया कि इनमें महादेवी-पद किसे मिले? प्रत्येक ने दूसरी के लिये प्रार्थना की। अंत में महारानी कुबेरनागा ने हठ-पूर्वक कहा कि इतने दिनों तक मैं इन्हें महादेवी तथा जेठानी मानती आई हूँ, अथच तदनुसार मान भी करती रही हूँ। अब यदि इनके साथ अन्याय करके मुझे महादेवी बनाने का हठ किया जायगा, तो मैं यह पद ग्रहण करने के पूर्व पित्रालय चली जाऊँगी। इस प्रकार महारानी कुबेरनागा के हठ से ध्रुवदेवी फिर से महादेवी-पद पर प्रतिष्ठित की गईं, और सारे साम्राज्य में मंगल-गान होने लगा।

(ञ) गार्हस्थ जीवन

ध्रुवस्वामिनी को महादेवी-पद देने के पीछे एक दिन सम्राट् महोदय ने सम्राज्ञी कुबेरनागा से एकांत में बातें कीं।

चंद्रगुप्त—देवीजी! आपकी महत्ता की मैं सहस्र बार प्रशंसा करूँगा कि यद्यपि ज्येष्ठ सम्राज्ञी होने से महादेवी-पद था वास्तव में आप ही का, तथापि आपने न केवल प्रसन्नता-पूर्वक, वरन् सहठ उसे ध्रुवस्वामिनी को दे दिया। औदार्य इसी का नाम है।

कुबेरनागा—मैं इसमें अपनी कोई उदारता नहीं समझती। कई वर्षों से वह महादेवी कहला रही थीं, और मैं उन्हें जेठानी

समझती ही थी। ऐसी दशा में यह पद ले लेना एक प्रकार से स्वार्थपरता हो जाती। स्त्री के लिये मुख्यता तो पति की प्रीति में है। जब पहले केवल महारानी थी, तब से अब सम्राज्ञी होकर मैं अपने को विशेष सुखी नहीं पाती। जैसे तब रहती थी, वैसे ही अब भी रहती हूँ। सेविकाएँ आदि अवश्य बढ़ गई हैं, और सामग्री में भव्यता आ गई है, तथापि जैसी प्रसन्नता तब थी, वैसी ही अब भी है। मुख्यता तो आपके प्रेम की है, जो सदैव से अद्य-पर्यंत एक रस रहा आया है।

चंद्रगुप्त—तुम्हारे इस औदार्य से मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ, और प्रण करता हूँ कि हम दोनो की प्रीति में कभी तिल-मात्र न्यूनता न आने पाएगी। फिर भी प्रार्थना करता हूँ कि जो चाहो, माँग लो।

कुबेरनागा—माँगने में समझ नहीं पड़ता कि क्या कहूँ? मेरी सारी सुविधाएँ पूर्णतया संपादित रहती हैं। कभी कमी नहीं दिखती। माँगूँ, तो क्या माँगूँ? परिपूर्णं संपूर्णमस्तु की बात है। जब से मैंने महादेवी-पद का लालच नहीं किया, तब से ध्रुव-स्वामिनीजी भी इतनी प्रसन्न रहती हैं कि सौतपन का रूप ही नहीं दिखता, भगिनीपन का-सा निष्कपट प्रेम चल रहा है।

चंद्रगुप्त—प्राणप्रिये! तुम्हारे वचनामृत का पान करके मैं बहुत ही निहाल हो रहा हूँ; फिर भी कुछ तो माँग ही लो।

कुबेरनागा—जो आज्ञा; तब यही माँगती हूँ कि ऐसा ही शुद्ध प्रेम सदैव बना रहे।

चंद्रगुप्त—बहुत ठीक है। यह वरदान आप ही के योग्य है, और, मैं न केवल प्रसन्नता-पूर्वक देता हूँ, अपितु अपने लिये भी तुमसे यही माँगता हूँ।

कुबेरनागा—तब फिर बहुत ही अच्छा है; दोनो दोनो को वरदान दे रहे हैं। मैं भी प्रसन्नता-पूर्वक एवमस्तु कहती हूँ।

सम्राज्ञी कुबेरनागा से इस प्रकार प्रेम-संभाषण करके एक दिन सम्राट् ने महादेवी ध्रुवस्वामिनी से भी इसी प्रकार बात की।

चंद्रगुप्त—प्राणप्यारी ! तुम्हारी तपस्या की मैं शत मुख से सराहना करता हूँ। फिर भी जानना चाहता हूँ कि इतना प्रगाढ दांपत्य प्रेम मुझ पर एकाएकी कैसे हो गया ? हम लोग उज्जयिनी में तो सहपाठी होकर एक दूसरे से भाई-बहन का-सा प्रेम करते थे। उस काल तुम्हारी अवस्था भी कुछ न थी।

ध्रुवस्वामिनी—यह तो बात ही है। तब मैं केवल बारह वर्ष की थी, और दांपत्य प्रेम का अर्थ भी नहीं जानती थी। मैं तो तब तक आपसे सहज शुद्ध प्रीति रखती थी। आप जैसे मेरे भ्राता के मित्र थे, वैसे ही मेरे भी।

चंद्रगुप्त—फिर भी भाव-परिवर्तन कब और कैसे हुए ?

ध्रुवस्वामिनी—जब तक पुरहूतध्वज का मेला हुआ था, तब तक मैं भी नितांत बालिका थी, यहाँ तक कि अपने सौंदर्य की महत्ता से भी अनभिज्ञ थी। जब कुछ दुष्टों ने मुझे भगा ले जाने का प्रयत्न किया, उसके पीछे से समझ पड़ने लगा कि मेरे रूप में भी कुछ गौरव है। अनंतर जब भाई ने मेरा आशय आपसे विवाह के संबंध में लिया, और उनकी तथा पूज्य पिता की सम्मति से मैंने इसे उचित माना, तब से आपसे भाव-परिवर्तन हो गया। जब अयोध्या में रामगुप्त के साथ विवाह की आज्ञा हुई, तब मैं एकाएकी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गई।

चंद्रगुप्त—इसका क्या कारण था ?

ध्रुवस्वामिनी—अब तो तुम बहुत ही भोले बने जाते हो। भला, उस हठी, क्रोधी, मूर्ख और अयोग्य पुरुष को क्या कोई भी स्त्री पसंद कर सकती थी ? राज्य-लोभ से चाहे कोई कुछ भी कहता, किंतु स्वयं वह क्षण-भर को भी प्रेम-पात्र नहीं हो सकते थे। मुझे

साम्राज्य का लोभ न था, और यदि होता भी, तो निश्चय था कि उस कादर से वह महापद चलाया नहीं चल सकता था। समझ ऐसा पड़ता था कि यदि वह तुमसे शुद्ध प्रेम रख सकता तो चिरकाल तक सम्राट् बना रहता, किंतु मेरे अयोध्या पहुँचने के पूर्व ही ऐसा प्रकट हो चुका था कि न तो वह किसी से सच्चा प्रेम कर सकता था, न अनुचित संदेह से निवृत्ति पाने की उसमें शक्ति थी। ऐसे नीच के साथ महादेवी होकर भी मुझे क्या प्रसन्नता मिलती? उधर आपके सद्गुण सूर्यवत् चमक रहे थे।

चंद्रगुप्त—यदि उनका साम्राज्य या शरीर ही चिरकाल चल जाता, तो?

ध्रुवस्वामिनी—तब भी कोई बात न थी। बहुतेरे ऋषि लोग विवाह करते ही नहीं। क्या उनका जीवन सुखी नहीं बीतता? मैं भी तपस्या में चित्त लगाती।

चंद्रगुप्त—तपस्या तो तुम दो-ढाई वर्ष करती ही रहीं। प्रकट रूप से मेरे प्रेमाभिलाषी न होने पर भी जो केवल अप्रकट, किंतु महाप्रेम को जानकर तुमने उसका ऐसा उदार मान किया, इसके लिये मैं तुम्हारा सदैव ऋणी रहूँगा। अब कहता हूँ कि जब से भाई इंद्रदत्त का पत्र तुमसे विवाह के संबंध में मिला था, तब से तुम्हारे महाप्रेम, अप्रतिम रूप, असंख्य गुणगण आदि पर मैं ऐसा मोहित हुआ था कि तुमसे मिलने तक का साहस नहीं होता था। भाभी माता के समान होती है। उसके ऊपर पत्नी-भाव का प्रेम क्षमा के योग्य दूषण नहीं। फिर भी मैं इस भाव को किसी प्रकार भुला न सका। इसी कारण एक तो तुमसे कभी मिलता ही न था, और यदि किसी अनिवार्य कारण-वश मिला भी, तो भाई इंद्रदत्तजी को साथ लेकर ही दर्शन किए, अकेले नहीं। तुम्हें कुमारी जानकर मुझे जो प्रसन्नता हुई, वैसी कभी किसी विषय में न हुई थी।

ध्रुवस्वामिनी—यहाँ मेरा भी हाथ है। तुमको पाकर मैंने जीवन की अमूल्य निधि प्राप्त कर ली। बहन कुबेरनागा की उदारता भी इस सुख से श्लाघ्य है।

चंद्रगुप्त—क्यों नहीं? ध्रुव! हमने एक मानव-रत्न पाया है, जो औचित्य के सम्मुख कैसे भी स्वार्थ से विचलित नहीं होता। मानवी क्या, पूरी देवी है। तुम दोनों को पाकर मैं तो पूर्णरूपेण निहाल हो रहा हूँ।

ध्रुवस्वामिनी—यही दशा आपको पाकर हम दोनों की है। ईश्वर यह सुख चिरस्थायी करे।

अट्ठारहवाँ परिच्छेद

विधान

साम्राज्य-पद पर प्रतिष्ठित होने के साथ ही अपने प्रधान मंत्रियों की सम्मति के अनुसार परमभट्टारक ने महाकवि कालिदास को अमात्य-परिषद् के सदस्य तथा राजप्रतिनिधि के अधिकार दिए। यह शासन निकला कि साहित्य-प्रेम के कारण आप साम्राज्य का कार्य आधिक्य से तो कर सकते नहीं, तथापि जितना कुछ करना चाहें, वही धन्यवाद पूर्वक स्वीकार होगा। सम्राट् और प्रतिनिधि के साधारण कार्यों में उचित विभाजन कर दिया गया। मंत्रिपद आपको वंश-क्रमागत मिला। अनंतर सब मंत्रियों की सम्मति तथा महादेवी की भी इच्छा से महाराजाधिराज ने काशी के विश्वेश्वर, उज्जयिनी के महाकालेश्वर, कश्मीर के मार्तंड तथा दशपुर के स्कंद-नामक मंदिरों की सहायता से इन चारों स्थानों से एक-एक प्रधान विद्वान् आहूत किए, अथच इसी विद्वन्मंडली में अपने अग्रहारिक को मिलाकर पाँच परम प्रसिद्ध विद्वानों की एक अस्थायी समिति स्थापित करके व्यवस्थार्थ निम्नांकित प्रश्न उसके सामने रक्खे—

(१) देवराज सम्राट् चंद्रगुप्त को भ्रातृवध के कारण क्या कोई प्रायश्चित्त करना योग्य है? यदि हाँ, तो क्या?

(२) महादेवी ध्रुवस्वामिनीजी ने जो बड़े सम्राट् की आज्ञा प्रकट में मानते हुए भी युक्ति-पूर्वक उसे टाल दिया, तथा रोगिणी बनकर अपनी सतीत्व-रक्षा की, उसके कारण शुद्ध धार्मिक दृष्टि से क्या किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता है? यदि हाँ, तो क्या?

(२) रामगुप्तजी का जैसा आचरण साम्राज्य तथा कुटुंब-परिचालन में रहा, उसे देखते हुए भविष्य के लिये इन दोनों के संबंध में लेखादि में उनका कैसा पद समझा जाय?

उपर्युक्त पंडित-मंडली ने निष्पक्ष भाव से इन प्रश्नों पर विचार किया। उन्हें शपथ भी दिला दी गई कि व्यवस्था घोषित करने में सच्चे घटना-चक्र को देखते हुए केवल शास्त्रीय औचित्य पर पूर्णतया पक्षपात-रहित, निर्णय करें। उन पंडितों के सम्मान के विषय में पहले ही से लिखित आज्ञा-पत्र महामंत्री के पास गुप्तरीत्या बंद करके रख दिया गया, और यह घोषित हो गया कि सम्मान उसी आज्ञा-पत्र के अनुसार होगा, व्यवस्था चाहे जो हो। अनंतर इन पंडितों के सम्मुख सारी घटनाएँ बिना कुछ घटाए-बढ़ाए रख दी गईं, और पूर्णतया विचारानंतर इन्होंने ऐकमत्य से निम्नानुसार व्यवस्था तर्क-सहित घोषित कर दी—

व्यवस्था

(१) देवगुप्त महोदय ने भ्रातृविरोध अपनी ओर से अणु-मात्र नहीं किया। इनका विक्षिप्त बनना केवल आत्मरक्षणार्थ होने से असत्य-गर्भित होकर भी राजनीतिक विचारों से न केवल क्षम्य, वरन् अवश्य करणीय था। यदि ऐसा न करते, और कदाचित् इनका अमंगल हो जाता, तो निकट भविष्य में गुप्त-साम्राज्य को अवश्य ध्वस्त होना पड़ता। अतएव न केवल आत्मरक्षणार्थ, वरन् सारे साम्राज्य के हितार्थ इनके लिये अपना अमंगल बचाना योग्य और धर्म था। भ्रातृवध-संबंधी अंतिम समर भी इन्हें विवश होकर करना पड़ा। उसके पूर्व भी खड्ग की शपथ खाकर जब इन्होंने भ्रातृभक्ति तथा राजभक्ति का वचन देकर अग्रज महोदय को आश्वासित कर ही दिया था, तब बिना दृढ़ कारणों के कोई भी बुद्धिमान् पुरुष संदेह न करता। अतएव न महाराजाधिराज ने कोई पाप किया, न किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता है।

(२) जब शक्तिपुर की ओर से बड़े सम्राट् से देवगुप्त के साथ विवाह की प्रार्थना कर ही दी गई थी, तब उसके विच्छेद का उन्हें कोई धार्मिक अधिकार न था। उन्होंने केवल अपने कुटुंब की दशा देखकर जो निर्णय कर दिया, वह एक प्रकार से राजनीतिक उच्छृंखलता अथच स्वाभाविक प्रेम-भाव का अनुचित तिरस्कार था। शुद्ध धार्मिक दृष्टि से वह आज्ञा महादेवी पर बाध्य नहीं थी। साम्राज्य की महती शक्ति का निरादर उस कुटुंब के लिये बलहीनता के कारण अशक्य था। ऐसी दशा में जो थोड़ी-सी माया का प्रयोग हुआ, वह परिस्थिति के देखते हुए क्षम्य था। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि एक गोदान-मात्र से यह स्वल्प पातक दूर हो सकता है। महादेवी हाने से चाहें, तो गोशत का दान कर दें। इतना स्मरण रखना चाहिए कि युवराज इंद्रदत्तजी ने इस आरंभ में भारी जोखिम उठाई, तथा महादेवी महोदया ने इतने बड़े सम्राट् के युवराज का तिरस्कार करके अपने प्रेम की महत्ता दिखलाई, एवं योगिनी बनकर चिरकाल-पर्यंत तपस्या-सी की, जिसका अंत उस काल पूर्णतया अज्ञेय था। इनके प्रेम की मात्रा सीता, दमयंती आदि-वाले प्रेम से कम न थी।

(३) राजपुत्र रामगुप्त में साम्राज्य-परिचालन की योग्यता का नितांत अभाव था। वह एक साधारणी शक्ति का सामना न कर सके, तथा सारा साम्राज्य डूबा जाता था। लड़कर चाहे मर जाते, किंतु महादेवी को भेजने की उन्होंने जो सन्नद्धता दिखलाई, वह गुप्त-साम्राज्य के लिये अक्षम्य कलंक थी। कुटुंब के साथ भी उनका व्यवहार बहुत सदोष रहा। सदैव विनम्र, आज्ञाकारी और गुणी अनुज पर अनुचित संदेह करते रहे, और उसी में प्राण भी खोए। अमात्य-परिषत् का निरादर किया, प्रजा का अपमान किया, तथा प्रायः किसी से भी वह श्रेष्ठ व्यवहार न कर सके। अतएव

अत्यंत शोक के साथ हम लोगों को यह व्यवस्था देनी पड़ती है कि न तो उनका नाम गुप्त सम्राटों की तालिकाओं में लिखा जाय न गुप्त-वंश-वृक्षों में। बड़े सम्राट् जब उन्हें पदच्युत करने का निश्चय कर ही चुके थे, तथा उनके केवल अचानक स्वर्गवास से वह आज्ञा प्रचारित न हो सकी थी, तब न्याय की दृष्टि से वह साम्राज्य के उत्तराधिकारी थे भी नहीं।

इस व्यवस्था को सारे मंत्रिमंडल, नगर और समस्त साम्राज्य ने बड़ी प्रसन्नता से मान लिया, तथा इसी के अनुसार कार्यवाही होने की आज्ञा घोषित हो गई। अनंतर इस अस्थायी पंडित-समाज के चारो बहिरंग सदस्य उचित मान और पुरस्कार के साथ बिदा होकर अपने-अपने स्थानों को पधारे। अब सम्राट् महोदय ने रिक्त महाबलाधिकृत के पद पर प्राचीन अमात्य कृतांतजी को सप्रेम पुनः नियुक्त किया, तथा जिन कविवर वीरसेनजी को कुल-क्रमागत मंत्रिपद प्राप्त था, वह फिर से अपने महासांधि-विग्रहिक के उच्च पद पर प्रतिष्ठित हुए, अथच रामगुप्त द्वारा नियोजित महासांधिविग्रहिक को मान-पूर्वक राजस्थानीय गोप्ता (उपरिक) का पद प्राप्त हुआ। युवराज इंद्रदत्त मंत्रिपरिषत् के अवैतनिक कार्य-मुक्त सदस्य मनोनीत हुए। यह भी आज्ञा हुई कि शक्तिपुर-राज्य से पश्चिम ओर मिले हुए जो प्राचीन अकुशान शाही के तीन प्रांत अव्यवस्थित रीति में पड़े थे, और जिन पर इतरों ने निष्कारण अधिकार कर लिया था, तथा जिनकी मिलित आय शक्तिपुर-राज्य से कुछ विशेष ही थी, उन पर गुप्त-दल की सहायता से महाराजा शक्तिसेनजी अधिकार कर लें। इस प्रकार अपने सभी सहायकों को प्रसन्न करके देवराज ने बालेंदुशेखर तथा चित्रांबाई का मामला हाथ में लिया। जब कालिदासजी शक-शिविर को पधारे थे, तब उन्हें ज्ञात हो गया था कि ये दोनो महाक्षत्रप के गुप्त-

चर थे, और अयोध्या में ध्रुवदेवीजी को इनरों से बचाए रहते तथा उन्हें महाक्षत्रप सिंहसेन को चाहने के लिये समझाने को ही आए थे। युद्धानंतर कविवर की आज्ञा से ये दोनो बंदी बनाए गए थे, किंतु रामगुप्त के इच्छानुसार शिप्राबाई कारागार से छूटकर केवल अयोध्या के बाहर न जा सकने-भर के बंधन में रक्खी गई थी। अब महादंडनायक के समक्ष इनके मामले आए, तो प्रकट हुआ कि भेदिएपन के कारण ये घोर दंड के भागी थे। उन्होंने अपना यह भेदिया-पन स्वीकार भी कर लिया, किंतु महादेवी की शुद्ध सेवाओं के कारण क्षमा की प्रार्थना की। उनका यह भी कहना था कि महादेवी से महाक्षत्रप की प्रशंसा में उन्होंने कभी कुछ भी न कहा था। दूसरी ओर से यह कहा गया कि ऐसा महादेवी की दृढ़ मानसिक शक्ति के ही कारण हुआ। सब प्रकार से विचार के पीछे यह निश्चय हुआ कि ये दोनो दंडित न हों, प्रत्युत उज्जयिनी भेज दिए जाएँ। ऐसी ही राजाज्ञा निकल गई।

अनंतर महाकवि ने मल्लिकाबाई को वचन दिया कि उनकी जो इच्छा हो, उसी के अनुसार कार्यवाही चलने को थी।

मल्लिकाबाई—भाईजी! आपने पूर्ण भेद तो मुझसे बतलाया नहीं, केवल आधी बात जानकर मैंने आपकी बात मानी थी।

कालिदास—स्वामिभक्ति तथा महाक्षत्रप के पाशविक व्यवहारों के कारण इतना अपराध मुझसे हो अवश्य गया। राजनीतिक कार्य होता ही ऐसा है। तो भी यथासाध्य आपका हित करने को मैं अब भी प्रस्तुत हूँ। महाक्षत्रपीय प्रासाद में आप प्रसन्न तो थीं नहीं।

मल्लिकाबाई—पहले तो महत्त्वाकांक्षा से मैंने पति-सदन छोड़ दिया, किंतु पीछे अनुभव हुआ कि उपपति का पूर्ण प्रेम भी पति के शुद्ध स्वाभाविक प्रेम-पूर्ण व्यवहार का आधा भी सुखप्रद नहीं। देखने

को तो महत्ता की मात्रा बहुतेरी थी, किंतु वास्तविक सुख की उसमें छाया-मात्र थी।

कालिदास—अच्छा, फिर अब क्या आज्ञा है?

मल्लिकाबाई—अब मैं क्या बतलाऊँ? पति-सदन छूटा, उपपति की कल्पित महत्ता भी गई। अब तो मेरे लिये तपस्या ही शेष दिखती है।

कालिदास—है तपश्चर्या भी पुण्यप्रद तथा गत पातक विनाशिनी, फिर भी आपको इतनी निराशा की आवश्यकता नहीं। कम-से-कम भ्रातृसदन प्रस्तुत ही है। आपकी भावज अभी से आपको बहुत चाहने लगी हैं।

मल्लिकाबाई—धन्यवाद! किंतु यह निराशा की सम्मति है।

कालिदास—है तो एक प्रकार से ऐसा ही। अच्छा, एक युक्ति और समझ में आती है; यदि इच्छा हो, तो बहनोईजी को बुलवाकर उनसे क्षमा प्राप्त कराने का प्रयत्न किया जाय।

मल्लिकाबाई—एक तो बात असंभव-सी दिखती है, दूसरे क्षमा मिलने से भी गत कुकर्मों के पाप सिर पर लदे ही रहेंगे।

कालिदास—घर पर रहकर भी पुण्य कार्यों से पाप धोए जा सकते हैं; रही पति की क्षमा, वह भी युक्ति-पूर्वक चलने से मिल सकेगी।

मल्लिकाबाई—किस प्रकार?

कालिदास—खुशामद, धन-व्यय आदि के द्वारा। सुना, अभी तक उन्होंने दूसरा विवाह किया भी नहीं है।

मल्लिकाबाई—बात इतनी अच्छी है कि सफलता की आशा नहीं जमती। यदि किसी भाँति यह प्रबंध कर सकिए, तो मेरा रोम-रोम आशीर्वाद दे।

कालिदास—अपने काम में सबको आशा कम होती है। किंतु मैं निराश नहीं हूँ।

मल्लिकाबाई—आपकी महती कार्य-पटुता पर मुझे भी कम भरोसा नहीं है।

इस प्रकार मल्लिकाबाई से परामर्श तथा देवगुप्त महोदय की अंतरंग आज्ञा प्राप्त करके महाकवि ने एक विश्वस्त चर भेजकर छिपे-छिपे सेठजी को उज्जयिनी से अयोध्या बुलाया, तथा यों परामर्श होने लगा—

कालिदास—कहिए, सेठजी महोदय! काम-काज तो अच्छा चल रहा है न?

सेठ श्रीचंदजी—आपके आशीर्वाद से सारे बनिज-व्यापार का ढर्रा ठीक-ठीक बँधा हुआ है। अयोध्या के साम्राज्य ने तो हार-हूरकर ऐसा फंदा चलाया कि हमारी सारी सेना तहस-नहस हो गई।

कालिदास—आपके महाक्षत्रप महोदय अनीति भी बहुत कर रहे थे।

सेठ श्रीचंदजी—इसी से तो जीत-जातकर गए-आए हुए।

कालिदास—शायद आप जानते हों कि आपकी धर्मपत्नी के पिता मेरे पिताजी के पड़ोसी तथा परम मित्र थे, और मैं इन्हें सगी बहन से कम नहीं मानता था।

सेठ श्रीचंदजी—यह तो उन्होंने भी मुझसे कहा था, किंतु अब उनका मुझसे संबंध ही क्या रह गया है?

कालिदास—ऐसा न कहिए, सेठजी! कहीं वैवाहिक संबंध एकाध मूर्खता से छूटता है? फिर आपने तो उन्हें आशीर्वाद भी दिया था। अंत में हैं तो आपकी धर्मपत्नी। स्वयं आपने उन्हें पवित्र पापिनी माना था। कुटुंब से च्युत होकर भी आपके प्रसन्न रखने को प्राण तक दे रही थीं।

सेठ श्रीचंदजी—उनकी यह बात मुझे आजन्म न भूलेगी।

कालिदास—केवल स्मरण रखने से क्या होता है? स्त्री अर्द्धांगिनी है; मूर्खता से यदि कोई अपराध हो जाय, तो वह भी क्षम्य हो

सकता है। जैसी दशा थी, वह आप स्वयं जानते हैं। महाक्षत्रप के जीवन-काल में भी धर्म छोड़ने के कारण तथा आपका स्मरण कर-करके पछता रही थीं।

सेठ श्रीचंद्रजी—इसका क्या प्रमाण है?

कालिदास—स्वयं मुझी से तो बातें हुई थीं। अब वह हाथ जोड़कर पैरों पड़ती हैं। कहीं और नहीं हैं, अपने ही भ्रातृसदन में यहीं प्रस्तुत हैं। जितनी मूर्खता कर गई, उसके अतिरिक्त पूर्णतया पवित्र हैं; इसका मैं वचन देता हूँ।

सेठ श्रीचंद्रजी—वही क्या कम है? हैं उनमें बहुतेरे सद्गुण भी, ऐसा मैं मानता हूँ; प्रेम भी कम नहीं करती थीं; न-जाने किस धोखे में पड़कर धर्मच्युत हो गई?

कालिदास—इसे जानेगा कौन? बिरादरी में कह दीजिएगा कि नानेरे से विश्वेश्वर के दर्शनार्थ काशी चली गई थीं, जहाँ से अपने भाई-भाभी के यहाँ बनी रहीं।

सेठ श्रीचंद्रजी—मैं स्वयं जानता हूँ कि नहीं?

कालिदास—क्या घर बैठे बहुतेरी स्त्रियाँ दुश्चरित्रा नहीं हो जातीं, और क्या उनके पति को सब कुछ जान-बूझकर कभी-कभी आँख नहीं मूँदनी पड़ती? स्वयं गौतम ऋषि ने अहल्या को क्षमा कर दिया था, और भगवान् रामचंद्र तक ने ऋषिवर की यह बात पसंद की थी। देखिए सेठजी! मेरी बहन ने प्राण हथेली पर लेकर भी आपको बीस सहस्र सुवर्ण दिलवाए थे कि नहीं? इतने ही दीनार मैं और देने को प्रस्तुत हूँ। यदि चाहिए, तो अयोध्या का श्रेष्ठी भी बना दूँ। वह महापद इस काल रिक्त भी है।

सेठ श्रीचंद्रजी—किंतु मैं ब्राह्मण का दान कैसे ले सकता हूँ?

कालिदास—मैं दूँगा ही कब? मैं तो गुप्त-साम्राज्य से दिला दूँगा, और कोई कानों-कान जानेगा भी नहीं।

मल्लिकाबाई—(आकर पति के चरणों पर सिर रख देती है।) अब तो नाथ ! मेरे अपराध क्षमा कर दीजिए। मुझसे बात न बनी, किंतु अपने गौरव तथा क्षमाशीलता की ओर जाइए, नाथ ! न कि मेरी मूर्खताओं पर। (रोती है।)

सेठ श्रीचंदजी—(चरणों से उठाकर) अच्छा, स्वस्थ होकर बैठो तो सही।

मल्लिकाबाई—मेरी तो आँख भी आपके सम्मुख नहीं होती, किंतु अपनी धृष्टता तथा आपकी उदारता से बिनती कर रही हूँ।

सेठ श्रीचंदजी—अच्छा, क्षमा किए देता हूँ। तुमने किया चाहे कुछ भी, किंतु मुझे भुलाया कभी नहीं।

मल्लिकाबाई—(फिर पैरों पड़कर) धन्य-धन्य स्वामी ! पति हो, तो ऐसा। क्षमाशीलता इसी को कहते हैं।

सेठ श्रीचंदजी—अच्छा, यह तो बतलाओ कि अब रहना कहाँ होगा ?

कालिदास—उज्जयिनी में रहने से यह बात छिप सकेगी नहीं, अतएव मेरे ही समान वहाँ की सारी संपत्ति बेच-खोंचकर सीधे यहाँ चले आइए। मैं आप ही के योग्य एक हर्म्य भी दिला दूँगा। श्रेष्ठी बनिएगा ही। तुरंत शासन निकल जायगा। समाज में भी उच्च पद के भोक्ता हो जाइएगा।

सेठ श्रीचंदजी—मेरी समझ में नहीं आता कि आप मुझ पर इतने कृपालु क्यों हैं ?

कालिदास—एक तो बाईजी मेरी बहन के समान हैं; दूसरे, मेरी ही युक्तियों से महाक्षत्रप का विनाश हुआ, जिसमें न जानते हुए कुछ सहायता दूर से इनके द्वारा भी हुई। मैं किसी प्रकार इन्हें फिर से प्रसन्न देखना चाहता हूँ। पीछेवाली भूल के कारण अब यह अखंड पति-भक्ति तथा धर्माचरण से अपना पुराना पाप मिटाने का पूर्ण प्रयत्न करेंगी।

सेठ श्रीचंदजी—तब फिर वहाँ का सामान एकत्र करके यत्न से तीर्थ-यात्रा के बहाने मैं यहीं चला आऊँगा।

कालिदास—नर्मदा-पर्यंत रक्षा का प्रबंध आप कर लीजिएगा। नदी पार होते ही साम्राज्य-सेना के कुछ रक्षक आपको सवाहन मिलेंगे, जिनके पास मेरा पत्र भी होगा। वे आपको सकुशल तथा सानंद यहाँ पहुँचा देंगे।

सेठ श्रीचंदजी—बड़ी कृपा। तब तक यह भाभीजी के ही पास रहेंगी।

कालिदास—इसमें क्या संदेह है?

इस प्रकार मत दृढ़ करके तथा दो-चार दिन वहीं रहकर सेठजी उज्जयिनी पधारे, और यथासमय सकुशल अयोध्या आकर सपत्नीक सुख-पूर्वक रहने लगे। देवगुप्त का सम्राट्-पद सब ओर से समर्थन और प्रेम-भाव-प्रदर्शन के साथ चला। आप अमात्य-परिषत् की बैठकों में यथासाध्य स्वयं सम्मिलित होते थे। कृतविद्य पुरुषों के दान-मान में सबसे विशेष उदारता दिखलाते, और जहाँ कहीं अधिकारियों का पद रिक्त होता, वहीं ऐसे ही सच्चरित्र विद्वान् सारे साम्राज्य-भर में नियत किए जाते थे। विद्या-रसिकों का यों भी विशेष मान करते थे। कालिदास आपके यहाँ परमोच्च विद्वान् तथा सुकवि थे ही; कविवर वीरसेन भी व्याकरण, साहित्य, न्याय और लोक-नीति के ज्ञाता थे। स्वयं परम भट्टारक उच्च कक्षा के विद्वान् और कवि थे। विविध विषयों पर आपने छंद-रचना की थी, विशेषतया मृगया पर। युद्ध तथा सिंह-व्याघ्रादि की मृगया में ऐसे सफल थे कि सिंहविक्रम, अजितविक्रम, विक्रमांक आदि विशेषणों का इनके विषय में सर्वसाधारण बिना किसी के सुझाए हुए स्वेच्छा-पूर्वक इस आधिक्य से व्यवहार करते थे कि ये इनकी वास्तविक उपाधियाँ हो गई थीं। परम भागवत और वैष्णव तो आप कहलाते

ही थे, तथापि शैव मतावलंबियों अथच बौद्धों तक का आदर करते एवं राज्य में उन्हें भी उच्च पद देते थे। भुक्तियों आदि में प्रायः जाकर गोप्ताओं के कार्यों का निरीक्षण कर ही आते थे। कभी-कभी विषयों के अधिष्ठानों अथच ग्रामों तक में पधारकर विषयपतियों, श्रेष्ठियों, ग्रामिकों, ग्राम्य महत्तरों आदि से भी उनकी कार्य-संबंधी बातों पर स्वतंत्रता-पूर्वक विचार-विनिमय का उन्हें अवसर देते थे। इन्हीं कारणों से आप सारे साम्राज्य में अति शीघ्र लोक-प्रिय हो गए। मन्त्रिपरिषद् के विचारों से आपका मत-भेद होता ही न था। उन बैठकों में इनके स्वयं उपस्थित रहने से स्पष्ट विचार विनिमय द्वारा सारे मत-भेद सुलझ जाते थे। जब अंतिम निर्णय किसी मंत्री के पहलेवाले मत के प्रतिकूल होता था, तब भी उसे यह न समझ पड़ता था कि उसके मत का उचित मान नहीं हुआ। अंत में प्रायः सबका मतैक्य हो जाया करता था। जितने वीरों ने गत शक-युद्ध में प्राण खोए थे, उनके कुटुंबों के पालन-पोषण का नियमानुसार प्रबंध कर दिया गया। क्षत-पीड़ितों का औषधोपचार राजकीय औषधालयों में भली भाँति किया गया। जितने सैनिक युद्ध में सम्मिलित हुए थे, उन्हें दो-दो मास का वेतन उपहार-स्वरूप मिला। मन्त्रियों, इतर युद्ध-संबंधी कार्य-कर्ताओं तथा अधिकारियों के साथ भी ऐसी ही उदारता की गई। इस भाँति सब लोग राजकीय व्यवस्था से प्रसन्न हुए। इतना होने पर भी जो धन और सामान शक-सेना के पराजय से प्राप्त हुआ था, उसका पंचमांश से अधिक व्यय न हुआ।

देवगुप्त महोदय राजकीय कवि-सम्मेलनों में उपस्थित होकर भाग लेते, इतरों की रचनाएँ प्रेम-पूर्वक सुनते तथा अपनी भी सुनाते थे। पंडित-मंडली में विराजकर आप युक्ति-पूर्ण तर्कों से शास्त्रीय मर्यादाओं के भी समर्थन में आनंद पाते थे। विद्वानों का

मान इस आधिक्य से होता था कि आपके तत्कालीन एक शत्रु तक ने लिखा है कि भ्रातृवध द्वारा राज्य पाकर एक लघु की आशा करनेवाले को यदि कोटि भी दिए, तो कौन-सी महत्ता की बात है? आत्मीय विक्रम पर आपको पूरा भरोसा था, और उसके प्रमाण भी युद्धों तथा मृगया में सैकड़ों दे चुके थे। एक दिन मित्रों तथा मुख्य मन्त्रियों के समाज में अचानक साम्राज्य का भी प्रश्न छिड़ गया।

महामन्त्री—शकों का आक्रमण तो हम लोगों ने रोक लिया है, किंतु हुआ बड़ा आश्चर्य। यह कौन जानता था कि बड़े सम्राट् की समार को हिला देनेवाली विजयों के पीछे इस शीघ्रता से ऐसा भारी संकट उपस्थित हो जायगा?

इंद्रदत्त—हुआ तो महदाश्चर्य, किंतु भविष्य के लिये अभी से चैतन्य रहना परमावश्यक है। महाबलाधिकृत की सम्मति में वर्तमान भारतीय दशा पर विचार करने से इस समय चार-पाँच शक्तियों का मामला विचार्य है।

वीरसेन—आजकल मुख्य शक्तियाँ मालव-गर्मन, दोनो शक-राज्य, वाकाटक तथा पुष्यमित्र-संघ हैं। वंग-विद्रोह का भी प्रबंध आवश्यक है, क्योंकि बिना किसी अच्छे सैन्येश के जब एक लक्ष दल कुछ कर न सका, तब वर्तमान अर्द्ध लक्ष क्या करेगा?

कालिदास—कर तो सकता है केवल पचीस सहस्र। शत्रुओं में वहाँ शक्ति ही क्या है? अपनी ओर से अच्छे प्रबंध का अभाव रहा है। अभी कृतांतजी या वीरसेनजी भेज दिए जायँ, तो तीन मास-भर में सारा विद्रोह ठंडा हो जाय। देव ने विजयी अनुयायियों को पुरस्कार भी इस उदारता से बाँटे हैं कि आगे से जी लगाने में कोई आना-कानी न करेगा।

चंद्रगुप्त—सबको यथायोग्य पुरस्कार कहाँ मिल सके हैं?

कालिदास—यह आश्चर्य-पूर्ण कथन है। मुझे तो ऐसा कोई

उन्हें ज्ञात नहीं, जो देव की उदारता से पूर्णतया संतुष्ट न हों।

चंद्रगुप्त—मुझे तो कम-से-कम एक व्यक्ति ज्ञात है, जिसका यथोचित मान अद्यावधि नहीं हो सका है

कालिदास—स्वामियों को गुप्त दूत-विभागों द्वारा कभी-कभी ऐसी बातें भी ज्ञात हो जाती हैं, जो कुछ-सीखे साधारण मनुष्यों को अज्ञात रहती हैं।

चंद्रगुप्त—कविवर! यह दूतों का कथन न होकर स्वयं मेरा विचार है, और इंद्रदत्तजी की रहती सम्मति से भी समर्थित है।

कालिदास—होगा भवदीय कथन अवश्य उचित, किंतु जब तक नाम न जानूँ, तब तक पूर्ण निश्चय का न होना भी स्वाभाविक है।

चंद्रगुप्त—राजशास्त्र का नियम है कि सभी रत्न सब पर नहीं प्रकट किए जा सकते (इंद्रदत्त से) क्यों साहनी! क्या कह ही डालूँ?

इंद्रदत्त—कहने से हमारे कवींद्र शायद कुछमें असमर्थ हो जायँ, केवल इतना भय है।

कालिदास—यह तो अभूतपूर्व शंका है, मित्रवर!

चंद्रगुप्त—जब इन्हें भय उपस्थित हो ही गया, तब पहले ही से क्यों न कहिए, जिसमें बेचारों के हृदय की बढ़ी हुई धड़कन बंद हो जाय?

कालिदास—आज ही नहीं, सदैव के लिये सारी बातों से बचा हूँ; अब तो हृत्तंत्री का राग ठीक-ठीक बजेगा न?

इंद्रदत्त—अब क्या भय रहा? (चंद्रगुप्त से) तो कह ही डालिए देव!

चंद्रगुप्त—अच्छा, कहे देता हूँ; इसका और मेरा विचार है कि अद्यावधि स्वयं कविवर कालिदास का उचित मान नहीं हुआ है।

कालिदास—(आश्चर्य से) क्या कहा ?-मेरा ? इससे अधिक साम्राज्य मेरा मान क्या करेगा ? मुक्ति, वेतन, मान, मित्रता क्या-क्या नहीं मिली ? मैंने इन्हीं हाथों से तीन-तीन लक्ष धारण लोगों को दे तक डाले हैं। (इंद्रदत्त से) यदि आपने युवराज महोदय ! पहले से क्षमा न माँग ली होती, तो मैं समझता कि आप मुझे कृतघ्नता का दोष लगाते हैं।

इंद्रदत्त—कृतघ्नता का भाव तब होता, कविवर ! जब आप स्वयं अपने राजमान को हेय कहते या समझते ; यहाँ मैं तो अपना मत कहता हूँ, कुछ आपका नहीं।

चंद्रगुप्त—अपने द्वारा धन-दान का जो बखान कर रहे हैं, वह तो राजकीय कार्य-साधन के व्यय थे, आपने उनमें क्या पाया ?

कालिदास—दान देने और राजकीय भारी कार्य-साधन में विश्राम एवं अधिकार।

चंद्रगुप्त—स्मरण कीजिए कविवर कि एक ही दिन की सेवा के लिये गत महाक्षत्रप आपको सप्त लक्ष वार्षिक आय का राज्य दे रहा था।

कालिदास—वह तो धर्म त्याग का मूल्य था, पुण्य-पूर्ण उचित राजसेवा का नहीं।

चंद्रगुप्त—फिर भी एक दिन की सेवा में क्या मिल रहा था, और मैंने पंचवर्षीय शुद्ध सफल कार्य-साधन का क्या मान किया ? एक लक्ष की आशा करनेवाले को एक कोटि का दाता उदार कहा जा सकता है। यहाँ उदारता की बात ही क्या है, उचित मूल्य भी नहीं दिया गया है।

महामंत्री—स्वामी के लिये ऐसे ही उच्च भाव शोभा-प्रद हैं।

वीरसेन—बात पूर्णतया यथार्थ भी है।

महाबलाधिकृत—हमारे कविवर पूर्णता से भी अधिक साहित्यिक, शुद्ध चित्त के मित्र, कुशल सैन्य संचालक तथा परमोत्कृष्ट राजनीतिज्ञ हैं। जैसी योग्यता से महाक्षत्रप, मल्लिकाबाई, चंद्रचूड आदि के मामले निश्चित किए, सो कहते नहीं बनता।

चंद्रगुप्त—विजय का आधे से अधिक श्रेय वास्तव में आप ही को है।

कालिदास—श्रेय तो पूरा परम भट्टारक को है, जिन्होंने पहले ही से उज्जयिनी की सेना घेर ली थी। यदि शिविरवाला आक्रमण न हो पाता, तो भी वह दुष्ट बचा कब जाता था?

चंद्रगुप्त—इस तर्कावलि में क्या रक्खा है? भाई इंद्रदत्तजी का मत है कि जो कुशानशाही के कुछ प्रांत पंजाब में अब भी अव्यवस्थित दशा में पड़े हैं, उनमें से दश लक्ष वार्षिक आय का एक महाराज्य कविवर को मिलना चाहिए। यह कार्य आज से षण्मास में ही वीरसेनजी राजकीय सेना की सहायता से संपादित करने का वचन दे चुके हैं। नियम-पूर्वक आज्ञा शीघ्र निकल जायगी। आज से आप भी साम्राज्य के एक महाराजा हुए। अमात्य-परिषत् तथा राजप्रतिनिधि के पद आपके फिर भी रहेंगे, तथा आशा करता हूँ कि प्रतिवर्ष नौ मास से कम आप मेरे समक्ष न रहा करेंगे, जिसमें कि मैत्री के सुख से वंचित न रहूँ।

कालिदास—धन्य देव, धन्य! इतना तो मैं भी कहूँगा कि इस दान में पात्रापात्र का विचार यथायोग्य न हुआ। पास रहने के विषय में जो आज्ञा हुई है, सो मैं तो बारहो मास यहीं रहा करूँगा।

इंद्रदत्त—मुझे खेद है कि अमात्य-परिषत् का कोई भी सदस्य आपके पात्रापात्र-संबंधी भाषण से मतैक्य नहीं रखता।

चंद्रगुप्त—कविवर! मुझे दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि आपकी

भी एक सम्मति न मानने में हम लोग बाध्य हैं। यह ऐसा पहला ही अवसर है, और आशा करता हूँ कि अंतिम भी होगा। साल-साल-भर यहीं पर विराजने का वचन देते हैं, उसके लिये अनेक धन्यवाद! (सब लोग हँसते हैं। कालिदास प्रसन्न होते हैं।)

वीरसेन—यह विषय तो समाप्त हुआ, अब भारतीय अंतर-राष्ट्रीय प्रश्न पर भी विचार हो जाय।

महामंत्री—देव की इच्छा है कि शक नाम ही भारत से उठ जाय। जब तक ये लोग अपने को विदेशी समझने और इस बात पर गर्व करते हैं, तब तक हमारे शत्रु हैं ही।

चंद्रगुप्त—इसके अतिरिक्त जब कभी गुप्त-साम्राज्य को निर्बल पावेंगे, तब ये विदेशी उसे दबाने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। इन बातों के अतिरिक्त इस साम्राज्य का उज्जयिनी ने जैसा अपमान करना चाहा था, उसका फल अवश्य मिलना चाहिए। सिंहसेन के पीछे उसका पुत्र रुद्रसेन चतुर्थ अब वहाँ का नृप है। वह अभी बालक है, जिससे निकट भविष्य में धावा करने से कुछ लोग उदारता में कमी समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त बिना पूरी तैयारी के उधर का आक्रमण भी दूरदर्शिता के प्रतिकूल होगा।

वीरसेन—यही बात है देव! अभी तो वंग-विरोध का शमन करना परमावश्यक है।

महामंत्री—उसके लिये कौन बीड़ा उठाना चाहता है?

महाबलाधिकृत—जिसे आज्ञा हो, वही जा सकता है। कवींद्रजी के मातामह का कुटुंब वंग का ही है। इन्हें उस ओर गुप्त-सहायता भी अच्छी मिलेगी।

चंद्रगुप्त—क्यों मित्र! क्या इच्छा है?

कालिदास—मैं स्वयं अवंती का हूँ, माता वंग और पितामही काश्मीर की। मैं तो अवंती के अतिरिक्त अपने को बंगाली

और काश्मीरी भी समझता हूँ; किंतु वास्तव में अब हो रहा हूँ कौशल। यदि आज्ञा हो, तो उधर भी प्रयत्न करने को प्रस्तुत ही हूँ। उज्जयिनी के युद्ध में मैंने वंगीय दल का नेतृत्व किया भी था।

चंद्रगुप्त—कितनी सेना की आवश्यकता समझी जाती है?

कालिदास—यहाँ से चुनी हुई अपनी पाँच सहस्र सेना तथा एक शत परम प्रवीण दूत ले जाऊँगा, शेष कार्यों के लिये वहाँ की पचास सहस्र सेना बहुत है। आवश्यकता हो, तो उसमें से भी दस-पाँच सहस्र वापस भेजी जा सकेगी।

चंद्रगुप्त—(महाबलाधिकृत से) क्यों आर्य! आपका क्या मत है?

महाबलाधिकृत—इनका कथन बिलकुल यथार्थ है देव!

चंद्रगुप्त—अच्छा, तो यह भी बात निश्चित हुई। अब शेष राज्यों के विषय में क्या सम्मति है?

वीरसेन—वाकाटक-राज्य ने तो गत युद्ध में अपनी अच्छी सहायता गाढ़े समय में की। मेरी सम्मति है कि उसके साथ कोई संबंध जोड़कर यह मैत्री और भी दृढ कर ली जाय।'

महामंत्री—मुझे भी यही समझ पड़ता है।

कालिदास—बात ध्यान में रखने योग्य है। अभी तो कोई बालक-बालिका अपने यहाँ विवाह-योग्य है नहीं, किंतु समय पर चूकना न चाहिए।'

चंद्रगुप्त—ऐसी ही बात है। मालव-वर्मन महाराजा ने अपने साथ कभी वैमनस्य रक्खा नहीं, संभवतः उस राज्य से प्रेम-पूर्ण युक्तियों से ही वांछनीय संधि हो सके। पितृचरण के समय अपने महासामंत बने ही थे।

वीरसेन—इसका प्रयत्न हो ही रहा है। आशा है, साफल्य शीघ्र प्राप्त हो जाय।

महामंत्री—अब सौराष्ट्रीय शकों की बात रह गई, सो यथा-संभव दोनो शक-राज्यों से साथ ही समझ लिया जायगा। काम कुछ आगे-पीछे होगा ही। विचार केवल पुष्यमित्र-संघ पर शेष है।

महाबलाधिकृत—वह एक गणराज्य है, और कभी अपने से तीन-पाँच भी नहीं करता। है वह शक्ति बलवती, और यदि भिड़ पड़े, तो कठिनता पड़ सकती है। फिर भी अभी उसके भाव शांति-पूर्ण दिखते हैं। ऐसी प्रजातन्त्र-शक्ति से निष्कारण छेड़छाड़ सुयशवर्द्धिनी भी न होगी।

महामंत्री—यह विचार परम उच्चाशय-पूर्ण तथा दूरदर्शिता-गर्भित है, देव!

वीरसेन—मेरा भी यही मत है।

कालिदास—इस गणशक्ति को समझता तो काली नागिन हूँ, किंतु अभी कारण-हीन बखेड़ा उठाना मैं भी अयोग्य मानता हूँ।

चन्द्रगुप्त—तब फिर सब मामलों पर विचार हो चुका, और सर्व-सम्मति से अंतरराष्ट्रीय नीति का निर्णय किया जा चुका है।

कालिदास—सभा विसर्जन के पूर्व मैं एक बार फिर स्वामी को धन्यवाद अर्पण करता हूँ।

चन्द्रगुप्त—बड़ी कृपा, किंतु आपके मुख से मेरे लिये मित्र शब्द मीठा लगता है; स्वामी-सेवक-भाव का कथन कानों में कुछ खटकने लगता है। हम सभी लोग शुद्ध दृष्टि से साम्राज्य के सेवक है।

इंद्रदत्त—(कालिदास से) अब शायद नवीन महाराज्य के विषय में आपका मत बदल गया है।

कालिदास—सभी अमात्यों तथा देव के सम्मिलित विचारों का प्रभाव क्या प्रतिकूल मत रखनेवाले मन्त्रियों पर पड़ता नहीं?

वीरसेन—यदि समझदार मंत्री हो, तो अवश्य पड़ेगा। (सब लोग हँसते हैं।)

चंद्रगुप्त—सबका संतोष होना है आवश्यक।

कालिदास—लोभियों का संतोष अर्द्ध साम्राज्य से भी नहीं होता।

चंद्रगुप्त—ऐसे लोभी पुरुष क्या गुप्त-अमात्य-परिषत् में भी हो सकते हैं?

महामंत्री—क्यों होने लगे, देव!

उन्नीसवाँ परिच्छेद
वंग-विजय

उचित संख्या में सैनिक तथा परम प्रवीण एक शत दूतों को लेकर समय पर महाकवि कालिदास वंग-विजयार्थ प्रस्थित हुए। मार्ग में काशी पहुँच आपने गंगा-स्नान करके भक्ति-पूर्णता के साथ विश्वनाथजी के दर्शन किए। प्रचुर दान देते हुए ब्राह्मणों के आशीर्वाद लेकर कविवर ने यथासमय पाटलिपुत्र पहुँचकर गुप्त-साम्राज्य की इस प्राचीन राजधानी में पदार्पण किया। उस देश के राजस्थानीय गोप्ता, विषयपति, गौल्मिक, अग्रहारिक, ग्रामिक, शौल्किक, ग्राम्य महत्तर, निगम-संचालक, नगर-श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलिक, प्रथम कायस्थ आदि यथासमय इनकी सेवा में उपस्थित हुए। मुख्य-मुख्य नागरिक भी आ-आकर अपनी-अपनी आवश्यकताओं तथा विचारों के कथन करने लगे। दस-दस, बीस-बीस ग्रामों के प्रतिनिधि महत्तर भी पहुँचे। नागरिकों तथा मुख्य-मुख्य प्रतिनिधियों ने राजधानी के अयोध्या चली जाने से पाटलिपुत्र की हीन दशा के कथन किए। कविवर ने उन्हें समझाया कि पाटलिपुत्र राजधानी है ही, केवल बड़े सम्राट् विशेष रूप से अयोध्या में विराजते थे। वहाँ का जल-वायु इस प्रांत के देखते हुए कुछ श्रेष्ठतर है ही। फिर सम्राट् का भी कदाचित् ऐसा विचार है कि उन्हें प्रतिवर्ष कम-से-कम कुछ मास यहाँ भी विराजना चाहिए। इन दोनो महापुरियों को साथ-ही-साथ राजधानी होने का गौरव प्राप्त रहना उचित है। इस विचार से उस भुक्ति के निवासी बहुत ही प्रसन्न हुए। अनंतर उपरिक महोदय से एकांत में कविवर ने वंग-विजय के संबंध में परामर्श

किया, तो उन्होंने दस-बीस भेदिए ऐसे बढ़िया देने को कहे, जो आकाश में चकती लगा सकें, हथेली पर सरसों जमाकर दिखला दें; और थोड़े ही समय में शत्रु-सेना का ऐसा पता दें कि वह घिरकर समाप्त हो जाय। यह सुनकर कालिदास ने बीस भेदिए दूत वहाँ से भी लिए। उपरिक से बातचीत करने से आपका यह भी विचार हुआ कि स्वयं वंग में भी अच्छे दूत गोप्ता की सहायता से प्राप्त होंगे। वंगीय होने के कारण उन प्रांतों के सारे भेद उन्हें अच्छे प्रकार ज्ञात भी होंगे। इस विचार का समर्थन इतरों ने भी किया। अनंतर उचित समय पर उनसे विदा होकर आप वंग की ओर प्रस्थित हुए। वहाँ की सेना को पहले ही से सूचना मिल चुकी थी। राजकीय भटाश्वपति अयुत हयसादियों तथा कटुक १०१ हाथियों को लेकर मार्ग में इनसे मिले। यह सेना युक्ति-पूर्वक नियमानुसार बढ़ती हुई राजधानी में पहुँची।

वहाँ के भी राजकीय प्रवीण दूतों को बुलवाकर प्रांतीय बलाधिकृत, उपरिक, भटाश्वपति, कटुक, दंडपाशाधिकरण आदि के साथ इस वीर कवि ने अपने सैनिकों से गुप्त युद्ध-मंत्रणा की। सबों ने अपनी-अपनी सम्मति दी, और कवींद्र ने सबके साथ उस पर विचार किया। अंत में सर्व-सम्मति से यही निश्चय हुआ कि सेना उचित विभागों में बँटकर एक दूसरे भाग से संबंध न छोड़ते हुए शत्रु-सेना को दबावे, अथच दूतों द्वारा उनके नेताओं का पता लगाया जाकर शत्रु के चमूपों पर अचानक आक्रमण किए जायँ। जाँच करने से आप पर यह भी प्रकट हुआ कि गत सेनापति ने एक लक्ष दल रखते हुए भी एक तो उचित स्थानों पर उन्हें नियोजित न कर पाया, दूसरे, दूतों से समुचित क्या, प्रायः कुछ भी काम न लिया था। शत्रुओं के पास प्रायः पचास सहस्र सेना थी, तथा वंगीय प्रजा में से कुछ तो भय के कारण उनका साथ देती थी, और कुछ बढ़े हुए प्रांतीय

स्वतंत्रता के विचारों से। राजधानी की रक्षा का उचित प्रबंध रखते हुए कविवर ने अपनी सेना को ठीक-ठीक स्थानों पर नियोजित किया। शत्रु-वर्ग के भी सेनापति प्रवीण थे। उज्जयिनी का गुप्त दूत महाशक्ति अयोध्या के युद्ध से किसी प्रकार बचकर अपने प्राचीन रूप में वंग पहुँच चुका था, तथा सम्राट् रुद्रसेन (चतुर्थ) की गोप्य आज्ञा उसे पूर्ववत् कार्य-संपादन की मिल चुकी थी। कालिदास के प्रवीण प्रबंधों से घबराकर डवाक (ढाका) तथा समतट-नरेशों ने बाबाजी, दमघोष तथा फल्गुदत्त के साथ मंत्र आरंभ किया।

डवाक-नरेश—प्राचीन महाबलाधिकृत तो एक लक्ष सैनिकों के साथ कुछ न कर सका, किंतु महाकवि पचपन सहस्र से ही हमें घेरे लेते हैं।

समतट-नरेश—सेना अपने पास भी इससे कम नहीं; निकलकर मैदान में युद्ध क्यों न किया जाय? कहीं ऐसा न हो कि लेने-के-देने पड़ने लगें?

बाबाजी—देखते नहीं, वह युद्ध-विद्या में परम निपुण साम्राज्य का दल है। ऐसी विनीत तथा ऊँचे नेताओं द्वारा परिचालित तीस सहस्र सेना का भी सामना हमारी साधारण पूरी सेना न कर सकेगी। फिर जब कभी संकट पड़ता देखेंगे, तब साम्राज्यवाले इतना ही और दल परम सुगमता-पूर्वक भेज सकते हैं। जब तक सुशिक्षित अथच शस्त्रास्त्र से सुसज्जित दल न हो, तब तक सिवा युक्ति-पूर्वक शत्रु फाँसने के सम्मुख युद्ध अशक्य है।

दमघोष—अपने दूत यहाँ का हाल तो जानते हैं, किंतु आज-कल अयोध्या से इतने भेदिए आए हैं, तथा ऐसे-ऐसे रूप रखकर सारे देश में फिरते हैं कि पता नहीं पड़ता, कौन भेदिया है और कौन साधारण ग्रामीण अथवा नागरिक?

फल्गुदत्त—इन बातों से तो ध्वनि यह निकलती है कि अपनी

दशा जंतु-मुखगत शृंगाल की-सी हुई जाती है। कोई उपचार करना ही पड़ेगा। या तो सेना का नवीन शिक्षण किया जाय, अथवा भेदियों का दल बढ़ाया जाय। यदि ऐसी ही निरुत्साह-पूर्ण दशा रही, तो आत्मसमर्पण का प्रश्न उपस्थित हो जायगा।

बाबाजी—मेरा प्राचीन संबंध उज्जयिनी-राज्य से भी धर्म के नाते से था। इच्छा हो, तो वहाँ से भी कुछ शिक्षक अथवा सेना मँगाने का प्रबंध करूँ।

डवाक-नरेश—जब इसी गुप्त सेना ने हँसते हुए सारे महाक्षत्रपीय दल को दस दिनों में भ्रष्ट कर डाला, तब वहाँ से सेना अथवा शिक्षक माँगने से क्या काम चलेगा? सामने जमकर युद्ध करना अपनी शक्ति के बाहर है। भाग-भूग, छिपकर छापा मारने और जंगल में घुसे रहने की ही प्रणालियाँ काम दे सकती हैं।

समतट-नरेश—यही बात है। भेदियों का दल बढ़ाना पड़ेगा। उत्साह छोड़ने से काम नहीं चल सकता। जिस युक्ति से गत महाबलाधिकृत को दो साल दबाकर सारा देश छीन-सा लिया, वही युक्ति अब भी चलनी चाहिए। पौर-जानपदों की सहृदयता तो अभी प्राप्त है न?

फल्गुदत्त—उनमें भी प्रायः पचीस प्रतिशत सच्चे शुभेच्छु थे, अनुमान से दश प्रतिशत प्रतिकूल तथा शेष उदासीन, जो स्थिति देखकर काम करते हैं। उनको भूमि-कर देने में इनकार नहीं, केवल सबल पक्ष के सहायक रहते हैं।

डवाक-नरेश—जब से नवीन नेतृत्व चल रहा है, तब से क्या दशा है?

दमघोष—उन लोगों ने बड़ी युक्ति से कार्यारंभ किया है। जहाँ-जहाँ उनका प्रभाव फैलता जाता है, वहीं-वहीं उपदेशक पहुँच-पहुँचकर प्रजा को भाँति-भाँति की शिक्षा देते हैं। राजकीय उप-

देशकों का तो प्रभाव कम पड़ता है, किंतु उन लोगों ने ऐसे सहायक मँगाए हैं, जो आते साधारण ग्रामीणों के रूप में हैं, तथा वहाँ किसी-न-किसी के संबंधी अवश्य होते हैं। देखने को तो मिलने-भेंटने आते हैं, तथा साम्राज्य से अपने को नितांत असंबद्ध प्रकट करते हैं, किंतु गुप्तरीत्या इसी के धनभुक्त विश्वस्त सहायक होते हैं।

फल्गुदत्त—ग्रामीणों तथा नागरिकों को अनेक भाँति से समझाने के प्रयत्न हुए कि ऐसे लोग गुप्तों के भेदिए हैं, किंतु हमारे इन कथनों का प्रभाव पड़ता नहीं। दो मानते हैं, तो दस नहीं। बहुतेरे उपदेशक स्वामी, साधु-महंत, तीर्थों के पंडे, पुरोहित आदि भी बन-बनकर आते हैं, और साम्राज्य का कार्य-साधन युक्ति-पूर्वक किया करते हैं। दस बातें धार्मिक, व्यापारी, कामकाजू आदि कहते हैं, तो उन्हीं के साथ एक-दो भारतीय ऐक्य तथा प्रांतिकता के प्रतिकूल चलते हुए प्रकार से ऐसी कह जाते हैं, मानो उनमें उन लोगों का कुछ भी स्वार्थ नहीं। इस प्रकार जो प्रांतीयता के विचार प्रजा में भूठ-सच द्वारा पहले भरे गए थे, वे शीघ्रता-पूर्वक तिरोहित हो रहे हैं।

बाबाजी—उनके प्रतिकूल बहुत प्रयत्न करने का अवसर तो मिलता नहीं; क्योंकि उन ग्रामों, विषयों, भुक्तियों आदि में ऊपरी अधिकार शत्रु का हो ही गया है, अतएव मामले की रंगत बिगड़ती हुई दिखती है।

समतट-नरेश—गुप्त गोष्ठियों की क्या दशा है?

बाबाजी—शत्रु के भेदिए ऐसी प्रवीणता से काम करते हैं, और उनके चर प्रजा में घुल-मिलकर इस युक्ति से पेट की बात निकालते हैं कि गुप्त गोष्ठियों का हाल उन्हें ज्ञात हो गया है।

दमघोष—फिर भी किसी पर अत्याचार नहीं करते, वरन् गुप्त कार्यकर्ताओं पर बातों-बातों ऐसा प्रकट कर देते हैं कि उनकी सारी तरकीबें अधिकारियों को ज्ञात हो गई हैं। इससे वे गोष्ठियाँ भय

के मारे आप ही टूट जाती हैं। लोग अपने उनमें होने के प्रमाण नष्ट करते तथा पत्रादि जला देते हैं। इस प्रकार ऐसी गोष्ठियाँ निर्मूल हो जाती हैं।

डवाक-नरेश—भूमि-कर भी अब कमी के साथ मिलने लगा है।

फल्गुदत्त—कारण यह है, देव! जहाँ-जहाँ उनका अधिकार जमता जाता है, वहीं सारी गुप्त गोष्ठियाँ नष्ट हो जाती हैं, तथा नागरिकों में प्रांतिकता के स्थान पर भारतीयता के भाव बढ़ते हैं, जिससे न तो उच्छृंखलता रह जाती न प्रबंध बिगड़ता है। आय अपनी घट गई है, जिससे यदि धन का कोई प्रबंध न हुआ, तो साल-दो साल के पीछे इतनी सेना रखने की शक्ति भी न रह जायगी।

समतट-नरेश—सुना, यहीं कहीं कवींद्र के मातामह का कुटुंब भी रहता है।

बाबाजी—मुझे तो उनका पता ज्ञात है नहीं।

फल्गुदत्त—कुछ भी नहीं, देव! वह भोंदू इन बातों को क्या जानें।

बाबाजी—ऐसा न सोचिए, मित्रवर! कालिदास में वह चमत्कार है कि लोहे को सोना बना सकते हैं। उज्जयिनी के महाक्षत्रप महोदय ऐसे प्रवीण थे कि उनकी बुद्धि की धाक सारे देश में फैली हुई थी। इस जालिए ने पुरस्कार के विषय में उनसे ऐसी बातें कीं कि उन्हें इसकी शुद्ध सहायता पर पूर्ण विश्वास बैठ गया। फिर भी सप्त लक्ष के राज्य को लात मारकर इसने स्वामिभक्ति न छोड़ी, और बेचारे महाक्षत्रप को पूरा मूर्ख बनाया। अंत में सात के स्थान पर दश लक्ष का महाराज्य भी अपने स्वामी से बिना माँगे प्राप्त कर लिया। उसकी बुद्धि के आगे कोई भी बात अशक्य नहीं है।

इवाक-नरेश—प्रयोजन यह कि इनके मातामहीय कुटुंब से भी चैतन्य रहना आवश्यक है।

बाबाजी—यही बात है, देव! कालिदास के कौशल की कोई सीमा नहीं! बड़े प्रबल शत्रु का सामना है।

समतट-नरेश—आज जितनी बातें हुई हैं, वे सब निराशा-जनक हैं; ऐसी दशा में करना क्या होगा? इसका भी तो विचार हो।

बाबाजी—मैं तो समझता हूँ, अपनी सेना दस-पाँच विभागों में बँटकर और भी छिपी हुई रीति से रक्खी जाय, तथा दोनो नरेशों के भेदवाले स्थान बहुत ही गुप्त हों, जिसमें कोई छिद्र न रहे। अपने सब सैनिक भी उन्हें न जानें। वहीं से छिप-छिपकर साम्राज्य की छोटी-छोटी टोलियाँ नष्ट की जायँ, खाद्य-सामग्री लूटी जाय, कोष यथासाध्य बचने न पाए, तथा स्वयं कालिदास पर हाथ डाला जाय।

फल्गुदत्त—मैं समझता हूँ, इसी प्रकार साल-दो साल और पार किए जायँ। इतने दिन असफल रहने से साम्राज्य ऐसी महती सेना इधर रख सकेगा नहीं, तथा कविवर-सा उच्च मंत्री एवं युद्ध-कर्ता भी चिरकाल यहाँ ठहर न सकेगा। जब शत्रु-सेना घटे, तथा नेता साधारण योग्यता का आवे, तब फिर से उपद्रव मचाया जाय।

दमघोष—निष्कर्ष यह निकलता है कि वर्तमान स्थिति में विजय की आशा है नहीं, केवल इतनी युक्ति संभव है कि पराजय न हो।

इवाक-नरेश—यदि वास्तविक निराशा की ही दशा हो, तो आत्मसमर्पण की बात सोची जाय।

फल्गुदत्त—स्वामी को न तो मिथ्या बढ़ावे में रखना योग्य है, न अनुचित नैराश्य में। समय कठिन अवश्य उपस्थित हुआ है, किंतु

पूर्ण नैराश्य की बात नहीं समझ पड़ती। फिर स्थिति पलटेगी। कहा गया है—

काल-चक्र यह महा प्रबल फिरता ही रहता;
कोई देश न सदा गौल गरिमा की गहता।
काल-चक्र की किंतु एक-सी गति नहिं रहती;
दामन अवनति भी न सदा को हठ कर गहती।

मुझे तो ऐसा समझ पड़ रहा है, दीनबंधो! —"ऐहैं बहुरि बसंत-ऋतु इन डारन वे फूल।"

बाबाजी—फिर आत्मसमर्पण से लाभ ही क्या होगा? जब युद्ध छेड़ा गया है, तब जो भुक्ति सम्राट् समुद्रगुप्त ने लगाई थी, उतनी तो रहेगी नहीं, क्योंकि राजद्रोह हो ही चुका है। ऐसी दशा में आधी भुक्ति रही तो क्या, और कुछ उससे भी घटी, तो क्या? महत्ता का तो आभास भी न रह जायगा।

डवाक-नरेश—(समतट-नरेश से) क्यों भाईजी! क्या विचार है?

समतट-नरेश—बात तो ऐसी ही दिखती है। अब तो ऊलूखल में सिर पड़ चुके हैं, चोटों की क्या पूछनी है?

डवाक-नरेश—है यही बात, किंतु सोच लीजिए, जिसमें पीछे कुदिन उपस्थित न हो।

समतट-नरेश—जो मामले अपने शुभचिंतकों तक ने सामने रक्खे हैं, उनसे पछताने का तो समय आ ही गया है। कौन जानता था कि ऐसी महती उज्जयिनी-शक्ति को गुप्त-दल पलक मारते अशेष-प्राय कर देगा?

डवाक-नरेश—चल भी किस दूरदर्शिता से रहे हैं कि शकों को हराकर भी उज्जयिनी पर आक्रमण नहीं करते, वरन् एक-ही-एक मामला सुलझा रहे हैं। कौन जानता था कि रामगुप्त-से अयोग्य

को क्षण-भर में हटाकर ऐसा दूरदर्शी, कुशल और प्रजा-प्रिय शासक स्थापित हो जायगा ?

समतट-नरेश—यही तो बात है। सारे भारत में सम्राट् चंद्रगुप्त के सौजन्य का डंका पिट रहा है। ग्रामीणों तक से मित्र के समान वार्ता करते हैं। यह नहीं कि रामगुप्त की भाँति हितेच्छुओं तक को काट-काट खायँ।

डवाक-नरेश—अपनी प्रजा पर भी उनके जगद्विख्यात सौजन्य का भारी प्रभाव पड़ रहा है। ऐसे भले, वीर, प्रजा-प्रिय, प्रवीण सम्राट् का सामना करना हँसी-खेल थोड़े ही है। अब तो गुड़-भरा हँसिया सामने है, न छोड़ते बने, न निगलते।

बाबाजी—इतनी निराशा न की जाय, देव ! ईश्वर ने चाहा, और पृथ्वी माता का आशीर्वाद हुआ, तो समय पर फिर विजय-वैजयंती लहरायगी।

समतट-नरेश—आत्मसमर्पण की न तो मेरी इच्छा होती है, न मंत्रियों का ही ऐसा मत है। मैं तो मामला आगे बढ़ाना चाहता हूँ।

डवाक-नरेश—तब यही हो। "सनमुख मरन बीर की सोभा" की बात है ही।

फल्गुदत्त—धन्य स्वामी ! ऐसी ही दृढता रक्खी जाय।

इधर इस प्रकार कथनोपकथन हो रहे थे, और नवीन साहस के साथ कार्य चलाने का निश्चय था, उधर गुप्त-सेना वंग-प्रांत के अधिकाधिक भाग दृढ करती जाती थी। गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचारों से कई आक्रमण शत्रु नरेशों तक पर हो चुके थे, जिनमें से दो-तीन में वे बाल-बाल बच गए थे। कालिदास ने अब परम गुप्तरीत्या वेश बदलाकर अपने मातृवंशी स्वजनों में से दो परम प्रवीण पुरुषों को बुलवाया। प्रणाम-आशीर्वाद के पीछे तीनो सज्जन एकांत में बात करने लगे।

कालिदास—कहो बेटे ! शरीर स्वस्थ है न ? कोई कष्ट तो नहीं है ?

प्रथम स्वजन—भवदीय चरणों के आशीर्वाद से सब कुशल-मंगल है; कोई कष्ट भी नहीं।

कालिदास—दादाजी भी प्रसन्न हैं न ?

द्वितीय स्वजन—उनका शरीर तो वृद्धता के कारण कुछ कृश रहता है, फिर भी ईश्वर की कृपा से हैं प्रसन्न और स्वस्थ। आपने काकाजी ! इस बार पदार्पण से अपना सदन भी पवित्र न किया।

कालिदास—वहाँ जाने में क्या संकोच हो सकता था, बेटाजी ! किंतु जिस कारण से तुम दोनो को यहाँ छद्म वेश में बुलवाया है, वही वहाँ जाने में भी बाधक था। समय पर आऊँगा अवश्य। और नहीं तो वंग से प्रस्थान के पूर्व वहाँ होकर दादाजी के दर्शन करूँगा ही।

प्रथम स्वजन—वह इस बात के इच्छुक भी बहुत हैं। हम लोगों को यहाँ तक आते समय आज्ञा कर दी थी कि वहाँ ले जाने के विषय में विशेष हठ करें।

कालिदास—हठ की क्या आवश्यकता है ? आप लोग खदेड़िए, तो भी मैं दो-चार दिनों के लिये वहाँ अवश्य जाऊँगा।

प्रथम स्वजन—औचित्य तो इसी में है, काकाजी !

कालिदास—होने में संदेह नहीं है, किंतु आज तुम दोनो का एक परम गोपनीय राजकीय कार्य के लिये स्मरण किया है। जानते ही हो कि मैं कई वर्षों से साम्राज्य का सेवक हो गया हूँ, और आजकल वंग-विजयार्थ यहाँ उपस्थित हूँ।

द्वितीय स्वजन—ये बातें हम लोगों को पूर्णतया ज्ञात हैं, तथा इनका हमें बड़ा गर्व है। आज्ञा हो कि हम साधारण लोग इस विषय में क्या कार्य संपादित कर सकते हैं ?

कालिदास—पहले तो आधिक्य-प्रदर्शन से संदेह न उत्पन्न करते हुए मुझसे अप्रसन्नता प्रकट करो। लोगों से यहाँ तक कहो कि उच्च पदवी पाकर मैं ऐसा कुछ आपे को भूल गया हूँ कि संबंधियों से बात तक नहीं करता, न उनका स्मरण ही करता हूँ। समझे, यथा-संभव आधिक्य बचाकर मुझे मदांधता का दोष लगाते हुए अपना क्रोध प्रकट करो, जिससे साम्राज्य के शत्रु तुम लोगों को मेरा हितेच्छु न समझें।

द्वितीय स्वजन—समझा, शायद आपका विचार हो कि आपके स्वजन समझकर वे लोग हमारे ऊपर कोई अत्याचार न कर बैठें।

कालिदास—यह तो है ही, किंतु इससे भी बढ़कर एक बात है।

प्रथम स्वजन—सो क्या?

कालिदास—यदि तुम दोनो बुद्धिमानी से काम चलाओ, तो व्यापारी लाभ के अतिरिक्त साम्राज्य से तुम्हें दस-पाँच सहस्र भरण पुरस्कार में भी मिल सकेंगे।

प्रथम स्वजन—इसकी क्या युक्ति है, काकाजी!

कालिदास—मैंने अपनी सेना द्वारा खाद्य तथा अन्य पदार्थों के उनके पास पहुँचने में पूरी बाधा डाल रक्खी है। जो लोग उनके हाथ कोई माल बेचते हैं, उनके प्रतिकूल भी रोक-टोक तथा दंड-विधान है। आप लोग छिपकर उन लोगों को अभीप्सित सामान दाम लेकर पहुँचाइए। प्रकट में गुप्त भाव से ऐसा कीजिए, किंतु कोई राजसेवक आपके पीछे न पड़ेगा, आँख बचा जायगा। इतना हो कि तुम्हारे ये कार्य चोरी से किए गए दिखें। इस प्रकार शनैः-शनैः तुम्हारी उनसे आत्मीयता बढ़ेगी। बिना उत्कंठा दिखलाए तथा प्रकट में पूर्ण उदासीन भाव

रखते हुए युक्ति-पूर्वक उनके छिपने का स्थान जान लीजिए, तथा हमारे किसी विश्वस्त दूत को बतला दीजिए। जो मनुष्य सौदा आदि बेचने-ख़रीदने या अन्य प्रकार से आपको एकांत में ऐसा संकेत दिखलावे (चिह्न दिखलाकर), उसे हमारा विश्वस्त दूत समझिएगा। प्रत्येक दूत तक के पास यह मुद्रा नहीं रहता, वरन् परम विश्वस्त भेदियों-भर को मिलता है। वे लोग माया ख़ूब जानते हैं, और आप दोनो में से किसी एक को ऐसी युक्ति से प्रायः नित्य एक बार मिला करेंगे कि कोई भाँप न सकेगा कि क्या मामला है ? जिस दिन काम हो जायगा, उसी दिन से मैं प्रकट रूप से भाईजी के दर्शन करने लगूँगा, तथा मेरे सभी वंगीय स्वजन मुझसे खुले-खुले मिल सकेंगे।

प्रथम स्वजन—बात तो अच्छी है, दोनो प्रकार से लाभ भी है, किंतु अपने राजाओं से विरोध की बात है, जो धार्मिक भाव से शायद गर्हित हो।

कालिदास—राजा तो आपका अब गुप्त-साम्राज्य प्रायः पचास वर्षों से है। ये लोग तो अब लुटेरे-मात्र हैं, समझे न ?

द्वितीय स्वजन—तब तो यह बात धार्मिक रीति से भी ठीक दिख रही है। कहीं ऐसा तो न होगा, काकाजी ! कि साम्राज्य फिर ढीले-ढाले युद्धकर्ता भेजे, और हमारे ऊपर विपत्ति पड़ जाय ?

कालिदास—ऐसा न होगा बेटाजी ! मैं अब इन दोनो राजवंशों को वंग से बहुत दूर गुप्त-साम्राज्य की पाश्चात्य सीमा पर, यमुनाजी के निकट, बसाऊँगा; इनसे भविष्य में भय का विचार ही न करो। फिर तुम्हारा काम तो गुप्त रूप से होगा। कोई जानेगा ही क्या कि तुमने कुछ किया, वरन् प्रकट में तो तुम उनके सहायक रहोगे। तुम्हारे तो दोनो हाथ मोदक हैं।

प्रथम स्वजन—यह बात तो हम लोगों के ध्यान से ही उतर गई थी।

कालिदास—अच्छा, तो अब तुम दोनो छिपे हुए चले जाओ। किसी से कोई भेद की बात मुँह से न निकले। जितने कार्य हैं, सब अत्यंत सावधानी से युक्ति-पूर्वक हों। यदि उन लोगों की माँगी हुई कोई वस्तुएँ तुम्हें इतर प्रकार से अप्राप्य हों, तो हमारे किसी विश्वस्त भेदिए से कह देना, वह किसी भाँति तुम्हारे पास पहुँचा देगा। जाओ, आज ही से कार्य प्रारंभ कर दो। अनंतर दोनो स्वजन कविवर से उचित सत्कार के पीछे प्रदक्षिणा करके चलते बने। सैनिकों, दूतों, भेदियों आदि की युक्तियों से दोनो शत्रु भूपालों की सेना धीरे-धीरे क्षीण होती गई, तथा दोनो नरेशों के एक के पीछे एक गुप्त स्थान छूटते रहे, यहाँ तक कि कवींद्र के मातृवंशी दोनो स्वजनों की सहायता से एक दिन दोनो शत्रु राजे सकुटुंब तथा समंत्रिवर्ग बंदी होकर कविवर के सम्मुख उपस्थित किए गए। इसी झपेटे में उनकी सारी सेना भी नष्ट-भ्रष्ट हो गई, केवल एक भेदिया महाशक्ति फंदे से निकलकर कुशल-पूर्वक उज्जयिनी पहुँच गया। कविवर ने दोनो बंदी नरेशों का सकुटुंब उचित मान किया, तथा उन्हें उपर्युक्त पाश्चात्य देश को यमुना-कूल पर निवासार्थ भेज दिया। वहाँ देवगुप्त की आज्ञा से उन दोनो के लिये योग्य भुक्ति लगा दी गई, तथा उनका वंग जाना सदा के लिये रोक दिया गया। कथित प्रांतों के बाहर भी वे लोग बिना राजाज्ञा के नहीं जा सकते थे। यह सब प्रबंध कविवर के प्रार्थनानुसार ही किया गया। सहायक स्वजनों का भी उचित मान नियमानुसार हुआ।

इधर कालिदासजी ने प्रत्येक नगर तथा विषय के श्रेष्ठी आदि चारो प्रतिनिधियों अथच प्रति पचीस ग्रामों के प्रतिनिधि-स्वरूप एक-एक महत्तर को बुलवाकर एक बड़ी सभा एकत्र की। उसमें उपरिक,

अनेक विषयपति तथा अन्य योग्य अधिकारियों के साथ पधारकर आपने उनको विविध प्रकार से समझाया, जिन कथनों का सारांश यों था —"आप लोगों में प्रांतिकता के भाव विद्रोहियों द्वारा इतने भरे गए कि बहुतेरे वंग-निवासीगण भारतीयपन का विचार छोड़कर केवल वंगीय होने का अभिमान करने लगे हैं। यों तो हर-एक प्रांत, विषय, वरन् ग्राम तक में इतरों से कुछ-न-कुछ विभिन्नता रहती है, और इसीलिये वृद्धों ने प्रत्येक ग्राम तक को आंतरिक प्रबंध में यथासाध्य पूर्ण स्वतन्त्रता दे रक्खी है। फिर भी समझने की बात है कि यदि सभी ग्राम, अधिष्ठान या प्रांत तक इतरों से पूर्णतया पृथक् अस्तित्व रखना चाहें, तो ग्रामों के एक दूसरे से झगड़ों के कारण विषयों, इनके झमेलों से प्रांतों और इन प्रांतों के झगड़ों से भारत में पूर्ण अव्यवस्था फैली रहे या नहीं? इसके अतिरिक्त परचक्र से रक्षा असंभव हो जाय। अलिकसुंदर के आक्रमण को ही उदाहरणार्थ ले लीजिए। उसने छोटी-छोटी शक्तियों में विभाजित पंजाब को न्यूनाधिक सुगमता-पूर्वक जीत लिया, किंतु भारी मागध साम्राज्य का वह सामना भी न कर सका, यद्यपि मगध के लिये वह समय बहुत करके राज्य-क्रांति का था। यही दशा कुशान-विजय के समय हुई, और उत्तरी भारत में वह विदेशी साम्राज्य स्थापित ही हो गया। ऐसे-ही-ऐसे बहुतेरे उदाहरण भारतीय तथा अन्य देशों के इतिहासों से दिए जा सकते हैं। गुप्त-साम्राज्य ने जो विविध प्रांतों पर अपना प्रभुत्व फैलाया है, वह कार्य शत्रुओं के अनुसार तो स्वार्थ-पूर्ण कहा जाता है, किंतु वास्तव में अव्यवस्था-निराकरण अथच परचक्र से भारतीय संरक्षण का श्लाघ्य प्रबंध है।" इस प्रकार देर तक कविवर द्वारा समझाए जाने पर सभा ने एक स्वर से धन्यवाद देकर गुप्त-साम्राज्यार्थ उच्च जय-जयकार किया। जब कविवर ने देखा कि अब वंग में कोई

अव्यवस्था शेष नहीं, तथा साम्राज्य के गोप्ता एवं इतरों के भी यही मत हुए, तब उचित संख्या में सेना वहाँ छोड़कर शेष दल के साथ आपने अयोध्या के लिये प्रस्थान कर दिया।

बीसवाँ परिच्छेद

साम्राज्य-सभा

वंग-विद्रोह का दमन करके जब कालिदास अयोध्या पहुँचे, तब उन्होंने इतर देशों की ओर भी सफलताएँ पाईं। महाराजा शक्तिसेन गुप्त तथा स्वसेनाओं की सहायता से अपने पाए हुए प्रांतों पर अधिकृत हो चुके थे, वीरसेनजी कालिदास को मिले हुए महाराज्य को जीतकर उस पर कविवर की स्त्री तथा बालक पुत्र का अधिकार पिता की ओर से करा चुके थे, और मालव-वर्मन नरेश से संधि का निश्चय कर चुके थे। उसके नियम यों थे कि वे नरेश साम्राज्य के महाराजाओं में फिर से परिगणित हो जायँ, उनकी रक्षा का भार साम्राज्य पर भी रहे, तथा समय पड़ने पर वह राज्य पचास सहस्र सेना के साथ साम्राज्य की सहायता करे। कालिदास के पहुँचने के पीछे सम्राट् तथा सारे मंत्रिमंडल ने उन्हें पूर्ण उमंग के साथ बधाई दी, अथच मालव-शक्ति से जो संधि हुई थी, वह अमात्य-परिषत् की बैठक में सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुई। अनंतर दोनो ओर से वह अंक-युक्त राज्याज्ञाओं से स्वीकृत तथा दोनो के सांधि-विग्रहिकों द्वारा हस्ताक्षरित होकर दो-दो राजपत्र बनाए गए, जिनमें से एक-एक अपने यहाँ रक्खे जाकर दूसरे द्वितीय शक्ति में भेज दिए गए। चारों शासनों पर दोनो सांधिविग्रहिकों तथा नरेशों के हस्ताक्षर थे। वाकाटक-शक्ति से पहले ही नियम-पूर्वक संधि हो चुकी थी। साल-दो साल के पीछे महाराजा शक्तिसेन का शरीर-पात हो गया, तथा युवराज इंद्रदत्तजी गद्दी पर बैठे। उचित समय पर उनके

सिंहासनारोही होने के उपलक्ष्य में अयोध्या से कालिदासजी, महा-मंत्री, वीरसेन, महाबलाधिकृत तथा महादंडनायक के अतिरिक्त स्वयं महादेवी और देवगुप्त भी शक्तिपुर पधारे। सबों ने इसमें भाग लिया, तथा कुछ काल वहीं रहकर प्रसन्नता-पूर्वक मित्रों के संग मृगयादि का सुख भोगा। अनंतर महाकवि के प्रार्थनानुसार यह पूरी मित्र-मंडली इनके राज्य में पधारकर वहाँ भी कुछ काल पूर्ण सत्कार के साथ रही। अयोध्या वापस आने पर महाराजाधिराज महोदय सवर्ग सुख-पूर्वक रहते रहे। सम्राज्ञी कुबेरनागा की कन्या प्रभावती धीरे-धीरे विवाह योग्य हुई। उधर महादेवी ध्रुवस्वामिनी को दो पुत्र-रत्न प्राप्त हुए, जिनके शुभ नाम कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त रक्खे गए। सम्राट् देवगुप्तजी ने आठ-दस वर्षों तक राज्य का उपभोग करके पुत्री के विवाह का निश्चय किया। सर्व-सम्मति से कुंतलेश वाकाटक-नरेश महाराजा पृथ्वीषेण (प्रथम) के युवराज रुद्रसेन (द्वितीय) के साथ यह पाणिग्रहण दोनो वंशों की पूर्ण प्रसन्नता के साथ संपादित हुआ। अन्य प्रकार से उचित होने के अतिरिक्त इस संबंध में यह भी एक भारी गुण था कि दोनो राजकीय परि-वारों में सदा के लिये अमिट मित्रता स्थापित हो गई, जिससे दोनो घरानों की शक्ति वृद्धिगत हुई। अब देवगुप्त को शक-शक्तियों पर आक्रमण करने में कोई भी अड़चन न रही, क्योंकि एक ओर तो मालव-वर्मन महाराज्य से संधि हो चुकी थी, तथा दूसरी ओर वाकाटक-महाशक्ति से संधि के अतिरिक्त पूर्ण मैत्री स्थापित हो गई थी।

फिर भी शकों को जीतने के लिये प्रयाण करने के पूर्व महाराजा-धिराज देवगुप्त ने अपने राज्य में एक बार महती सभा एकत्र करके प्रजा के दुख-सुख तथा राज्य-संबंधी भाव भी जान लेने का निश्चय

किया। इस विचार से प्रत्येक ग्राम, नगर, अधिष्ठान, भुक्ति आदि को आज्ञापत्र भेजे गए कि जो राजसभा एकत्र होनेवाली थी, उसके लिये अपने-अपने प्रतिनिधि नियत संख्याओं में भेजें, जिसमें ग्रामिक, ग्राम्य महत्तर, नागरिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह, कुलिक, निगम-संचालक, गौल्मिक, शौल्किक, तलवाटक, ध्रुवाधिकरण, विषयपति, उपरिक आदि सभी छोटे-बड़े अधिकारी तथा प्रजावर्ग के लोग प्रतिनिधि-रूप से उचित संख्या में प्रस्तुत हो जायँ। इस आज्ञा के अनुसार प्राय: ५० प्रजावर्ग के अथच इतने ही राजसेवकों के प्रतिनिधि एक महती सभा में एकत्र हुए। मंत्रिमंडल, संबंधियों, राजकुमारों तथा महादेवी के साथ स्वयं परम भट्टारक भी पधारे। सब लोग यथास्थान विराजे, तथा महाराजाधिराज भी सिंहासनारूढ़ हुए। परम भागवत के पधारने के समय प्रतिनर्तक राजविरुदों के साथ सम्राट् के आगमन की घोषणा करता जाता था। सम्राट् के दक्षिण ओर उचित आसनों पर राजकीय सेवक-समाज स्थित था, और वाम पार्श्व में प्रजा के प्रतिनिधि। सम्मुख दर्शकों को स्थान दिया गया। कुछ दर्शक अलिंदों, गवाक्षों आदि में भी स्थित थे। सम्राट् के वाम पार्श्व में सिंहासन पर महादेवी भी विराजमान थीं। महासेनापति, महाबलाध्यक्ष, महासर्वदंडनायक आदि भी मंत्रि-मंडल में सम्मिलित थे। सम्मानित अतिथियों के लिये जो स्थान मान-पूर्वक नियत किया गया था, उसमें साम्राज्य के महासामंत विराजमान थे, जिनमें वर्मन-नरेश, वाकाटक पृथ्वीषेण, इंद्रदत्त, कालिदास आदि भी स्थित थे। सब समाज पूर्ण देखकर महामंत्री महोदय ने परम भागवत के सम्मुख उपस्थित होकर बिनती की—

महामंत्री—परम भट्टारक! राजदरबार उपस्थित है, और कार्य का समय भी आ गया है; क्या आज्ञा होती है? देव!

चंद्रगुप्त—कार्यारंभ हो।

महामंत्री—(सभासदों से) महाशयो ! दरबार का कार्य चलाया जाय; पहले ग्रामों के प्रतिनिधियों की बात हो, अनंतर क्रमशः नगरों, अधिष्ठानों, भुक्तियों आदि के मामले हाथ में लिए जायँ। सबसे पीछे साम्राज्य के आय-व्यय का लेखा आर्य अक्षपटलाधिकृत उपस्थित करेंगे।

एक ग्रामिक—अपने ग्रामों की ओर से मैं निवेदन करता हूँ कि हमारे यहाँ किसी प्रकार की दुर्व्यवस्था नहीं है, देव ! ग्रामिक लोगों को हमारे आयुक्तक लोग उपरिक महोदयों के आज्ञानुसार तो अवश्य नियुक्त करते हैं, किंतु पहले ग्राम्य उदनकूप-परिषत् (पंचायत) का आशय ले लिया जाता है, तथा उसका यथोचित मान भी होता है। ग्राम्य महत्तरों की नियुक्ति में पंचायत के मत का और भी विशेष मान रहता है।

एक ग्राम्य महत्तर—देव ! हम लोग और ग्रामिक मिलकर अपने-अपने उदनकूप-परिषत् की सम्मति से सारे ग्राम्य झगड़ों को पूर्व-क्रमानुसार निबटाते हैं। सारी ग्राम्य बातें पंचायतों तथा हम सेवकों को प्रायः पहले ही से ज्ञात रहती हैं, जिससे ग्राम्य निवासियों के झमेले बढ़ने नहीं पाते, न दीर्घ काल-पर्यंत निर्णयार्थ पड़े ही रहते हैं। सब झगड़े परम शीघ्रता-पूर्वक उचितरीत्या निबटा दिए जाते हैं।

ग्रामिक—यदि कोई बड़ी चोरी आदि हुई, तो चौरोद्धरणिक उचित सहायता दे देते हैं। एक तो ऐसा होता ही कम है, और यदि कभी हुआ भी, तो यथासाध्य पता लग जाता है। चाटों और भटों की करतूतें हम लोगों को कभी-कभी अखरती हैं, किंतु महादंडपाशिक तथा विषयपति महोदयों की उचित कृपा रहने से कष्ट नहीं होता। दंडिकों से काम लेने की बहुत कम आवश्यकता होती है। आज्ञापकगण ठीक-ठीक शासन पहुँचाते हैं।

अक्षपटलाधिकृत—उद्रंग तथा उपरिकर लेने में द्रांगिकों द्वारा कोई अनुचित कष्ट तो नहीं पहुँचता ?

महत्तर—दीनबंधो ! कृषक लोग प्रायः प्रसन्नता-पूर्वक राजकर दे देते हैं। जो धनहीनता अथवा किसी विशेष कारण से पूरा कर देने में असमर्थ होते हैं, उनके साथ न्यूनाधिक कृपा भी हो जाती है। जो कृषक समर्थ होकर भी नहीं देते, उनसे ग्रामिकों, महत्तरों, पंचों आदि की सहायता से नियमानुसार लिया जाता है।

अक्षपटलाधिकृत—प्रमातृ, सीमाप्रदातृ, तलवाटक आदि के कार्य तो नियम-पूर्वक चलते हैं न ?

ग्रामिक—हम लोगों के ग्राम-निवासी झगड़े नहीं करते, जिससे इन अधिकारियों को उपद्रव करने का अवसर भी कम मिलता है। कार्य चलता भी धर्म-पूर्वक है।

अक्षपटलाधिकृत—किसी आयुक्तक को बतलाना चाहिए कि पुस्तपाल, अक्षपटलिक, करणिक और कायस्थ लोग तो अपने-अपने कार्यों में सन्नद्ध रहते हैं, तथा कर्तृयों के कार्य कौशल-पूर्वक हो रहे हैं या नहीं ?

एक आयुक्तक—ये काम बराबर चल रहे हैं। न्यायाधिकरणों तथा ध्रुवाधिकरणों द्वारा निरीक्षण भी होता रहता है। उपरिक महाराजों के अनुगामी अधिकारीगण भी इन बातों पर विशेष ध्यान रखते हैं।

अक्षपटलाधिकृत—किसी ग्राम्य प्रतिनिधि को कुछ और निवेदन करना हो, तो प्रसन्नता-पूर्वक कहे।

एक महत्तर—अब और कोई निवेदन शेष नहीं। हम सब लोग बहुत प्रसन्न हैं।

अक्षपटलाधिकृत—आशा है कि हमारे द्रांगिकों से नागरिक अप्रसन्न न होंगे।

एक नागरिक—यथासाध्य इन अधिकारियों की कृपा हम लोगों

पर रहती है, आर्य ! जब कभी कोई कष्ट होता है, तब विषय-पतियों तथा उच्चतर अधिकारियों के यहाँ से सुनवाई हो जाती है।

अक्षपटलाधिकृत—अब विषयों की बारी आती है।

एक कुलिक—हम लोगों की सम्मति विषयपति महोदय मुख्य-मुख्य मामलों में लेते ही रहते हैं। जब कभी हमें कुछ निवेदन करना होता है, तब भी समय मिल जाता है। निगमों के द्वारा बनिज-व्यापार बहुत श्रेष्ठ चल रहा है। बड़े सम्राट् के समय में सैनिकों का विशेष मान था। अब विद्वानों का भी वैसा ही होने लगा है, जिससे हमारा प्राचीन वाङ्मय भी अच्छी उन्नति कर रहा है।

अग्रहारिक—विद्योन्नति तो ऐसी हो रही है कि अपने जितने प्राचीन ग्रंथ समय के साथ विस्मृत होकर छितर गए थे, वे भी नव-संपादन द्वारा पूर्णता से प्रस्तुत हो रहे हैं। आशा है, इस कार्य से यह स्वर्णिम समय भविष्य में भी सदैव मान-पूर्वक स्मरण किया जायगा। इसी के साथ कलाकौशल की भी अच्छी-से-अच्छी उन्नति हुई है।

महामंत्री—धन्य अग्रहारिकजी ! आपके कथन में बहुत कुछ सार है। औरों की कौन कहे, अकेले महाकवि कालिदास के प्रसाद से हमारे समय का सदैव गुण-गान होगा, ऐसी आशा है।

सम्राट्—इन महाकवि की कृपा से यह समय ही क्या, शायद हम लोग भी भविष्य की स्मृति में मान पावें।

कालिदास—अपनी आदरणीय रचनाओं का कुछ भी कथन किए बिना मेरे द्वारा देव ने जो भविष्य में आदर का कथन किया है, वह सिवा महान् कृपा के और क्या कहा जा सकता है? देव की शासन-प्रणाली का सबसे बड़ा प्रसाद यह है कि सारे देशीय सज्जन धन-धान्य-पूर्ण हो रहे हैं।

एक नगर-श्रेष्ठी—महाकवि के इस कथन का मैं पूर्ण सत्कार के

साथ समर्थन करता हूँ। बनिज-व्यापार निर्विघ्न चल रहा है, कारीगरी की पूर्ण उन्नति है, तथा ऐसे-ऐसे भारी लौह-स्तंभ तक बन रहे हैं, जो भारत में पहले कभी न बनते थे। (सारी सभा हर्ष-ध्वनि के साथ सम्राट् का जयकार करती है।)

महामंत्री—मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई कि आज इस महती सभा में सारे भारतीयों ने अपना किसी भारी कष्ट में होना न कहकर प्रसन्नता का ही कथन किया है। अब परम भट्टारक परमेश्वर के आज्ञानुसार मैं आर्य अक्षपटलाधिकृत महोदय से प्रार्थना करता हूँ कि साम्राज्य के आय-व्यय का अनुमान-पत्र सभा के सम्मुख उपस्थित करें। यह संवत् ७८ से संबद्ध है।

अक्षपटलाधिकृत—जो आज्ञा।

अनुमान-पत्र इस राजसभा के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। इसकी प्रतिलिपियाँ माननीय सदस्यों में पहले ही से वितरित हो चुकी हैं। संख्याएँ लक्ष सुवर्णों में कही जाती हैं—

(आय-जोड़ २००)		(व्यय २००)	
(१) भूमि-कर	१००	(१) सेना	६०
(२) निर्यात-कर	२०	(२) निजू	१०
(३) मादक द्रव्यों पर कर	७	(३) राजकीय आवश्यकताएँ	५
(४) वन-विभाग	२५		
(५) पत्रवाहन	१०	(४) दंडपाशिक-विभाग	४
(६) वाहक-विभाग	५	(५) राज्यप्रासाद, मार्ग-सरोवर आदि	१०
(७) अधीनस्थ राजकर	२०		
(८) न्याय	४	(६) शिक्षा	१०
(९) उपवन	१	(७) स्वास्थ्य	५
(१०) शिक्षा	२		
(११) स्फुट	६		

(व्यय २००)	
(८) कृषि	१०
(९) न्याय	२॥
(१०) अंतरराष्ट्रीय	४
(११) नगर-प्रबंध	४
(१२) कारागार	½
(१३) वन-विभाग	३
(१४) उपवन	२
(१५) निर्यातायात	१
(१६) मादक	½
(१७) सत्कारालय	६॥
(१८) पत्र-वाहक	१०
(१९) वाहक	५

(व्यय २००)	
(२०) वाहन	१०
(२१) खेल-तमाशे	३
(२२) त्योहार,मेले आदि	३
(२३) धार्मिक	४
(२४) पारितोषिक	३
(२५) अचानक तथा स्फुट	५
(२६) अदृष्ट पूर्व के लिये बचत	१९
जोड़	२००

सज्जनो ! अब इसके विषय में कुछ विशेष बातों की विवेचना करनी है । निर्यातायात का मुख्य प्रबंध शौल्किकों पर चलता है । वन-विभाग में गोचर, चर्म, कोयला, इतर खान आदि भी सम्मिलित हैं । निम्न भागों में यह प्रबंध गौल्मिकों पर निर्भर है । अधीनस्थ राज्यों तथा महाराज्यों से कुछ से ही कर आता है, सबसे नहीं । राजकीय कर-विभाग में मुख्यता भूमि-कर की है ही । उपज का जो भाग सनातन से लिया जाता था, वे ही नियम विना परिवर्तन के अब भी चल रहे हैं । आय-कर के विषय में कुछ मंत्रियों का विचार था, किंतु परम भट्टारक ने किसी आर्थिक संकट के अभाव में इसकी आवश्यकता नहीं मानी है ।

व्यय-विभाग में सेना की मुख्यता है, क्योंकि इसके विना साम्राज्य की स्थिति ही दल चलदल हो सकती है, तथा प्रजा में धन-जन की रक्षा अशक्य हो जायगी । राजकीय आवश्यकताओं से

राज्य का मान रहता है, और यह व्यय अनिवार्य है भी। आवश्यकतानुसार शिक्षा-विभाग में अधिकाधिक व्यय बढ़ाने की इच्छा श्रीजूदेव की है। यही दशा स्वास्थ्य-विभाग की समझिए। कृषि पर व्यय सब प्रकार से प्रजा को हितकर है। कारागार का प्रयोग ईश्वरीय कृपा तथा प्रबंध-पटुता से कम है। मादक आय-व्यय दोनो को हम लोग घटाना चाहते हैं, किंतु वहीं तक कि देश में सुरादि का अवैध व्यवहार न बढ़ जाय। वाहक-विभाग से राज्य को कोई हानि-लाभ नहीं, वह केवल प्रजा के सुविधार्थ स्थापित है। पत्र-वाहक-विभाग में आय देखने-भर को विशेष है, किंतु व्यय भी इसका उसी के समान है, केवल उसका पड़ता अन्य विभागों के पत्र-वाहक कार्यों से कुछ विशेष कट जाता है। प्रजा के संबंध में साम्राज्य को इससे भी हानि-लाभ नहीं। पारितोषिक विशेषतया विद्वानों और गुणियों को दिया जाता है, जिससे इसका भी बृहदंश शिक्षा-विभाग का व्यय समझा जा सकता है। त्योहारों, मेलों आदि के व्यय से प्रजा को भी पूरा कुतूहल होता है। उपर्युक्त आय-व्यय के अतिरिक्त पचास-पचास लक्ष दीनारों की आय तथा व्यय केवल हिसाबी है, वास्तविक नहीं। लोग जो जमा करते हैं, वही उनको लौटा दिया जाता है। अब इस अनुमान-पत्र के विषय में आप सज्जनों की सम्मतियाँ वांछनीय हैं। मैं केवल दो-चार बातें और कह देना चाहता हूँ।

भूमि-कर पूर्ण आय का अर्धांश है। आशा है कि देशोन्नति के साथ निर्यातायात की आय बहुत कुछ बढ़ जायगी, और तब भूमि-कर का पड़ता कुछ घट जायगा। न्याय-विभाग की आय देखने में कुछ अधिक प्रतीत होती है। इसका कारण अर्थ-दंड का आनुषंगिक आधिक्य है। जो लोग सुगमता-पूर्वक अर्थ-दंड दे सकते हैं, वे कारागार जाना न तो चाहते हैं न साधारण अभियोगों में राज्य

की ओर से भी ऐसा होना आवश्यक समझा जाता है। राजकीय निजू व्यय आय पर प्रतिशत केवल पाँच है, यद्यपि अर्थशास्त्री दश प्रतिशत-पर्यंत उचित मानते हैं। ज्यों ही संभव होगा, इसे और घटाने की इच्छा परम भट्टारक की है। अब अन्य सदस्य महोदय विशेषतया प्रजा के प्रतिनिधि लोग जो कहना चाहें, उस पर विचार किया जायगा।

ध्रुवदेवी—सम्राज्ञी कुबेरनागा की तथा अपनी ओर से मैं यह सम्मति प्रकट करती हूँ कि यथासाध्य दूसरे ही वर्ष से राजकीय निजू व्यय और भी घटाने का प्रयत्न होना चाहिए।

एक श्रेष्ठी—श्रीमहादेवीजी महोदया से क्षमा का प्रार्थी होकर मैं बिनती करूँगा कि इस विभाग का व्यय अब और न घटे। अन्य राज्यों में आय का दस से बीस प्रतिशत-पर्यंत यह सुना गया है।

कुलिक—फिर इस विभाग में जो व्यय होता है, उसका बृहदंश भी तो पलटकर हमीं लोगों को अनेकानेक प्रकारों से मिलता है। स्वयं देव अथवा देवियाँ इसमें ले ही क्या लेती हैं?

एक महत्तर—मैं बिनती करता हूँ, देव! कि जिस ग्राम में ३०० तक जन-संख्या हो, उसमें यथासंभव एक छोटी पाठशाला अवश्य हो, जिससे शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार बढ़े।

अक्षपटलाधिकृत—इसका कथन मैं अपने भाषण में पहले ही कर चुका हूँ। इस प्रार्थना को साम्राज्य स्वीकार करता है। छात्रों का जुटाना आप लोगों का काम है।

एक सार्थवाह—क्या मैं बिनती कर सकता हूँ कि पक्के राजमार्गों, मार्गस्थ कूपों तथा धर्मशालाओं एवं चिकित्सालयों की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया जाय?

अक्षपटलाधिकृत—इसका प्रचार साम्राज्य यथासाध्य बढ़ावेगा।

एक ग्रामिक—यदि संभव हो, तो सेतु-वार्ता के लिये बंधियों और तड़ागों की वृद्धि की जाय।

एक वणिक—इसकी विशेष आवश्यकता मेरे देश जेजाकभुक्ति में है, जहाँ प्रबंध भी कई वर्षों से हो रहा है। बंधियाँ बहुतेरे प्रांतों में हो भी नहीं सकतीं।

एक विषयपति—क्या सेना की संख्या बतलाई जा सकती है?

महाबलाधिकृत—दो लक्ष सैनिक मूल में हैं, और एक लक्ष प्रांतों तथा अंतों में। ५०० युद्धकर्ता हाथी हैं, तथा अर्द्ध लक्ष घोड़े। सामंतों की सेना इसके अतिरिक्त है।

महामंत्री—मुझे परम प्रसन्नता इस बात की है कि जो-जो विनतियाँ आप लोगों ने की हैं, उन सब पर परम भट्टारक परमेश्वर का ध्यान पहले ही से जा चुका है, और मुझे एतदर्थ आज्ञाएँ भी हो चुकी हैं।

एक श्रेष्ठी—वास्तविक बात तो यों है कि हमारे महाराजाधिराज महोदय हम लोगों के हितार्थ सदैव ऐसे जागरूक रहते हैं कि हमें कुछ विनती करने की आवश्यकता नहीं होती। हम लोग तो ऐसा समझते हैं, मानो मनु या राम-राज्य भारत में फिर से आ गया है।

अक्षपटलाधिकृत—यदि किसी सज्जन को कुछ और कहना हो, तो कह सकते हैं।

कई सदस्य—अब हमारी कोई विनती शेष नहीं है।

महादेवी—मुझे इस दरबार में सम्मिलित होने से पूर्ण प्रसन्नता हुई है।

चंद्रगुप्त—प्यारे सज्जनो! आप लोगों के हार्दिक संतोष से मैं अत्यंत सुखी हुआ हूँ। आशा है कि मेरा प्रजावर्ग इसी भाँति सदैव

प्रसन्न रहकर अधिकाधिक उन्नति करेगा। (सभा हर्ष-ध्व निकरती है। जय-जयकार की तुमुल ध्वनि के साथ दरबार समाप्त होता है।)

इक्कीसवाँ परिच्छेद

उज्जयिनी-पराभव

देवगुप्त महोदय की गोप्य राजसभा में आज उनके अतिरिक्त महादेवीजी, इंद्रदत्त, कालिदास, मालवीय नरेश, वाकाटक-नरेश, पृथ्वीषेण, वीरसेन, कृतांत, महामंत्री तथा अक्षपटलाधिकृत सुशोभित थे। भारतीय राजमंडल का प्रश्न सामने था। देवगुप्त महोदय ने निम्नांकित भाषण के साथ यह विषय चलाया।

चंद्रगुप्त—प्रिय महोदयो! आज एक बड़े ही गहन प्रश्न पर आप सबको कष्ट दिया गया है। सभ्यतानुसार हमारे प्रिय भारत देश के आजदिन तीन प्राकृतिक विभाग-से हो रहे हैं, अर्थात्, उत्तरी, मध्य तथा पाश्चात्य, और ठेठ दक्षिण। नर्मदा और कृष्णा नदियाँ बहुत करके इन विभागों की सीमाएँ हैं। कृष्णा के दक्षिण ठेठ दक्षिण की संज्ञा होनी चाहिए। वहाँ अभी तक आर्य-सभ्यता की पूर्णता नहीं है, वरन् यों कह सकते हैं कि वह देश अद्यपर्यंत आदिम संस्कृति-मूलक है। फिर भी विविध शासक-घरानों द्वारा वहाँ आर्य-संस्कृति धीरे-धीरे फैल रही है। इस श्लाघ्य प्रयत्न में सबसे विशेष हाथ महाभारतकालीन द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा के वंशधर पल्लव नरेशों का है। साम्राज्य-विस्तार के विचार से शीघ्रता में पूज्य पितृचरण ने पल्लव नरेश विष्णुगोप को पराजित तो कर दिया, किंतु आर्य-सभ्यता के पोषण और परिवर्द्धनवाले उनके महाप्रयत्न को देखते हुए मेरी सम्मति में गुप्त-साम्राज्य को उन्हें दबाने का प्रयत्न भविष्य में न करना चाहिए। यदि उन्हें स्ववश

रखने या करने में हम सफल हों, तो भी विशेष दूरी के कारण उस ओर हमारा सांस्कृतिक प्रभाव उतना न पड़ेगा, जितना धीरे-धीरे पल्लवों का पड़ रहा है। जब अपने को प्रिय संबंधी पृथ्वीषेणजी से प्रेम-पूर्ण व्यवहार रखना है, और पल्लव वाकाटकों के सगोत्री तथा साथी हैं ही, तब यों भी उनसे ऐसा ही आचरण योग्य है। आर्य-सभ्यता की जैसी प्रकृष्ट उन्नति दक्षिणपथ में वाकाटकों द्वारा हुई और हो रही है, उसी से कुछ-कुछ मिलती-जुलती दशा ठेठ दक्षिण में पल्लवों की है।

पृथ्वीषेण—धन्य मित्रवर, धन्य! आपसे ऐसे ही विचारों की आशा थी, और है।

चंद्रगुप्त—बड़ी कृपा। अब मैं अपने विषय को फिर से उठाता हूँ।

कालिदास—अवश्य।

चंद्रगुप्त—इन कारणों से वर्तमान परिस्थिति के अनुसार अपने को ठेठ दक्षिणी भारत से विजय-लालसा-पूर्ण संबंध बढ़ाना योग्य नहीं। उत्तरी भारत में कामरूप और लौहित्य से लेकर यमुना-पर्यंत तो कोई प्रश्न ही शेष नहीं; हाँ, पंजाब का प्रश्न था, जिस पर बहुत कुछ हाथ बढ़ चुका है, और शेष पर अधिकार अति शीघ्र होनेवाला है; साल ही दो साल की बात रह गई है। उसमें मद्रक, यौधेय आदि जितने प्रजातंत्र राज्य हैं, उन पर कोई दबाव न डाला जायगा। कुशानों आदि के शेष देश या तो मिल चुके हैं, या शीघ्र मिलेंगे। इस बात में कोई विशेष प्रयत्न आवश्यक नहीं है। अब केवल मध्य और पाश्चात्य भारत की बात रह जाती है, जहाँ दोनो शक-राज्यों को छोड़कर आर्य-सभ्यता की गरिमा अक्षुण्ण हो रही है। इन दोनो शक-शक्तियों ने पितृचरण के पीछे इस साम्राज्य को जैसा धक्का लगाया, तथा असह्य अपमान करना चाहा, वह

सब पर विदित ही है। इसके अतिरिक्त केवल अपमान-निवारण तथा राज्य-लोभ का विचार न होकर यह मुख्यतया आर्य-संस्कृति का प्रश्न है। शक लोग रोटी-बेटी के संबंधों से तो भारतीय सभ्यता में पूर्णतया घुल-मिल चुके हैं, किंतु अपना विदेशीपन तो भी नहीं छोड़ते। प्रायः पाँच सै वर्षों से इनका न्यूनाधिक भारतीय संबंध है, किंतु अब भी ये अपने को सीधे-सीधे हिंदू न कहकर कहते शक ही हैं। भारतीय राज्य-संबंधी विरुद तो धारण कर चुके हैं, किंतु साधारणतया अपने को क्षत्रप या महाक्षत्रप ही कहा जाना पसंद करते हैं। इनकी विचार-धारा भी भारतीय महाराजाधिराजाओं से कभी न मिलकर शक-साम्राज्य स्थापित करने की ही रहती है। मेरी भावना ऐसी है कि आर्य नरेशों को एक बार दृढ़ प्रयत्न करके यह काँटा अपनी संस्कृति तथा अंतरराष्ट्रीय भ्रातृत्व से निकाल डालना चाहिए। मुझे इनसे कोई व्यक्तिगत द्रोह नहीं, केवल इतनी आकांक्षा है कि इनमें से जितने लोग अपने को शक ही कहना चाहें, वे भारत छोड़कर शक-स्थान चले जायँ, और जो शुद्ध भारतीय बनना चाहें, वे यह विदेशी नाम तथा विचार-धारा तजकर तन-मन-धन से यहीं के होकर रहें। मैं आप महाशयों से प्रार्थना करता हूँ कि इस विषय पर निःसंकोच भाव से अपनी-अपनी सम्मति प्रदान करने की कृपा करें।

मालव नरेश—यह विषय तो देव! ऐसा प्रकट है कि मतभेद संभव दिखता ही नहीं। चाहते इसे सभी आर्य शासक हैं, केवल शक्याशक्य का प्रश्न रह जाता है। जब स्वयं परम भट्टारक शकारि बनकर दृढ़ता-पूर्वक इसे सपादित करना चाहते हैं, तब हम लोगों को सहयोग-प्रदान में क्या आपत्ति हो सकती है? सन्धियों के निबंध ऐसे हैं कि न चाहते हुए भी हमें साम्राज्य के साथ खड़े होना चाहिए। इधर यह विषय ऐसा रुचिकर है कि निबंधों को

छोड़कर भी सबको पूर्णतया सुखद दिखता है। मालव शक्ति इस आरभ में पूर्ण सहायता देने को सहर्ष प्रस्तुत है।

इंद्रदत्त—वाह मालवेशजी, वाह! जिस दिन साम्राज्य पर इन क्रूर नरेशों द्वारा संकट उपस्थित किया गया था, उसी दिन से इन्हें निर्मूल करने का निश्चय हो चुका था। जो अष्टादश वर्ष इधर बीत गए हैं, वह समय हम लोगों ने शक्ति-सगठन में लगाया है। मैं समझता हूँ कि अब इस आरंभ के उठाने का समय आ गया है। मैं तो शक्तिपुराधीश होने के अतिरिक्त साम्राज्य का अवैतनिक मुख्य कार्य-मंत्री भी हूँ, जिससे मुझ पर देव की आज्ञाएँ भी बाध्य हैं।

कालिदास—वह बात तो मंत्री के रूप में है, न कि महाराजा के। तो भी हम दोनो को इस गहन विषय से पूर्ण मतैक्य तथा सौहार्द है। हम लोग तो इस प्रबंध से न केवल सहमत हैं, वरन् परम भट्टारक को इसके लिये उत्तेजित भी करने के पक्ष में हैं। हम आपको शकारि की उपाधि धारण कराने में सबसे अधिक प्रसन्न होंगे।

पृथ्वीपेण—हमारी वाकाटक-शक्ति से तो उज्जयिनी का कोई घोर विरोध कभी हुआ नहीं, किंतु स्वर्गवासी सिंहसेनजी ने गुप्त-साम्राज्य से ऐसा कठोर व्यवहार किया था कि मुझे भी उनके प्रतिकूल सेन-सधान उचित जँचा। भारतीय संस्कृति-वृद्धि के विषय में जो देव की आज्ञा हुई है, वह भी शत मुख से सराहनीय है। मैं भी इस उद्योग में योग देने का पूर्ण उत्साह रखता हूँ।

चंद्रगुप्त—धन्य महोदयो! आप महाशयों की पूर्ण सन्नद्धता से मेरा उत्साह चतुर्गुणित हो गया है। आशा सबों से ऐसी ही थी भी। सन्नद्धता उससे भी विशेष देख पड़ी।

महादेवी—इन वन्य जंतुओं ने स्वयं मुझ पर जो अत्याचा रकरना

चाहा था, उसे देखते हुए मैं तो यही कहूँगी कि बदला लेने का कार्य जो इतने दिनों तक स्थगित रहा है, वह भी अनुचित बात थी। फिर भी शक्याशक्य का प्रश्न लगा ही रहता है। आशा है, अब आप लोग उस अपमान का पूरा बदला लेने में शीघ्र समर्थ होंगे।

चंद्रगुप्त—बदला तो, देवि! लिया ही जा चुका है।

कालिदास—महादेवी महोदया का कथन पूर्ण प्रतिशोध का है, देव!

चंद्रगुप्त—(हँसकर) इतना भी समझाने की शायद आवश्यकता थी।

कालिदास—(हँसकर) इसीलिये तो ऐसा प्रयत्न किया गया।

महामंत्री—बदला अवश्य लिया गया है, किंतु शक-शक्ति जब तक निःशेष नहीं होती, तब तक महादेवीजी तो दूर रहीं, हमीं लोगों को संतोष नहीं हो सकता।

चंद्रगुप्त—(अक्षपटलाधिकृत से) कोष तो अपना परिपूर्ण है ही, आप क्या कहते हैं?

अक्षपटलाधिकृत—राज्य-कोष आक्रमणार्थ पूर्णतया संपन्न है, देव!

महाबलाधिकृत—तब फिर सैन्य-संचालन तथा नियोजन पर विचार क्यों न किया जाय?

इंद्रदत्त—अवश्य कीजिए। पहला प्रश्न यही है कि राजधानी में रक्षक कौन रहेगा?

कालिदास—यद्यपि कृतांतजी की सहायता का काम पड़ेगा युद्ध-स्थल में भी, तथापि मैं समझता हूँ कि इनके-से अनुभवी महासेनापति की मूलरक्षणार्थ विशेष आवश्यकता है।

महाबलाधिकृत—यह महत्ता-पूर्ण विश्वास मुझे तो अखर जायगा।

चंद्रगुप्त—किसी अनुभवी सैन्येश को युद्ध-स्थल पर जाने का उत्साह स्वाभाविक रीति से होगा ही ; तो भी, आर्य ! आपको मूल का भी ध्यान छोड़ना न चाहिए।

महाबलाधिकृत—जो आज्ञा, देव !

चंद्रगुप्त—मैं समझता हूँ कि मंत्रिपरिषत् में से केवल महामंत्रीजी तथा वीरसेनजी चलें। इंद्रदत्तजी तथा कविवर महाराजाओं के रूप में अपनी-अपनी सेनाओं का नेतृत्व करेंगे ही।

कालिदास—मेरी सेना पचीस सहस्र चलेगी, देव !

चंद्रगुप्त—ठीक ही है; शेष दल के साथ आपके युवराज महाराज्य-रक्षणार्थ रह जायँगे। (इंद्रदत्त से) अच्छा, आपकी क्या इच्छा है, भाईजी !

इंद्रदत्त—मैं पचास सहस्र सेना ले चलूँगा, और अपने युवराज को राज्य-रक्षणार्थ शेष दल के साथ छोड़ जाऊँगा।

कालिदास—तब फिर मैं निवेदन करूँगा कि एक लक्ष सेना मूल में रहे, तथा शेष लक्ष आक्रमण को चले। महासेनापति इसके लिये वीरसेनजी नियत हों। आक्रमणार्थ दल-नियुक्ति का विचार पहले वही प्रकट करें।

वीरसेन—मैं समझता हूँ कि पहले शक्तिपुर की सेना नर्मदा-स्थित राजकीय दल के साथ उस नदी को पार करके शत्रु से न्यूनाधिक छेड़छाड़ आरंभ करे। तब तक शेष सेना भी पहुँचकर उस नदी के पार हो जाय। पचास सहस्र मालव-दल उज्जयिनी के पूर्वी और पूर्वी-दक्षिणी कोण पर लगे, तथा वाकाटकीय इतनी ही सेना पाश्चात्य तथा पश्चिमी-दक्षिणी कोने को साधे। जब इधर शक्तिपुर की सेना नर्मदा पार करे, तभी ये दोनो सेनाएँ उधर उन दिशाओं से आक्रमणारंभ कर दें। जब तक शक-दल इन तीनो प्रबल शत्रुओं के सामना की युक्ति बाँधे, तब तक अपनी मुख्य सेना भी उत्तर की

ओर से घोर युद्ध आरंभ करे। उज्जयिनी में कई दुर्ग भी हैं, जिनमें दो प्रधान हैं, एक मूलस्थ और दूसरा मालवे की ओर। जब अपनी मूलस्थ सेना नर्मदा पार कर जाय, तब शक्तिपुर का अर्द्ध लक्ष दल इस दुर्ग के तोड़ने में मालव पूर्वी दल की सहायता करे। अभी तो ऐसी युद्ध-नीति ध्यान में आती है।

कालिदास—समझ तो ठीक पड़ रही है।

चंद्रगुप्त—एक यह भी लाभ होगा कि कालिदासजी मेरे ही साथ रहकर युद्ध और साहित्य, दोनो का स्वाद दिखलावेंगे।

कालिदास—मैं तो साहित्य पर ही ध्यान रक्खूँगा, दोनो दलों का नियंत्रण वीरसेनजी करेंगे।

वीरसेन—शायद उपमाओं के ही बल पर आपने वंग-विजय किया होगा। (सब लोग हँसते हैं।)

चंद्रगुप्त—तब दिखता ऐसा है कि प्रारंभ के लिये इसी विचार के अनुसार सैन्य-नियोजन किया जाय, आगे जैसी परिस्थिति होगी, वैसा संचालन भी समय-समय पर परिवर्तित होता रहेगा।

इस प्रकार परामर्श करके सम्राट् ने यह गोप्य सभा समाप्त की, और सेनाओं के प्रबंध होने लगे। संचालन के विविध समय नियत हो गए, और उन्हीं के अनुसार कार्यारंभ हो चला। शक्तिपुर की सेना निर्विघ्न नर्मदा पार हो गई। पीछे आनेवाले मूलस्थ तथा अन्य दलों के लिये उस नदी के नाके बँधे रहे। मालव और वाकाटक-दल भी यथासमय अपने-अपने स्थानों पर पहुँच गए। शकों को इस आक्रमण की सूचना दूतों द्वारा मिली, और तीनो ओर से शत्रु की गति रोकने के लिये तीस-तीस सहस्र सेनाएँ भेजी गईं। शकों से शांति-भंग न होने के अभिप्राय से मालव तथा वाकाटक-नरेशों के पास राजदूत भी गए, किंतु कोई फल न निकला। उन महाराजाओं ने संधियोंवाले नियमों के कथन करके अपनी-अपनी

अशक्तता प्रकट कर दी, तथा सम्राट् के अधीन युद्ध अथवा शांति का प्रश्न होना बतलाया। छोटे-छोटे साधारण दुर्ग इन तीनो सेनाओं ने सुगमता-पूर्वक स्ववश कर लिए, और जब तक शक-शक्ति पूर्णतया सन्नद्ध हो, उसके पूर्व ही मालव-राज्य की ओरवाले महादुर्ग पर भी अचानक आक्रमण करके शक्तिपुर और मालव-सेनाओं ने उसे स्ववश करके उस पर साम्राज्य के दल का अधिकार करा दिया। यह दशा सुनकर उज्जयिनी-नरेश को बड़ा धक्का लगा, किंतु कर ही क्या सकते थे? केवल अपनी सन्नद्धता की कमीवाली भूल पर शोक मनाते रहे। उधर कालिदासवाली तथा साम्राज्य की नियत मूल सेना भी जाकर नर्मदा पार हो गई। शीघ्रता-पूर्वक आगे बढ़कर इसने उज्जयिनी के महागढ को घेरने का प्रबंध किया। उधर मालव और वाकाटक दलों के दबाव से जो शक-दल उनसे लड़ने को गया था, वह भी उज्जयिनी में पलट आया। इस प्रकार क्षत्रप की सारी सेना वहीं एकत्र हो गई, और सम्राट् देवगुप्त ने बढकर चारों ओर से उसे घेर लिया। अब उज्जयिनी की ओर से महाशक्तिजी राजदूत बनकर गुप्त-सभा में उपस्थित हुए। उनके आने का समाचार तथा आशय सुनकर सम्राट् महोदय ने मुख्य मंत्रियों को जोड़कर शक-दूत का दरबार नियमानुसार कराया। बात यों होने लगी—

चंद्रगुप्त—कहिए, महाशक्तिजी! आप प्रसन्न तो हैं? और क्षत्रप महोदय कुशल-मंगल से हैं न?

महाशक्ति—देव के अनुग्रह से स्वामी-सहित हम सब लोग सुखी हैं। आशा है, परम भट्टारक महोदय सपरिवार तथा सवर्ग प्रसन्न होंगे।

महामंत्री—ईश्वर की कृपा से अयोध्या में सब कुशल-मंगल है। आशा है, आप आगमन-हेतु बतलाकर इस दरबार को बाधित करेंगे।

महाशक्ति—हमारे क्षत्रप महोदय को यह पूछना है कि विना किसी झगड़े तथा सूचना के साम्राज्य ने उज्जयिनी पर किस कारण यह अचानक आक्रमण किया है ? अंतरराष्ट्रीय नियमों के अनुसार क्या साम्राज्य ऐसी आकस्मिक कार्यवाहियों को नियमानुकूल समझता है ?

महामंत्री—मित्र शक्तियों में ऐसी बात न होनी चाहिए, ऐसा परम भट्टारक मानते हैं ही, किंतु इतना समझना योग्य है कि जब से उज्जयिनी ने गुप्त-संवत् ६० के निकट अयोध्या पर निष्कारण आक्रमण किया, तब से इन दोनो शक्तियों में न तो कोई संधि हुई, न मित्र-भाव पुनः स्थिर हुआ है। राजनीतिक दृष्टि से इन दोनो में अब भी शांति स्थापित नहीं है।

महाशक्ति—जब प्राय: १८ साल से संग्राम समाप्त है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि युद्ध अब भी चल रहा है ?

महामंत्री—एक बार शांति भंग होने से विना संधि के मैत्री का पुनः स्थापन ही कैसे माना जा सकता है ? यदि उज्जयिनी को साम्राज्य से मित्रता वांछनीय थी, तो दूत भेजकर संधि का उपचार आवश्यक था। विना इस बात के हुए केवल युद्ध रुके रहने से मैत्री का पुन स्थापन नहीं कहा जा सकता।

महाशक्ति—क्या महाराजाधिराज महोदय का भी यही मत है ?

चन्द्रगुप्त—मुझे भी यह बात स्वयंसिद्ध समझ पड़ती है।

महाशक्ति—इस राजनीतिक प्रश्न को मतभेद होते हुए भी यहीं छोड़कर मैं प्रार्थना करता हूँ कि क्या अब संधि हो सकती है; यदि हाँ, तो किन नियमों पर ?

कालिदास—आपको जानना चाहिए महाशक्तिजी ! कि परम भट्टारक की स्वर्गवासी महाक्षत्रपजी से न केवल राजनीतिक, वरन्

ढीली मित्रता भी थी। इसी के आधार पर स्वयं मैंने उज्जयिनी आकर बहुत विनय-पूर्वक प्रार्थनाएँ की थीं, किंतु स्वर्गवासी महा-क्षत्रप महोदय को अयोध्या की कल्पित निर्बलता का ऐसा निश्चय हो गया था कि मेरे कथन अरण्य-रोदन-मात्र हो गए।

महामंत्री—फिर हमारे गत महाबलाधिकृत की मूर्खता से एक बार विजय पाने पर उन्होंने ऐसे मान-हानिकारी नियम मनवाने चाहे, जिनसे शताब्दियों-पर्यंत यह साम्राज्य संसार को मुख दिखलाने योग्य भी न रहता। बल-दर्प से किसी विजित, मानी सम्राट् का ऐसा घोर निरादर करने की इच्छा प्रकट होने से ऐसी शक्तियों में दशाब्दियों-पर्यंत न मिटनेवाली शत्रुता का स्थापित हो जाना स्वाभाविक ही है। हमारे परमभट्टारक परमेश्वर संधि करनी भी चाहते, तो महादेवी महोदया के कारण न कर सकते।

महाशक्ति—इस बात से उज्जयिनी बहुत लज्जित है। वास्तव में यह भी एक मुख्य बात थी, जिसके कारण हम लोग संधि की प्रार्थना यथासमय न कर सके। इसलिये यह राज्य करबद्ध क्षमा की प्रार्थना करता है। फिर इतना भी समझने की बात है कि यह आकांक्षा स्वर्गवासी महाक्षत्रप की एक निज दुर्बलता थी, जिसके लिये सारा उज्जयिनी-राज्य सदा के लिये दूषित, कलुषित अथवा दंडित न होना चाहिए। जैसा अनुचित क्या, लज्जा-जनक व्यवहार उन्होंने किया, उसका फल भी हाथोहाथ पाया। उसी के साथ डेढ़ लक्ष सेना भी गई। आशा है, अब वह लज्जास्पद ढीली मामला भूलकर साम्राज्य उज्जयिनी से योग्य नियमों पर संधि कर लेगा। हमारे क्षत्रप महोदय युद्ध से पीछे नहीं हटते, किंतु ऐसे अयोग्य कारण को लेकर लड़ने के स्थान पर क्षमा-प्रार्थना ही यशोवर्द्धिनी मानते हैं।

कालिदास—वास्तविक बात यह है कि जैसे भगवान् रामचंद्र ने

"निशिचर-हीन करौं महि, भुज 'उठाय पन कीन्ह।" उसी भाँति हमारे परम भट्टारक ने भारत को शक-विहीन करने का प्रण किया है।

महाशक्ति—बड़े ग़ज़ब की बात है, महाकवि! कोई शक चाहे जैसा सज्जन अथवा ईश्वराराधक भद्र पुरुष भी क्यों न हो, वह भी अवश्य केवल शक होने से क्या तलवार के घाट उतार दिया जायगा? क्या यह भी न्याय है?

महामंत्री—ऐसी बात नहीं है, मंत्रिप्रवर! बात यह है कि शकों को भारतीय बनना चाहिए। अपने को पाँच सै वर्षों के पीछे भी शक समझने या कहनेवाले महाशय या तो भारत छोड़कर शक-स्थान चले जायँ, या युद्ध करें, ऐसी भावना हम लोगों की है।

महाशक्ति—अब मामला समझ में आया; आप शकों के नहीं, वरन् शक नाम के शत्रु हैं। क्या ऐसी ही देव की आज्ञा है?

चंद्रगुप्त—यही बात है, आर्य! यह भारतीय संस्कृति का प्रश्न है, जाति-संबंधी शत्रुता का नहीं।

महाशक्ति—यदि हम लोग यह बात मान लें, तो क्या उचित नियमों पर संधि संभव है?

कालिदास—साम्राज्य का विचार है कि दोनो शक-शक्तियों ने मिलकर हम लोगों का ऐसा भारी अपकार किया कि आप लोग शासकों के रूप में अब रह नहीं सकते। यदि आत्मसमर्पण कीजिए, तो दोनो के लिये यथायोग्य भुक्तियाँ लग सकती है, किंतु ये दोनो राज्य साम्राज्य में सम्मिलित कर ही लिए जायँगे। शकों के विषय में जो आज्ञा हुई है, वह आप जान ही चुके; अब शासकों-संबंधी आज्ञा भी समझ गए होंगे। राज्य ढीली निरादर के कारण जा रहे हैं, और शक नाम भारतीय संस्कृति की वृद्धि के हित में। आप लोगों से संधि का कोई प्रश्न नहीं है। इनके वास्तविक भारतीय बनने के पीछे शकों का कोई निरादर न होगा।

चंद्रगुप्त—बात यह है कि यद्यपि स्वयं आपने स्वामी के आज्ञानुसार शक्तिपुर में राजकुमारी को लूटने तक का प्रबंध किया, तथा वंग देश में साधु बनकर विद्रोहियों को उभाड़ा, और उनका भरसक साथ दिया, फिर भी आपके कार्य अपने स्वामी के प्रति राजभक्ति-पूर्ण होने से क्षम्य हैं। यदि स्वयं आप शकपन छोड़कर सच्चे भारतीय बनिए, तो संभवतः मैं ही आपको अमात्य-मंडल में ले लूँ। योग्यता का मान सच्चे भारतीयों में यह साम्राज्य सदैव करेगा। यदि स्वयं आप शुद्ध भारतीय बन जायँ, तो पूर्ण मान के भागी हो सकते हैं। मैं आपकी राजभक्ति नहीं छुड़ाना चाहता, वरन् केवल उदाहरणार्थ एक बात कहता हूँ।

महाशक्ति—मुझ पर तो भारी कृपा हुई देव! फिर भी प्रार्थना करूँगा कि यदि संभव हो, तो उज्जयिनी-पति पर भी कुछ कृपा हो जाय। देव के मित्र-पुत्र हैं, ऐसा स्मरण कर लिया जाय। दोष उनका है भी नहीं।

चंद्रगुप्त—मुझे बड़ा खेद है कि इस विषय में कुछ हो नहीं सकता। महादेवी का जितना कोप इस राज्य पर था, वह इतने दिनों के पीछे भी अणु-मात्र कम नहीं हुआ है। मैं भी विवश हूँ; न तो कृपा करने को जी चाहता है, न महादेवी के कारण योग्य ही है।

महाशक्ति—एक बार पुनर्विचार हो जाने की कृपा हो। पिता के दोषों पर पुत्र दंडित न हो। आपने गत महाक्षत्रपजी को मारकर भी उनके शव को प्रेम-पूर्वक हृदय से लगाया था, यह भी स्मरण रहे। युद्ध चाहे हो, किंतु इस मानहारी प्रश्न पर नहीं।

चंद्रगुप्त—कहना कुछ आपका भी योग्य है। अच्छा, आपका आधा राज्य छोड़ा जा सकता है। यह कथन प्राचीन मैत्री के कारण केवल कृपा-गर्भित समझना चाहिए। मैं सिंहसेनजी को चाहता

बहुत था, किंतु परिस्थिति से विवश होकर मुझे प्रहार करना पड़ा था।

महाशक्ति—मैं प्रार्थना करूँगा, किंतु आशा कम है। न तो स्वामी आधा राज्य छोड़ेंगे, न किसी की कृपा से राज्य ही भोगने के उत्साही होंगे। फिर भी मैं कोई उत्तर नहीं दिए जाता। अब आज्ञा हो।

इस प्रकार यह दौत्य समाप्त हुआ, और दोनो ओर से घोर युद्ध के प्रयत्न होने लगे। उज्जयिनी के पास केवल डेढ़ लाख सेना थी, और इधर सम्राट् की सेना में पौने तीन लक्ष लोग थे। वह पुरी सब ओर से घिरी हुई भी थी। पौर जानपद गत महाक्षत्रप को कोसते थे, जिसके ऐंद्रिय स्वार्थीपन के कारण सारे राज्य पर भारी विपत्ति पड़ी हुई थी। शक क्षत्रप को बाहर निकलकर लड़ने का साहस स्वभावशः न होता था। सेना में कादरता का नाम न था। फिर भी प्राचीन भारी अनौचित्य के कारण न तो उनके साथ कोई सहानुभूति करनेवाला था, न सहायक। थोड़ी सेना के कारण दुर्ग के बाहर युद्ध वे लोग नहीं कर सकते थे। अतएव उसी के भीतर बैठकर यथासाध्य रक्षा करने का निश्चय हुआ। आधा राज्य खोने के स्थान पर क्षत्रप ने लड़ मरना श्रेष्ठतर समझा। दुर्ग की अभेद्यता पर उन्हें विश्वास भी बहुत कुछ था। उज्जयिनी से महामंत्री महोदय राजदूत बनकर सौराष्ट्र जा चुके थे। उनके प्रयत्नों से पचास सहस्र सेना सहायतार्थ जब पहुँची, तब उचित अवसर पर उज्जयिनी की इतनी ही सेना ने निकलकर पश्चिम की ओर आक्रमण किया। उज्जयिनी तथा नवागंतुक सौराष्ट्रीय दलों ने घोर युद्ध किया, और दोनो ओर से हताहत-संख्या सहस्रों तक पहुँची। युद्धारंभ तीसरे पहर होकर रात्रि में भी कुछ देर तक संग्राम चलता रहा। अनंतर अंधकार के कारण रण स्थगित हुआ, और दोनो क्षत्रपोंवाले शक सैनिक गढ़ में चले

गए। अब प्रायः दो लक्ष सेना के पास हो जाने से क्षत्रप महोदय का साहस बढ़ा, और वह यदा-कदा कोट के बाहर दल भेजकर युद्ध कराने लगे। इस प्रकार कई मास-पर्यंत संग्राम होता रहा, किंतु दोनो ओर से सेनापतियों ने इस कौशल से सेन-संचालन तथा प्रबंध किया कि क्षति दोनो शक्तियों की प्रायः समान हुई। फिर भी घिरे रहने के कारण शकों को नवीन योद्धा आधिक्य से नहीं मिलते थे; उधर गुप्तों को ऐसे सैनिक भी समुचित संख्या में मिलते रहते थे, जिससे उनके दल की संख्या कम नहीं होती थी। सारे शक-राज्य पर भी वे अधिकृत हो चुके थे, जिससे उन्हीं की साधारण आय से युद्ध-व्यय निबटा रहे थे। भोज्य पदार्थ भी गढ़ में न जाने पाते थे, किंतु पहले ही से वहाँ तीन-चार वर्षों के लिये सारी सामग्री एकत्र रक्खी गई थी, जो काम में आ रही थी। क्षिप्रा-नदी तथा कूप-तड़ागादि के कारण कोई जल-संकोच भी न था। गढ़ की दीवारों पर से शर, शक्ति, तोमर, पट्टिश, पाषाण, शतघ्नी आदि की अनिवार्य वर्षा गुप्त-दल पर हुआ करती थी। इधर से भी दीवारों के ऊपर एक बार भी मुख दिखलानेवाले अभेद्य बाणों के अचूक लक्ष्य हो जाते थे। जब शक-दल बाहर नहीं निकलता था, तब इसी प्रकार युद्ध हुआ करता था। फाटकों पर तोड़ने के अनिवार्य प्रयत्न चला करते थे। उन पर हाथियों की ठोकरें तक सैकड़ों बार लगवाई जाती थीं, किंतु अयस् निर्मित सारे फाटक ढमकने का नाम नहीं लेते थे। गुप्त-सैनिकों ने गढ़ के चारों ओर छिपकर बैठने के सैकड़ों प्रबंध किए थे। उन्हीं की ओट में बैठकर गढ़-रक्षकों से रण-रंग मचाए रहते थे। इन्हीं स्थानों में से कई प्रकार की सुरंगें गढ़ की ओर खोद-खोदकर तथा उन्हें अनेकानेक प्रयत्नों से अलक्ष्य रखकर गढ़ की दीवारों तक पहुँचा-कर उसकी नींव के नीचे बारूद भरने तथा उसमें आग देकर गढ़

उड़ा देने के भी प्रबंध हो रहे थे। अभी तक कोई सुरंग समुचित गहराई तक नहीं पहुँच पाई थी। उधर गढ़-रक्षक भी इन बातों को ताड़ते रहते थे, और बाहरी सुरंगों को निष्फल करने के लिये इन्हीं स्थानों पर भीतरी सुरंगें लगाने के डौल बाँधा करते थे, जिनमें आग देने से दोनो सुरंगें साथ ही उड़ें, और गढ़ की अपेक्षा आक्रमणकारी सैनिकों ही की विशेष क्षति हो। नदी-नालों के जल से सुरंगें भरकर बारूद बिगाड़ी जाती तथा लोग मारे जाते थे।

इस प्रकार छ मास-पर्यंत युद्ध होने के पीछे एक दिन कविवर कालिदास के प्रतिनर्तक ने जाकर सूचना दी।

प्रतिनर्तक—एक कुंतल देशस्थ पुरुष अपने को कवि कहता और देव के दर्शन का प्रार्थी है। वह भवदीय प्रपितामही की ओर से श्रीमान् का स्वजन होना कहता है। नाम अपना चंद्रदेव बतलाता है।

कालिदास—किसी प्रकार का संदेह तो नहीं मालूम पड़ता?

प्रतिनर्तक—वह तो एक वृद्ध पुरुष है, और देखने में सीधा-सादा लगता है।

कालिदास—उससे कह दो कि सैनिक नियमानुसार शरीर का झारा लिया जाकर मेरे पास आ सकेगा।

प्रतिनर्तक—इसके लिये वह सन्नद्ध है।

कालिदास—तब अधिकारी द्वारा ऐसा कराकर उसके पत्र के पीछे भेज दो।

प्रतिनर्तक—जो आज्ञा।

अब प्रतिनर्तक ने जाकर उसका झारा लेवाया, तथा अधिकारी का पत्र कविवर को दिखला दिया। अनंतर चंद्रदेवजी को जाने दिया। कविवर के सामने पहुँचकर वह विनयावनत हुए, और बतलाए हुए आसन पर विराजकर बात करने लगे।

चंद्रदेव—आशा है कि मेरे आने से देव का समय व्यर्थ न होगा। मैं जानता हूँ कि घोर समर के काल प्रत्येक सेनापति को अवकाश विशेष नहीं रहता। फिर श्रीमान् को तो सेना से इतर साहित्यिक विषय भी सँभालना पड़ता है।

कालिदास—मुझे कभी आपके दर्शन का सौभाग्य अब तक तो हुआ नहीं। आपकी भाषा भी कुंतलवालों से पूर्णतया नहीं मिलती, यद्यपि आप उसे सँभालने का प्रयत्न अवश्य करते हैं। सच-सच कहिए, छद्मवेषी आप कौन हैं? अब तक प्रपितामही के कुल का कोई स्वजन कभी मुझसे मिला नहीं; आश्चर्य है, आप किधर से टपक पड़े?

चंद्रदेव—विनती यह है कि हम लोगों की बात कोई सुन तो नहीं सकता? यहाँ पूर्ण एकांत है न?

कालिदास—अवश्य; आप गुप्त से-गुप्त विषय निर्भयता-पूर्वक कह सकते हैं।

चंद्रदेव—तब न तो मैं चंद्रदेव हूँ, न कुंतल-निवासी। मैं हूँ सीधा-सादा महाशक्ति शक। (कृत्रिम श्वेत श्मश्रु और ऐसे ही केश निकालकर अलग रख देता है।)

कालिदास—(हँसकर) तो आज्ञा कीजिए, मंत्रिप्रवर! इतना कष्ट क्यों उठाया है?

महाशक्ति—हमारे क्षत्रप महोदय का कथन है कि आप उज्जयिनी-निवासी होकर भी क्या इस राज्य से अपना कोई भी संबंध नहीं समझते?

कालिदास—मैंने चिरकाल से इस राज्य से सारा संपर्क हटा लिया है। अब तो मेरा प्राचीन संबंध एक ऐतिहासिक घटना-मात्र है।

महाशक्ति—समझ लीजिए, कविवर! सज्जन एक बार मुख

से कहे हुए संबंध को भी आजन्म निभा देते हैं। फिर आपने तो हमारे ही यहाँ जन्म ग्रहण करके पूरे ब्रह्मचर्याश्रम तक का समय बिताया, तथा हमारे ही विद्यालयों अथच विश्वविद्यालय के सहारे सारी योग्यता संपादित की। गत महाक्षत्रप महोदय को राजभक्त प्रजा होने का वचन भी दे चुके हैं।

कालिदास—मैंने शकों से तो कोई दान पाया नहीं, जो धन आपने हमारे देश से कर-स्वरूप लिया, उसके एक क्षुद्रांश से शिक्षा-विभाग स्थापित किया, जिससे लाभ उठाकर मैंने थोड़ी-सी विद्या प्राप्त की। मेरे साथ कोई ढोली कृपा इस राज्य की हुई नहीं। जो साधारण प्रबंध था अथच सर्वसाधारण को अधिकार प्राप्य था, उसी से मैंने भी लाभ उठाया।

महाशक्ति—क्या रक्षा, उन्नति आदि के द्वारा राजा का प्रजा पर कोई भार नहीं होता?

कालिदास—जब तक कोई राज्य में रहे, तब तक राजभक्ति आवश्यक है, किंतु सदैव के लिये कोई ऋण नहीं।

महाशक्ति—फिर आपने महाक्षत्रप महोदय से यह बात स्वीकार क्यों की थी?

कालिदास—वह तो एक माया-मात्र थी।

महाशक्ति—क्या आप-सरीखे महात्माओं के लिये ऐसी बातें अशोभित नहीं हैं?

कालिदास—यदि किसी मित्र या सज्जन से कही जाय, तो अवश्य, किंतु अंतरराष्ट्रीय कथनों का तो यही रूप है। इसी से तो राजधर्म शास्त्रों में न्यूनाधिक पाप-पूर्ण तथा ब्राह्मणों के लिये अयोग्य है।

महाशक्ति—आप तो ब्राह्मण हैं।

कालिदास—केवल जन्म तथा कवित्व-भर के लिये। मेरे अंतर-

राष्ट्रीय तथा दौत्य कर्म क्षात्र धर्मानुकूल हैं। फिर महाक्षत्रप महोदय ने तो अंतरराष्ट्रीय नियमों को लात मार दी थी। उनको किसी प्रकार पराजित करना प्रत्येक भद्र पुरुष का धर्म था।

महाशक्ति—आपके-से अगाध पंडित से मैं तर्क में तो पार पा सकता नहीं, केवल एक विनय सुनाने को उपस्थित हुआ हूँ।

कालिदास—आपकी बहुन्मुखी योग्यता को तो मैं भी नहीं पहुँच सकता; करें सो क्या करें? पक्ष ही आपका असमर्थनीय है। आप गुंडे हुए, संत हुए, युद्धकर्ता हुए, मंत्री हुए, और अब भेदिए हैं। सभी आपदाओं से अपने को सुगमता-पूर्वक बचा सके, तथा श्रीभगवद्गीता के अनुसार सभी कार्यों से पूर्णतया अलिप्त रहे।

महाशक्ति—यह आपने कैसे जाना?

कालिदास—और बातें तो साधारणी तथा कीर्तिवर्द्धिनी थीं ही, केवल माधवी वेश्या का मामला संदिग्ध कहा जा सकता था, सो स्वयं वही आपको हीना कहती थी। बेचारी समझ न पाई कि ऐसे हीन तो भगवान् श्रीकृष्ण भी थे। आप कमल-पत्र के समान जल में रहकर भी पूर्णतया अलिप्त रहे। वेश्याओं के यहाँ भी जाकर केवल राज-कार्य साधा, और ऐंद्रिय-संबंध से कोसों दूर रहे। आपका धर्म धन्य है!

महाशक्ति—बड़ी कृपा हुई, कविवर! अब मेरी एक विनती पर तो ध्यान दे ही दीजिए। आपके ऊपर प्राचीन राजभक्ति का कुछ ऋण है अवश्य।

कालिदास—अच्छा, आज्ञा कीजिए, क्या बात है?

महाशक्ति—क्षत्रप महोदय की बिनती है कि हमारे ऊपर कुछ तो कृपा हो जाय। पुराना संबंध भी है। आप स्वयं चतुर्थांश उज्जयिनी-राज्य ले लीजिए, और हमारी यह गलफाँस छुड़ा दीजिए। हम गुप्तों को दबाना नहीं चाहते। उनकी राजभक्ति न छोड़िए, और हमें भी

रहने दीजिए। चाहे हमको युद्ध-मर्म बतलाकर निकाल दीजिए, या आत्मप्रभाव से ठीक नियमों पर संधि करा दीजिए। शक नाम-संबंधी साम्राज्य के विचार हम लोगों को सहर्ष स्वीकार हैं।

कालिदास—मेरी समझ में जो विचार हमारे परम भट्टारक ने प्रकट किए हैं, वे सारी बातें देखते हुए न्याय-पूर्ण और उदारता-गर्भित हैं। आपके चत्रप महोदय स्वभावशः उन्हें कटु समझते हैं, तो भी मैं विनती करूँगा कि यदि निष्पक्ष भाव से विचार करें, तो वह भी मुझसे सहमत होंगे। चतुर्थांश राज्य वह मुझे देते हैं, सो उन्हें समझे रहना चाहिए कि कालिदास का धर्म दोनो शक-राज्यों के मूल्य से भी बिक नहीं सकता।

महाशक्ति—फिर विचार कर लीजिए, देव ! मेरा कथन उत्कोच-गर्भित न होकर केवल प्रेमोपहार है। चाहते हम लोग आपसे न्याय का ही समर्थन हैं।

कालिदास—क्षमा कीजिएगा, मंत्रिवर ! मैं उसे उत्कोच ही समझता हूँ। आप स्वयं इस भेदिएपन से पकड़े जाकर दंड के योग्य हैं, किंतु आपकी राजभक्ति के विचार से मैं क्षमा किए देता हूँ। एक बात और कहूँगा कि स्वयं आप इस डूबती हुई नौका से कूदकर हमारे मंत्रिमंडल में क्यों नहीं आ जाते ? देव की आज्ञा भी एक प्रकार से हो चुकी है।

महाशक्ति—अपनी राजभक्ति छोड़कर किसी भी पद के लिये महाशक्ति लालायित नहीं हो सकता। यदि महाराज बना दीजिए, तो भी यह दास उज्जयिनी न छोड़ेगा।

कालिदास—धन्य मंत्रिवर, धन्य ! महत्ता इसी को कहते हैं। तब आप जा सकते हैं। प्रपितामही के स्वजनरूप में मैं आपका स्मरण सदैव रक्खूँगा।

महाशक्ति—(हँसकर) जो आज्ञा।

अनंतर अपने कृत्रिम केश फिर से लगाकर महाशक्तिजी उज्जयिनी पलट गए। उनसे सारा वृत्तांत सुनकर क्षत्रप महोदय ने अपने मुख्य मंत्रियों से अंतरंग मंत्रणा की। महाशक्तिजी बंगाल से पलटने पर उज्जयिनी के सांधिविग्रहिक नियत हो गए थे। इनके अतिरिक्त सभा में महाबलाधिकृत, महामंत्री और अक्षपटलाधिकृत सम्मिलित थे।

क्षत्रप—वर्तमान स्थिति को देखते हुए आप सज्जनों के लिये अपनी अवस्था पर पुनर्वार विचार करना ठीक समझ पड़ता है।

महामंत्री—इसमें क्या संदेह है, देव! महाशक्तिजी ने जो कवि-वर के द्वारा कार्य-संपादन का प्रयत्न किया था, वह तो विफल हो चुका। सम्राट् ने उनका ऐसा भारी मान किया है कि राजभवन से मित्रता की मात्रा दूनी-चौगुनी हो रही है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, साम्राज्य के मंत्रियों तथा अधिकारियों में एक भी ऐसा नहीं है, जो परम भट्टारक से पूर्णतया प्रसन्न न हो।

महाशक्ति—कूट नीति अथवा भेद-नीति की आशा छोड़ इतर स्थितियों पर ध्यान देकर निश्चय करना होगा, देव!

महामंत्री—इस विषय में प्रधान सम्मति महाबलाधिकृत की है। यद्यपि राज्य की प्रायः सारी आय युद्धारंभ से ही स्थगित है, तथापि दो-तीन साल तक तो कोष न घटेगा, ऐसी आशा है। युद्ध के पीछे से इतर व्यय भी बहुत कम हो ही गया है।

अक्षपटलाधिकृत—जैसा आय-व्यय इस काल है, उसके अनुसार पूर्व-पुरुषों का एकत्र किया हुआ राजकोष चार वर्षों तक बराबर काम देगा। इसकी चिंता छोड़ दी जाय।

क्षत्रप—देखने की बात है, मित्रो! कि महात्मा भूमक, लिअक, पतिक, राजुल, षोडाश, ऊषावदात, चष्टन, रुद्रदामन आदि ने जो राज्य का पौधा अपने-अपने हृदय के रुधिर से सींच-सींचकर पल्लवित और पुष्पित किया था, उस पर ऐसा कठिन संकट उपस्थित है कि

जीवन-मरण का प्रश्न सामने है। इसी भारत में एक वह दिन था कि पुष्यपुर में बैठकर सम्राट् कनिष्क ने आज्ञा प्रचारित की थी कि कोई भारतीय अपने को आर्य आदि न कहे, वरन् सब लोग शक ही कहे जायँ, और आज ऐसा दिन उपस्थित है कि वही शक नाम हो वर्जित हो रहा है। यदि इतनी भारी हानि राज्य-लोभ से अंगीकार कर ली जाय, जैसी कि आर्य सांधिविग्रहिकजी की सम्मति है, तो भी न तो राज्य रहा जाता है न मान। आधा राज्य माँगा ही जाता है, तथा शेषार्द्ध भी कृपा से छोड़ा जाता है, सो भी स्वतंत्रता-हीन केवल महाराज्य के रूप में। पितृचरण ने वैयक्तिक रूप से महादेवी के माँगने में भूल अवश्य कर दी, किंतु क्या इस कथन-मात्र का उनसे शीघ्रातिशीघ्र क्रूर बदला नहीं ले लिया गया? इस मामले में गुप्तों का अपयश तो कम हुआ, तथा उज्जयिनी की ही अपकीर्ति भारत में फैली हुई है। बिना किसी न्याय के, केवल बल-पूर्वक गुप्त लोग यद्यपि हमारा राज्य तक छीन रहे हैं, तो भी लोक-सहानुभूति उन्हीं के साथ है। कहते ही हैं, "जब मढ़ने बनती है खँझड़ी, तभी निकलती तान विचित्र।"

महामंत्री—जितनी बातें देव ने कही हैं, वे सब अक्षरशः सत्य हैं, तो भी मेरी सम्मति महाशक्तिजी से इतनी अवश्य मिलती थी कि केवल विदेशीपन के कथन छोड़ने से यदि झमेला दूर हो सकता, तो मान लेना ठीक था; परंतु आधे राज्य का प्रश्न जो लगा है, वह अमान्य अवश्य है। तो भी बात केवल इतनी है कि सामर्थ्य पर विचार करना ही पड़ेगा।

महाबलाधिकृत—सात महीनों से युद्ध हो रहा है, किंतु अभी तक न अपनी सेना दबी है, न शत्रु की। गोहों आदि के सहारे से कई बार शत्रु सैनिक दुर्ग की दीवारों पर पहुँचे अवश्य, किंतु तुरंत मार भगाए गए। चैतन्यता की कमी अणु-मात्र नहीं है। जहाँ-जहाँ

दुर्ग के नीचे दारू भरकर उड़ाने के प्रयत्न शत्रु ने किए, वे सब व्यर्थ किए जा चुके हैं। इतना अवश्य है कि संभवत: कहीं ऐसे स्थानों पर उन्हें सफलता मिल जाय, जो अपने को ज्ञात न हों। इतने संदेह के अतिरिक्त और कोई शंका चित्त में नहीं आती। शक नाम के प्रतिकूल प्रयत्न होने से अपने भी वीर जान तोड़कर लड़ने को प्रस्तुत हैं। सौराष्ट्र से जितनी सेना आई है, उसके अतिरिक्त भी यथा-साध्य और भेजने के प्रयत्न हो रहे हैं। जहाँ तक अपनी शक्ति और बुद्धि काम देगी, वहाँ तक ढील न होगी। अंतिम निश्चय पर सम्मति अमात्य-परिषत् अथच श्रीजूदेव की मान्य होगी ही।

क्षत्रप—आपने तो, आर्य, बिलकुल प्रत्यक्ष करके सामरिक स्थिति आगे रख दी है। केवल एक आशंका से इतर कोई खटका अभी नहीं बतला रहे हैं। शत्रु के संधि-संबंधी नियम असह्य हैं ही। फिर भी शक्याशक्य तथा संभवनीय स्थितियों पर ध्यान देकर आप सबको अपनी-अपनी सम्मति अब देनी चाहिए। परामर्श हो ही चुका है। मैं अपने विचार पीछे प्रकट करूँगा।

महाशक्ति—सब विषयों पर विचार करके देव! मुझे तो युद्ध का चलाना ही उचित जँचता है।

अक्षपटलाधिकृत—यही मेरी भी सम्मति है।

महाबलाधिकृत—स्थिति तो मैंने प्रकट कर ही दी है, और संग्राम के चलाने में सारी सेना की सन्नद्धता का भी कथन कर चुका हूँ, किंतु संधि-विग्रह के अंतिम प्रश्न पर मेरा कोई मत निश्चित रूप से नहीं जमता, देव!

महामंत्री—मैं तो संग्राम चलाने के पक्ष में हूँ, किंतु बहुत हठ के साथ नहीं। यदि कोई संधि का मंत्र दे, तो भी मैं उसका विरोध न कर सकूँगा।

क्षत्रप—चार मंत्रियों के तीन मत इस समय मेरे सामने हैं।

प्रायः तीन युद्ध चलाना चाहते हैं, और एक अनिश्चित है। मेरा मत बिलकुल डाँवाँडोल नहीं है। अपने साम्राज्य के अपमान से गुप्त-शक्ति क्रोधित हो जीवन-मरण के प्रश्न को भी किनारे रखकर केवल बदला लेने को तुली हुई है। जिस काल सभी कुछ गया हुआ दिखता था, तब भी उन्होंने उत्साह न छोड़ा। अपनी तो अभी वैसी दशा भी नहीं है। केवल थोड़े-से संदेह के कारण साहस छोड़ना वीरता के प्रतिकूल है। मैं निश्चय-पूर्वक युद्ध-मंत्र के अनुकूल हूँ।

महाबलाधिकृत—यही उचित भी है, देव! मेरे मत न देने का एक यह भी कारण था कि राजपरिवार पर अनुचित संकट मैं नहीं लाना चाहता था। तीन पुश्तों से परम भट्टारक का लवण अंग-अंग में बिधा हुआ है। जब तक एक शोणित-बिंदु भी शरीर में संचरण करता है, तब तक यह शीश देव के चरणों पर अर्पित रहेगा।

महामंत्री—देव की आज्ञा बहुत यथार्थ है। बिना कोई जोखिम झेले क्या जेठे इतना मान उपार्जित कर सकते थे? जो होगा, देखा जायगा। फिर भी इतनी बिनती है ही कि परम भट्टारक यदि संधि की आज्ञा देते, तो उसे भी मैं इसी प्रसन्नता के साथ मानता।

इस प्रकार परामर्श के पीछे युद्ध-मंत्र ही दृढ़ रहा। क्षत्रप महोदय ने वहाँ से जाकर राजमाता तथा महादेवी की भी सम्मति ली।

राजमाता—इतना विचारणीय है कि तुम्हारे पिता ने तो उनकी महादेवी का घोर अपमान चाहा, किंतु उन्होंने मुझे पकड़ने पर पूर्ण मान के साथ उज्जयिनी भेज दिया। दोनो राज्योंवाले आचरणों के इन प्रचंड अंतरों से सारा देश उनकी प्रशंसा कर रहा है।

क्षत्रप—इस बात के लिये तो हम उन्हें शतशः धन्यवाद देते

हैं, तथा पूज्य पितृचरण की जीवन-भर में एक ही भूल पर शोक प्रकट भी कर चुके हैं। अनुचित माँग के पीछे भी आपके प्रति शत्रुओं का उदार व्यवहार श्लाघ्य था ही, फिर भी स्मरण रखना चाहिए कि पितृचरण को धोखा भी महागर्हित दिया गया।

महादेवी—जो हुआ, सो हो ही चुका; प्रश्न संधि के कथित नियम मानने या न मानने का है। मैं तो इन्हें मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ। ककूजी से ऐसे धोखे के पीछे फिर भी क्रोध के बहाने से निष्कारण आधा राज्य माँगा जाना बहुत अयोग्य है। यदि हमारी शक-जाति ऐसी गई-बीती होती, तो भारत में इतने दिन हमारा ऐसा प्रभाव क्योंकर स्थापित रहता? मैं तो युद्ध मंत्र दूँगी। बिना जोखिम उठाए कहीं महत्ता रही है? बिना पूर्ण पराजय के एक ही आक्रमण के निष्फल होने से हमारी पदवी महाक्षत्रप से क्षत्रप-मात्र रह गई है। अब क्या महासामंत-मात्र बन जायँ?

क्षत्रप—(राजमाता से) पूज्य माताजी! अब तक आपने कोई मत दृढ़ता-पूर्वक प्रकट नहीं किया।

राजमाता—लाल मेरे! मैं क्या कहूँ? बहूजी तो नववयस्का होने से साहस की मूर्ति बनी हुई हैं; बात भी इनकी अनुचित नहीं। फिर भी पति खो ही चुकी हूँ, अब पुत्र को भी युद्ध में जाने को कैसे कह दूँ? संकट का समय उपस्थित ही है। यदि अभी दबकर समय पर बल बढ़ाया जाय, और गुप्त-साम्राज्य में संकट-पूर्ण अवसर ताड़ा जाय, तो कैसा? हर समय ऐसे कुशल, लोक-प्रिय तथा पराक्रमी सम्राट् का सामना थोड़े ही पड़ेगा।

क्षत्रप—तब तक अपनी कुछ शक्ति ही न रह जायगी, करेंगे क्या? देखिए न, वाकाटक-साम्राज्य एक ही बार उनका अधीनस्थ महासामंत बनकर जा ही चुका, अब उसके कभी पनपने की क्या आशा है?

राजमाता—यह तो मैं भी समझती हूँ, किंतु माता का हृदय ठहरा, समझाने से नहीं समझता। कहूँ, तो कैसी कहूँ? युद्ध से भय मुझे भी बहुत नहीं है, किंतु कलेजा थरथराता है।

महादेवी—माताजी! ऐसे विचार साधारण माताओं के लिये योग्य ही हैं, किंतु राजमाता के लिये नहीं। भवदीय आज्ञोल्लंघन त्रिकाल में नहीं हो सकता, किंतु आप ही का राज्य भी है। सोच लीजिए।

राजमाता—क्या मैं कोई प्रतिकूल आज्ञा देती हूँ; मैं तो युद्ध भी चाहती हूँ, किंतु माता का हृदय नहीं मानता। फिर भी कहूँगी कि जैसा मंत्रियों आदि से परामर्श करने पर उचित जँचे, वही करो। सब ऊँच-नीच विचार लो, बेटाजी! वाकाटक-बल संभवतः आगे कभी बढ़े। तो भी मंत्रियों के साथ विचार कर लो।

क्षत्रप—मंत्रियों ने तो युद्ध-मंत्र दिया ही है; माताजी! अब आप भी आज्ञा दे दीजिए।

राजमाता—जब सबकी सम्मति है, तब यही सही।

क्षत्रप—धन्य माताजी, धन्य!

इस प्रकार दृढ़ता-पूर्वक युद्ध-मंत्र करके क्षत्रप महोदय ने नवीन उत्साह के साथ संग्राम को आगे चलाया। दो-चार बार शक-दल बाहर निकलकर प्रचंड वेग से कभी दिन और कभी रात में गुप्त-दल पर टूटा। युद्ध दोनो ओर से विकराल रूप से हुआ, किंतु संख्या के आधिक्य से शनैः-शनैः उत्तरी दल की प्रबलता स्थापित होने लगी। प्रायः एक साल-भर इसी भाँति प्रचंड संग्राम चलता रहा। अंत में एक दिन गुप्त-सेना ने दारू के गोपित प्रयोग से दुर्ग की दो दीवारों के कुछ बड़े-बड़े भाग उड़ा दिए, तथा दोनो ओर से आक्रमणकारिणी सेना दुर्ग में घुस पड़ी। दोपहर-पर्यंत महा घोर युद्ध होता रहा, जिससे शक-दल की भारी क्षति

हुई, तथा रात्रि होने पर वह दुर्ग के भीतरी भाग में घुस गया। दूसरे दिन से उस आंतरिक परकोटे पर भी प्रचंड आक्रमण होने लगे, हाथियों के प्रयोग से फाटक तोड़ने के प्रयत्न हुए, तथा दीवार तोड़ने में भी कसर न लाई गई। अत में दस-बारह दिनों के भयंकर युद्ध के पीछे एक रात में गुप्त-दल गोहों के सहारे रस्सियाँ पकड़-पकड़कर छत पर चढ गया। शक वीर वहाँ भी कठिन संग्राम में प्रवृत्त हुए, किंतु नवीन सैनिकों का ऊपर चढ़ना चलता ही रहा, यहाँ तक कि सौ-दो सौ गुप्त वीरों ने अंदर कूद-कूदकर फाटक खोल ही दिया। अब उत्तरी दल परम वेग से भीतर घुस पड़ा, और यद्यपि शकों ने जी तोड़कर सामना किया, तथापि दुर्ग विजित हो ही गया। सारा राजपरिवार, मंत्रिमंडल तथा हतशेष शक सैनिक बंदी बनाए गए, अथच उज्जयिनी पर गुप्त सम्राट् का अधिकार हो गया। स्वयं क्षत्रप प्रचंड शौर्य के साथ युद्ध करता हुआ बहुतेरे शत्रुओं को मारकर धराशायी हुआ। शेष शक-राजपरिवार भुक्तिभोगी होकर उत्तरी भारत में भेज दिया गया। बहुतेरे सौराष्ट्रीय वीर काम आए, तथा महाशक्ति के नेतृत्व में आधेपर्धे सौराष्ट्रीय योद्धा अथच प्रायः पचास सहस्र उज्जयिनी के वीर बड़ी दुर्गति के साथ सौराष्ट्र पहुँचे, जहाँ वे अपने उचित अधिकारों के अनुसार राजसेवक बनाए गए। महाशक्तिजी ने सौराष्ट्र नरेश को समझाया कि अब इस राज्य पर भी गुप्त-आक्रमण होने में देर नहीं थी। राजभक्ति और प्रवीणता के कारण सौराष्ट्र-पति ने उन्हें अपने यहाँ महामंत्री का जो पद उस काल कारण-वश रिक्त था, वह दे दिया। इधर उज्जयिनी के राज्य पर तो महाराजाधिराज का अधिकार पहले ही से हो चुका था, अब राजधानी पर भी हो गया। श्रीजूदेव ने कविवर कालिदास को राजप्रतिनिधि होने के कारण यही उच्च पद उज्जयिनी के राज्य में दिया, और आज्ञा दी

कि उपरिकों आदि का उचित प्रबंध करके जब इधर शांति देखें तथा अयोध्या जाने से कोई हानि न समझें, तब यथारुचि उधर चले जायँ। आपने मित्र-भाव से साथ छोड़ना पसंद न किया था, किंतु सर्व-सम्मति से यही निश्चय इन्हें भी मानना पड़ा। कुछ अंश मालव तथा वाकाटक-नरेशों को भी देकर परम भट्टारक ने शेष शक-राज्य साम्राज्य का अंग बना लिया। उस राज्य के सारे शकों ने सुख-पूर्वक यह नाम छोड़कर पूर्ण भारतीय होना स्वीकार किया, तथा साम्राज्य ने उनका यथायोग्य मान किया। शक-राज्य का सारा कोष और सब सामान, रथ, हाथी, घोड़े आदि प्रचुर संख्या में साम्राज्य को प्राप्त हुए।

बाईसवाँ परिच्छेद

सौराष्ट्र-दमन

उज्जयिनी जीतकर जब परमभट्टारक अयोध्या जाने के लिये प्रस्तुत होकर उस ओर के अंतिम दरबार में विराजे, तब सर्व-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि राजा गर्दभिल्ल के पुत्र महाराजा विक्रमादित्य ने जैसी शक-सेना को जीतकर यह नाम सार्थक किया था, उससे बृहत्तर शक-शक्ति को हँसते हुए पराजित करके आप इसके पूर्णतया अधिकारी हो चुके थे। अतएव उसी समय से परम भट्टारक ने यह उपाधि धारण कर ली। अनंतर सब इष्ट-मित्रों तथा उस ओर के दोनो महाराजाओं से प्रेम-पूर्वक मिलकर आप ससैन अयोध्या को पधारे। उज्जयिनी में यथायोग्य सेना कविवर की अधीनता में रह गई। कुछ दिनों में महाराजा पृथ्वीषेण (प्रथम) का स्वर्गवास हो गया, और उनके युवराज रुद्रसेन (द्वितीय) महाराजा हुए। आप ही परम भट्टारक के जामाता थे। अपने प्राचीन विचारानुसार देवराज प्रतिवर्ष कुछ समय अयोध्या में बिताते थे और कुछ पाटलिपुत्र में। ये दोनो पुरियाँ साम्राज्य की राजधानियाँ हो गईं। उधर उज्जयिनी का दुर्ग फिर पहले के समान पुष्ट कर लिया गया, और उसमें उचित संख्या में सेना रख दी गई। दो नवीन दुर्ग निर्मित होकर उनमें तथा मालव की ओरवाले अवंती दुर्ग में भी सैन्य-बल का यथायोग्य प्रबंध किया गया था। कुछ काल में उज्जयिनी का शेष प्रबंध ठीक करके कविवर कालिदासजी भी अयोध्या को चले आए। देवगुप्त विक्रमा-

दित्य की आकांक्षा सौराष्ट्र भी जीतने की थी। अतएव सेना का युद्ध-संबंधी प्रबंध करके तथा विजय-यात्रा में कोई विघ्न न देख आपने कवि वीरसेनजी को राजदूत बनाकर सौराष्ट्र भेजा।

साम्राज्य के इन महासांधिविग्रहिक की अवाई का हाल सुनकर सौराष्ट्र के महामंत्री तथा महासांधिविग्रहिक अगवानी को आए, और प्रेम पूर्वक मिलकर उन्होंने इनकी सुविधा का सारा प्रबंध कर दिया। अनंतर आगमन का अभिप्राय जानकर तथा अपने यहाँ इस पर पूर्ण विचार करके वीरसेन का दरबार कराया गया। वहाँ इस प्रकार कथनोपकथन हुआ—

महाशक्ति (महामंत्री)—मन्त्रिप्रवर ! आपके पधारने से इस दरबार की बड़ी शोभा हुई है। आशा है कि यात्रा में आप प्रसन्न रहे होंगे, और यहाँ भी कोई असुविधा न होगी।

वीरसेन—आपकी कृपा से बहुत मज़े में हूँ।

महाक्षत्रप—आशा है कि परम भट्टारक आनंद से होंगे, और साम्राज्य में हर प्रकार से कुशल-मगल होगा।

वीरसेन—देव की कृपा से पूर्ण प्रसन्नता है। आशा है कि सौराष्ट्र-राज्य में ठीक-ठाक होगा, तथा राजपरिवार-सहित महाक्षत्रप महोदय सकुशल होंगे।

महाशक्ति—परमभट्टारक के आशीर्वाद तथा ईश्वर की कृपा से यहाँ सब प्रकार से आनंद-मंगल है। आशा है कि आगमन-हेतु का कथन देव से भी करके आप इस दरबार को बाधित करेंगे।

वीरसेन—परमभट्टारक महोदय को इस दरबार से यह उपालंभ है कि यद्यपि साम्राज्य ने इसके प्रतिकूल कभी कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया था, तो भी यहाँ से उज्जयिनी की शक्ति को अयोध्यावाले आक्रमण तथा उज्जयिनीवाले युद्ध में प्रचुर संख्या में सैन्य द्वारा

अनुचित सहायता दी गई। ऐसी दशा में यदि साम्राज्य भी क्रोध-पूर्ण व्यवहार करे, तो महाक्षत्रप महोदय को कोई आश्चर्य न होना चाहिए।

सौराष्ट्रीय सांधिविग्रहिक—सम्राट् समुद्रगुप्त ने जब प्रायः सारा भारत जीता, तब दोनो शक-शक्तियों के प्रतिकूल कुछ किया अवश्य नहीं, किंतु इतर राज्यों के संकट से इन्हें भी भय उपस्थित होना स्वाभाविक-था। जब कुछ मध्य भारतीय तथा दाक्षिणात्य शक्तियों पर साम्राज्य का प्रसर हुआ, तब उज्जयिनी ने उचित ही अपना घिर जाना-सा माना। ऐसी दशा में साम्राज्य के दाक्षिणात्य प्रभाव के प्रतिकूल वहाँ से जो कथन और प्रयत्न किए गए, वे उस राज्य की भौगोलिक तथा अन्य प्रकार की स्थिति देखते हुए अनुचित नहीं-थे। यदि इस काल यहाँ से शक-भ्रातृत्व निभाया न जाता, तो अकेली रहकर यह शक्ति भी समय पर निर्बल मानी जा सकती थी, जैसी कि स्थिति इस काल भी लोग समझते हैं, यद्यपि समय के साथ यहाँ समुचित बल-संपादन किया ही गया है। स्वर्गवासी महाक्षत्रप सिंहसेनजी ने जो साम्राज्य की महादेवी संबंधी लज्जास्पद माँग की, इसके विषय में सौराष्ट्र उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि आक्रमण के समय वैसा कुछ भी विचार न था। ऐसी दशा में यद्यपि कारण-वश इस राज्य को साम्राज्य के एक शत्रु का साथ देना पड़ा था, तो भी कोई सीधी शत्रुता नहीं है। यदि साम्राज्य प्रेम पूर्ण व्यवहार स्थापित करना चाहे, तो अब इन दोनो शक्तियों में विग्राट् का कोई कारण शेष नहीं। जो कुछ हो गया, उसे भूलने का प्रयत्न दोनो ओर से योग्य है।

वीरसेन—जो बातें विभेद की हैं, वे आप भी स्वीकार करते हैं, तथा अस्वीकृत हो भी नहीं सकतीं। इतनी मोटी बात है ही कि सौराष्ट्र के द्वारा बिना किसी सीधे कारण के साम्राज्य पर आक्रमण

विशेष मान के साथ विदा होकर वीरसेनजी अयोध्या पहुँचे। एक मास का समय साधारण युद्ध-प्रबंध के लिये आवश्यकता से कम समझा जाकर और संधि की कोई आशा न देखकर पूरी तैयारी होने लगी। परमभट्टारक ने मंत्रिमंडल की सम्मति से सौराष्ट्र-विजय साधारण काम समझकर नेतृत्व के लिये युवराज कुमारगुप्त को नियत किया। इधर दूसरे राजकुमार गोविंदगुप्त तिरभुक्ति के उपरिक महाराज नियत हुए। इन दोनो राजकुमारों की साहित्यिक तथा सामरिक शिक्षा हो चुकी थी, और अनुभवात्मक अब प्रारंभ की जा रही थी। सौराष्ट्र-युद्ध का सामरिक भार महाकवि महाराजा कालिदास पर पूरीत्या रहा। इन्हीं को सांधिविग्रह के प्रश्नों पर भी निर्णय करने का अधिकार मिला। कविवर के सहायतार्थ महाबलाधिकृत कृतांतजी नियुक्त हुए, यद्यपि महासेनापति वहीं थे। अन्य सुयोग्य युद्धकर्ता तथा कई मंत्री भी भेजे गए। कालिदास के साथ अर्द्ध लक्ष मूलस्थ सेना चली, पचीस सहस्र स्वयं इनकी, पचीस सहस्र युवराज के आधिपत्य में शक्तिपुर की, पचीस सहस्र कुंतलीय तथा पचास सहस्र उज्जयिनीवाली। इस प्रकार पौने दो लक्ष सेना के नेता होकर युवराज कुमारगुप्त सौराष्ट्र-विजयार्थ प्रस्थित हुए। मूल से इतर स्थानोंवाली सेनाएँ नियत अवसरों पर मूलस्थ दल में सम्मिलित होती रहीं, और यह पूरी सेना सौराष्ट्र से बीस कोस की दूरी तक निर्विघ्न पहुँच गई। इस स्थान पर वहाँ की एक लक्ष सेना ने कई टुकड़ियों में आकर तीन ओर से इसका सामना किया। मोर्चे खोद-खोदकर दोनो दलों ने प्रायः पंद्रह दिनों तक घोर युद्ध किया। अंत में आधे से अधिक भाग खोकर, सौराष्ट्रीय सेना युक्ति-पूर्वक हटकर गढ़ में घुस गई। गुप्त सम्मिलित दल में प्राय: पचीस सहस्र योद्धाओं की हानि हुई। अनंतर इसने बढ़कर सौराष्ट्रीय प्रचंड दुर्ग चारों ओर से घेर लिया,

तथा प्रायः पूरे राज्य सौराष्ट्र और गुजरात पर अधिकार करके नियत कर उगाहना आरंभ कर दिया।

सौराष्ट्र में दुर्ग के भीतर से बैठकर लड़ने के दृढ़ प्रबंध किए गए। वहाँ से यातायात के वास्ते प्रतिसप्ताह एक-एक दिन के लिये सात संकेत-शब्द आने-जाने को निश्चित हो गए। घेरनेवाली सेना ऐसे यातायात दृढ़ता पूर्वक रोके हुए थी। जो लोग जाते-आते थे, वे वनों, गोप्य सुरंगों आदि के द्वारा छद्म रीति से ऐसा करते थे। गढ़ की दीवारों की नीव में बारूद भर-भरकर उड़ाने के प्रबंध होने लगे, तथा रक्षकों की ओर से उनके रोकने की युक्तियों में भी कोई कसर न रक्खी गई। दूतों की सहायता भी कविवर ने विजयार्थ प्रचुर मात्रा में ली थी। अयोध्या से थोड़े ही बहुत चर आए थे, किंतु उज्जयिनी तथा कुंतल से प्रायः सौ-सौ प्रवीण दूत बुलाए गए थे। दूरी के कारण इस बार मालव-दल न बुलाया गया, किंतु मालवेश को यह आज्ञा हुई कि आवश्यकता पड़ने पर साम्राज्य-वाले उज्जयिनी के प्रांतों में स्थिर दल की सहायता की जाय। बहुत दौड़-धूप करके दूतों ने संकेतों का पता लगाया, और उन्हीं के सहारे थोड़ी संख्या में गढ़ के भीतर पहुँच वहाँ के बहुतेरे समाचार ज्ञात कर लिए। महामंत्री महाशक्तिजी ने अपने यहाँ का यह रहस्य-विभाग युद्ध-काल-भर को अपने ही अधीन कर लिया था। बड़े ही चतुर चर सहायतार्थ आपने नियत कर रक्खे थे। जितने शत्रु-दूत धर्मशालाओं आदि में ठहरे, उनसे ऐंड़े-बेंड़े प्रश्न करके सौराष्ट्रीय दौत्य विभाग ने उन्हें बंदी कर लिया। यह कार्य भी ऐसी गुपचुप रीति से विविध व्याजों के साथ हुआ कि किसी ने जान भी न पाया कि क्या किया गया था। जो दूत पहले ही से सजग थे, और विविध नागरिकों के यहाँ संबंधादि निकालकर विशेष सयानेपन के साथ अनेकानेक छद्म वेशों में ठहरे थे, वे जब तक बहुत ही

चैतन्य रहे, तब तक बंदी होने से बचे रहे। तो भी जब इनके बंदी साथी वहाँ समय पर नियत स्थानों में इन्हें उन मिले, तब संदिग्ध होकर जिन धर्मशालाओं आदि में वे ठहरे थे, वहाँ जाकर इन्होंने युक्ति पूर्वक उनका बंदी होना जान लिया। अब इन्होंने और भी चतन्यता पकड़ी, तथा पीछे आनेवाले अपने साथियों को पहले ही से छिपकर समझा-बुझा रक्खा। महाशक्ति ने भी कुछ दूतों के पकड़े जाने से अपने प्रबंध दृढ़तर किए, तथा सकेतों को बदला दिया, किंतु शत्रु-दूतों ने नए शब्दों का भी पता लगा ही लिया, क्योंकि न्यूनाधिक यातायात चलता ही रहता था, भीतर-ही-भीतर रहने पर भी वे शब्द विचक्षण दूतों से छिप न पाते थे। कारण यह भी था कि फाटकों पर के सारे प्रबंधक दौत्य विद्या में परम पवीण दूतों की समता स्वभावशः न कर पाते थे।

सौराष्ट्र के सारे मंत्री राजभक्त थे ही, किंतु दो ऐसे थे, जिनकी सुंदरी कन्याओं पर महाक्षत्रप रुद्रसेन महोदय की दृष्टि पड़ गई थी, और इस गोप्य प्रेम-लीला का पता न दोनो को लग चुका था। गुप्त-साम्राज्य के दूतों ने वहाँ इधर-उधर फिरकर यह रहस्य जान लिया, तथा इन दोनो मंत्रियों की अंतर्भावनाओं को युक्ति-पूर्वक ताड़ा, तो उनमें से एक को तो क्रोधित अवश्य पाया, किंतु धन-लोलुप अथवा राजभक्ति के प्रतिकूल नहीं। दूसरे मंत्री महोदय कुबेर-स्वामी महाक्षत्रप से क्रुद्ध, बदला लेने को उत्सुक तथा धन-लोलुप भी थे। उनसे पहले युक्ति-पूर्वक और फिर प्रकट रूप से मिलकर दूतों ने सहायता की प्रार्थना की, और साम्राज्य की जीत होने से सौराष्ट्रीय कोष का चतुर्थांश उन्हें देने का वचन दिया। मंत्रीजी युद्ध-विभाग के एक सेनापति भी थे, और स्वभावशः दल पर उनका प्रभाव था। पूर्ण विश्वासार्थ दूतों ने उनके लिये मंत्रियों के हस्ताक्ष और मुद्रांकित गुप्त साम्राज्य का शासन-पत्र भी मँगा

दिया । तब एक दिन प्रथम से ही समय नियत करके इन्होंने अपनी सेना के साथ निकलकर शत्रु पर कृत्रिम आक्रमण किया, जिसमें दोनो ओर से कुछ सैनिक हताहत भी हुए । साम्राज्य की सारी सेना गुप्त रूप से अंतिम आक्रमणार्थ सुसज्जित रही । अंत में संध्या के समय कुबेरस्वामी महोदय जब गढ़ में घुसने लगे, तब जान-बूझकर ऐसा विलंब कर गए कि शत्रु-सेना भी फाटक पर पहुँच गई, तथा जब तक वह बंद हो सके, उसके पहले ही उसकी अधिकारिणी होकर राजधानी में घुस पड़ी । भागती हुई सौराष्ट्रीय सेना दूसरे परकोटे पर पहुँची, किंतु उस पर भी गुप्त-दल का अधिकार भीतरी दूतों तथा बाहरी सेना के प्रयत्नों एवं कुबेरस्वामी की छद्म सहायता से हो गया । गढ़ ज्यों-का-त्यों दृढ़ रहा, किंतु फाटकों से हो भारी गुप्त-सेना नगर में पहुँच गई । रातोरात घोर युद्ध हुआ, और शकों ने दोनो फाटकों पर फिर से अधिकार पाने की कोई युक्ति उठा न रक्खी, किंतु विपक्षियों की चैतन्यता और प्रबलता से साफल्य न मिला । रात-भर संग्राम मचा रहा । यही दशा दूसरे दिन दोपहर-पर्यंत रही, जिसके पीछे साम्राज्य का पूर्ण अधिकार सौराष्ट्र पर हो गया, तथा राजकुटुंब, मन्त्रिमंडल एवं हत-शेष दल सब बंदी हुआ ।

समय पर युवराज कुमारगुप्त का दरबार सौराष्ट्र के राजकीय सभा-भवन में हुआ, जिसमें कुबेरस्वामी के ऊपर साम्राज्य की प्रसन्नता उचित शब्दों में प्रकट हुई । मंत्री महोदय तो प्रसन्न हुए, किंतु उनके राजविद्रोह का सारा संवाद नगर-भर में फैल चुका था, और सारे मित्र-शत्रु उन्हें धिक्कारते और थूकते थे । इसी समय उनकी स्त्री ने सभा में रोते हुए प्रवेश करके उनसे कहा—

स्त्री—आपने तो महत्ता अच्छी प्राप्त की, किंतु मेरा कुटुंब गया, पुत्री आत्महत्या कर चुकी है, पिता पर लोगों के प्रचंड धिक्कारों से व्यथित होकर बड़े पुत्र ने कुएँ में कूदकर प्राण दे दिए हैं, और

आपके साथ महती संपत्ति का सुख भोगने को मैं रह गई हूँ। जिस महत्ता को आपने कुटुंब और धर्म देकर प्राप्त किया है, उसमें साझीदार होना मैं भी नहीं चाहती, क्योंकि मेरे ऐसा करने पर आपकी गाढ़ी कमाई का सुख आधा मुझे मिलकर स्वयं आपके लिये शेषार्द्ध ही रह जायगा। अतएव (कटार निकालकर) मैं अब इसकी शरण लेती हूँ, आप निर्विघ्न सुख भोगिए।

कुबेरस्वामी—(झपटकर स्त्री से कटार छीनकर) आर्ये! क्या कहती हो? क्या इतरों के साथ तुमने भी मुझ पर से विश्वास हटा लिया है? स्मरण रक्खो कि पावक को साक्षी देकर तुमने दुःख-सुख में मेरा साथ न छोड़ने की शपथ ली थी। जब तुम धन-संबंधी सुख नहीं चाहतीं, तब मैं भी उसे शिव निर्माल्य समझता हूँ।

स्त्री—क्या तुमने शत्रु से मिलकर धन-लोभ से दुर्ग नहीं छिनवाया?

कुबेरस्वामी—मैंने एक तो ऐसा किया नहीं, और यदि पति भूल कर जाय, तो क्या कोई कुलवती स्त्री अपनी पावक-शपथ से मुख मोड़ सकती है? मुझे गुप्त-शक्ति से न तो कुछ मिलना है, न किसी से कुछ लेना है। हम दोनो की पूर्ण गार्हस्थ्य संपत्ति का स्वामी इसी समय से अपने दोनो का द्वितीय पुत्र हो चुका। चलो, यहीं से हम दोनो वानप्रस्थ व्रत धारण करते हैं। अब तो क्षमा करती हो?

स्त्री—(पति के पैरों पर पड़कर और फिर उठकर) क्षमा मुझे चाहिए। जो हुआ, सो हो चुका; चलिए, अब आप ही की इच्छा का पालन हो।

महाबलाध्यक्ष—मंत्री महोदय! मैं प्रार्थना करूँगा कि आप पुनर्विचार कर लीजिए। क्षणिक निर्वेद से विचलित होकर अपना भविष्य अंधकार-पूर्ण न कीजिए।

कुबेरस्वामी—मेरे ऊपर राजा और ईश्वर, दोनो का असंतोष हो गया। क्रोध और क्षोभ ने मिलकर मेरा यश लूट लिया। अब मैं इहलोक छोड़कर पापों के प्रायश्चित्त से परलोक-साधना करूँगा।

कालिदास—बात आपकी है ठीक, मंत्री महोदय! किंतु विचार कर लीजिए।

कुबेरस्वामी—अब सारे विचार हो चुके।

इसके पीछे मंत्री कुबेरस्वामी सपत्नीक वानप्रस्थ-नियम-सेवनार्थ विरक्ति-भाव से प्रस्थित हो गए। दरबार में सौराष्ट्रीय राजपरिवार के निर्वाहार्थ नियमानुसार उत्तरीय भारत में भुक्ति लगा दी गई। इसके विषय में अयोध्या से सैन्य-संचालन के समय देवगुप्त महोदय की गोप्य आज्ञा मंत्रिमंडल के सम्मत से हो चुकी थी। अनंतर महाशक्ति महोदय का दरबार में स्मरण करके उन्हें गुप्त मंत्रिमंडल में आसन देकर कविवर ने कहा।

कालिदास—आर्य! आपने यथासाध्य साम्राज्य का सामना करने में अपना धर्म पूर्णतया पालन किया। उज्जयिनी-पराभव के पीछे यदि हमारा साथ देते, तब भी कुछ अनुचित न होता। फिर भी बढ़े हुए स्वामी-धर्म के विचार से आपने उनके मित्र से भी वही धर्म निभा दिया। सौराष्ट्र और गुर्जर देशों की सारी शक प्रजा हम लोगों के नियमों को मानकर साम्राज्य द्वारा उचित व्यवहार की अधिकारिणी बन चुकी है। अब शकों का कोई विरोध आर्यों से शेष नहीं है। यद्यपि आज से शक नाम-मात्र कभी जाति-रूप में भारत में सुनाई न देगा, तथापि सारे शक हमारे भाई होकर जैसे अब भी चातुर्वर्ण्य में सन्निविष्ट हो चुके हैं, वैसे ही भविष्य में रहेंगे। इन लोगों का न तो कोई अपमान हुआ है, न भविष्य में होगा, केवल हिंदू-जाति का संगठन पूर्णता के साथ हो गया है। आशा है, इन बातों के औचित्य को सदा की भाँति आप भी मानेंगे।

महाशक्ति—सब बातों पर विचार करके भवदीय कथनों के औचित्य को मैं मानता हूँ ही। रही शत्रुता की बात, वह भी पूर्ण सत्य है। मैं सदा से साम्राज्य का शत्रु रहा हूँ, और आज भी हूँ।

कालिदास—अब तो शक-युद्ध के समाप्त हो जाने से आपकी कोई शत्रुता शेष न रहनी चाहिए, क्योंकि शत्रु का रूप हटकर अब आप हमारे प्रजावर्ग में आ गए हैं।

महाशक्ति—नीति-चक्षु से है यही बात, किंतु अभी चित्त इस पर बैठता कम है।

कुमारगुप्त—धीरे-धीरे बैठने भी लगेगा, आर्य! अब यह बतलाइए कि पितृचरण ने जो मंत्रिपद आपको देना कहा था, उसके विषय में क्या विचार है?

महाशक्ति—वह आज्ञा तो उज्जयिनी - युद्ध-समाप्ति के पूर्व हुई थी; थी कृपा की परा काष्ठा, किंतु क्या अब भी चल रही है? मुझे तो, श्रीमन्! इसके औचित्य पर भी संदेह है। कल के द्रोहियों पर क्या ऐसा विश्वास ठीक है?

कालिदास—अभी तक आप हमारे मंत्री हैं नहीं, अतएव साम्राज्य की ओर से औचित्य का कथन न करके अपनी ओर से बात कीजिए। हम जानते हैं कि किसका कितना विश्वास योग्य है।

महाशक्ति—अब तो मेरे लिये युद्ध चलाने का कोई प्रशस्त मार्ग सामने है नहीं, फिर भी जब तक वर्तमान स्वामी की सम्मति ज्ञात न हो जाय, तब तक अपनी ओर से कुछ कहना मेरे लिये योग्य नहीं।

कुमारगुप्त—तब अभी जाकर उनकी सम्मति या आज्ञा, जो चाहें आप ले आइए। उन्हें सब ऊँच-नीच समझा दीजिएगा।

इस प्रकार परामर्श होने से महाशक्तिजी पदच्युत महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेन की सेवा में उपस्थित होकर बोले—

महाशक्ति—मुझे बड़ा शोक है, देव ! कि मेरा प्रबंध काम न आ सका, और दोनो शक-राज्य हाथ से निकल ही गए।

स्वामी रुद्रसेन—आपके प्रबंध में कोई ढील नहीं हुई, आर्य ! मुख्य बात यह है कि साम्राज्य की शक्ति असह्य थी। हमारी दोनो शक्तियों में जैसा पौरुष कल तक था, वैसा कभी पहले न रहा था; बात इतनी ही हुई कि ऐसे भारी आर्य-बल का सामना कभी करना न पड़ा था।

महाशक्ति—यदि संधि संबंधी शत्रु-नियम मान लिए जाते, तो शायद अच्छा होता।

स्वामी रुद्रसेन—मैं तो अब भी यही युद्ध करता, किंतु पूर्व-पुरुषों द्वारा उपार्जित राज्य बिना लड़े छोड़ने को सन्नद्ध न होता।

महाशक्ति—धन्य देव, धन्य ! स्वामी मिले, तो ऐसा। अच्छा, अब भविष्य के विषय में क्या आज्ञा है ?

स्वामी रुद्रसेन—उज्जयिनी के क्षत्रप महोदय भाग्यवान् थे कि कृपाण-हस्त लड़कर स्वर्गलोक को सिधारे। मुझे वह सुख भी न बदा था।

महाशक्ति—युद्ध करने में कोई बात उठा तो देव ने भी न रक्खी थी।

स्वामी रुद्रसेन—अब तो उत्तरी भारत में ले जाया जाकर भुक्ति पर दिन काटूँगा। यहाँ कोई आ तो सकता न था, आप कैसे आ गए ?

महाशक्ति—मैं शत्रु की आज्ञा लेकर प्रस्तुत हुआ हूँ। देव के चरणों का दर्शन करना अभीष्ट था ही।

स्वामी रुद्रसेन—अब आप क्या कीजिएगा, आर्य !

महाशक्ति—जो ईश्वर कराए। अभी तो साम्राज्य की ओर से मंत्रिपद देना कहा जा रहा है।

स्वामी रुद्रसेन—यह तो बहुत ही अच्छी बात है। राज्य जा ही चुका है, यदि आप मंत्री होंगे, तो इच्छा-पूर्ति में कभी कोई सहायता मिल ही जायगी।

महाशक्ति—बिना देव की आज्ञा के मैं कुछ कर नहीं सकता, किंतु इतना समझ लिया जाय कि एक बार मंत्रिपद लिया नहीं कि तन-मन-धन से पूर्ण सत्यता, धर्म-परायणता तथा राजभक्ति के साथ साम्राज्य का काम करना पड़ेगा। इस दास ने कभी सेवा-धर्म छोड़ा नहीं है, और भविष्य में भी न छोड़ेगा। मेरा मंत्रिपद स्वीकार अथवा अस्वीकार देव की ही आज्ञा पर निर्भर है, किंतु एक बार स्वीकारने से मैं पूर्णतया पराधीन हो जाऊँगा।

स्वामी रुद्रसेन—ऐसी योग्यता तथा धार्मिक दृढ़ता पर रीझकर ही तो मैंने आपको एकाएक महामंत्री बना दिया था। वही अनमोल गुण भविष्य में भी आप न छोड़ेंगे, ऐसा मैं जानता हूँ। फिर भी देखता हूँ कि साम्राज्य का सामना तो अब हम कर पाने के नहीं, ऐसी दशा में आपका ही भविष्य अंधकार-पूर्ण क्यों किया जाय?

महाशक्ति—मेरा विचार छोड़कर देव केवल अपना भविष्य सोचें, ऐसी विनम्र तथा करबद्ध प्रार्थना है।

स्वामी रुद्रसेन—धन्य आर्य, धन्य! मैं सब बातें सोच चुका हूँ, आप सुख स जाकर मंत्रिपद स्वीकार कीजिए।

महाशक्ति—एक बार फिर विचार कर लिया जाय, देव!

स्वामी रुद्रसेन—मैं सहर्ष आज्ञा देता हूँ, आप कोई संकोच न कीजिए, आर्य!

महाशक्ति—बड़ी कृपा, देव!

इस भाँति सारा संकोच दूर होकर महाशक्ति महोदय ने साम्राज्य

के मंत्री-पद को स्वीकार कर लिया। कविवर कालिदास ने सौराष्ट्र-देश के सारे दुर्गों का यथोचित सैनिक प्रबंध कर दिया, तथा युवराज कुमारगुप्त की आज्ञा लेकर नव उपार्जित राज्य में गोप्ता एवं अन्य प्रबंधक साम्राज्य की प्रथा के अनुसार नियत कर दिए। देश के अधिकार का सामरिक प्रबंध हुआ, और पाश्चात्य भारत में भी समुद्र तक पहुँचने से साम्राज्य का वाणिज्य अधिक प्रभाव के साथ पाश्चात्य एशिया तथा योरप से बढ़ा। सौराष्ट्र-राज्य के सारे दुर्ग, प्रचुर कोष, हाथी, घोड़े, बहुतेरे युद्धकर्ता तथा और राजकीय सामान गुप्तों के हाथ आया। अनंतर विजयी गुप्त-दल अयोध्या को प्रस्थित हुआ। वहाँ पहुँचकर सारे पुरुष प्रधान देवगुप्त महोदय के सम्मुख विनयावनत हुए, और इन्होंने अपनी अनुपस्थिति में भी इस महती विजय के कारण युवराज, कविवर, महाबलाध्यक्ष, शक्तिपुर के युवराज तथा इतर वीरों को भूरि-भूरि धन्यवाद दिए। महाशक्ति के मंत्री होने पर भी पूर्ण प्रसन्नता प्रकट करके उनका यथोचित मान किया।

तेईसवाँ परिच्छेद

बल्हीक-विजय और परिणाम

उज्जयिनी और सौराष्ट्र-विजय के पीछे गुप्त-साम्राज्य की आय और महत्ता दोनो में पर्याप्त वृद्धि हुई। सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य दूतों द्वारा राजकीय अधिकारियों, महत्तरों, ग्रामिकों, श्रेष्ठियों, विषय-पतियों, उपरिकों आदि तथा इतर महापुरुषों के आंतरिक विवरणों का हाल जाना करते थे। यदि किसी के प्रतिकूल कोई विशेष अनौचित्य ज्ञात होता था, तो उच्चतर अधिकारियों द्वारा उस बात की फिर जाँच करा लेते थे। कभी-कभी विश्वसनीय मंत्रियों तथा स्वयं अपने द्वारा भी यह कार्य गुप्तरीत्या हुआ करता था। तदनुसार प्रबंध भी हो जाया करता था। यदि किसी को दंडित करने तक का अवसर आता था, तो उसके समक्ष भी जाँच हो जाती थी। कोई घटकर तोलने न पावे तथा किसी से बहुत अधिक मूल्य न लेवे, इन बातों पर भी दृष्टि रहती थी। राजकुमारों के चरित्र भी परख में आते थे। एक बार अंतरंग गोष्ठी में कविवर कालिदास तथा महाराजा इंद्रदत्तजी देवराज की सेवा में उपस्थित थे। इस अवसर पर दोनो राजकुमारों के चरित्र पर विचार होने लगा।

चंद्रगुप्त—क्यों भाइयो! इन दोनो के विषय में कैसी धारणा है?

इंद्रदत्त—कुछ ऐसा समझ पड़ता है कि परमेश्वर ने इस गद्दी के छोटे कुमारों की ही पात्रता विशेष रक्खी है।

कालिदास—छोटे राजकुमार के आचरण तो बहुत ही श्रेष्ठ हैं,

और आशा है कि वह समय पर साम्राज्य का यश बढ़ा सकेंगे। है कोई उपालंभ युवराज से भी नहीं, किंतु कामुकता के विषय में कुछ भय समझ पड़ता है।

इंद्रदत्त—मेरे लिये तो दोनो बराबर हैं, किंतु प्रमाण के अभाव में भी युवराज के कामुक आचरण कुछ संदेह-जनक हैं अवश्य।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—यही तो मुझे भी संदेह है, किंतु प्रमाणाभाव से कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। बहुत अनुचित होने पर भी, तथा इस कुटुंब के उच्च आचरणों के अत्यंत प्रतिकूल होकर भी कुछ कामुकता राजन्यवर्ग में प्रायः पाई जाती है। यदि इसका व्यवहार सीमित रहे, जैसा कि रामगुप्तजी का था, तो विशेष हानि नहीं, किंतु यदि प्रभाव राजकीय कार्यों में भी पड़ने लगे, जैसी दशा दोनो शक-राज्यों में थी, तो पाप के अतिरिक्त साम्राज्य-ध्वंसन की भी नींव पड़ सकती है। इतनी ही शंका मुझे घेरे रहती है, यद्यपि अभी भविष्य के लिये ऐसी भावना चित्त में नहीं आती कि कोई विशेष प्रबंध आवश्यक हो।

इंद्रदत्त—है तो यही दशा; अब युवराज की अवस्था इतनी हो चुकी है कि बहनजी का विशेष प्रभाव उन पर नहीं पड़ सकता।

कालिदास—कुमारामात्याधिकरण से मैं दो-एक बार बात कर चुका हूँ। वह यथासाध्य रखते चौकसी हैं। अभी इससे अधिक कोई आवश्यकता नहीं दिखती!

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—अच्छा, महादेवीजी बल्हीक-देश-विजय पर बहुत तुली हुई हैं। मैं समझता हूँ कि उनसे आप दोनो भी परामर्श कर लीजिए।

कालिदास—बहुत ठीक है, देव!

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—(दूत को बुलवाकर) महादेवीजी से विनती करो कि यदि अवकाश हो, तो दर्शन देने की कृपा करें।

दूत 'जो आज्ञा' कहकर बाहर जाता है। थोड़ी ही देर में महादेवी महोदया पधारती हैं। सब लोग अभ्युत्थान देते हैं, और वह यथा-स्थान विराजती हैं।

महादेवी—क्या आज बल्हीक देश का स्मरण आ गया, आर्य-पुत्र! जो अचानक मेरे यहाँ आने की आवश्यकता हुई है?

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—यही बात है, देवि! यदि कष्ट न हो, तो इस संबंध के अपने विचार दोनो भाइयों से भी कहने की कृपा करें।

महादेवी—मैं समझती हूँ कि हूणों की क्रूर दृष्टि बल्हीक देश से पंजाब की ओर लगी रहती है। जब कभी समय पावेंगे, तभी भारत को पादाक्रांत करने का सक्रिय प्रयत्न ये लोग करेंगे अवश्य। पूज्यवर कक्कूजी ने शाही और शाहानुशाही को तो पूर्णतया पद-दलित कर दिया था, यहाँ तक कि इन दोनो से भारत को कोई भय शेष नहीं समझ पड़ता, किंतु थोड़ी दूर और बढ़कर बल्हीक देश पर प्रयत्न न किया। उस काल शायद यह संभव न हो। मेरी भावना ऐसी है कि गुप्त-साम्राज्य का हय-दल कुंकुम से रंजित होकर वंक्षु-नदी के जल से अपना तद्देशीय सामरिक श्रम दूर करे। आजकल हूणों की शक्ति भी दबी हुई दिखती है। ऐसी दशा में यदि अपना आतंक उस ओर बैठ जाय, तो इन वन्य जंतुओं से भी भविष्य में कोई भय न रहे। सबसे पहले यहाँ यवनों ने प्रभाव फैलाया, जिसे शुंग-शक्ति ने दबाया तथा शकों ने निर्मूल किया। आप महोदयों के प्रयत्नों से भारत का शक-रूपी प्राचीन कोढ़ सदा के लिये निर्मूल दिखता है। ऐसी दशा में भविष्य पर भी ध्यान देकर केवल हूणों का दबाना शेष रह गया है। ऐसे ही मेरे विचार हैं। आगे जो आप लोग सोचें, वह ठीक ही होगा।

कालिदास—जितनी बातें महादेवीजी महोदया ने कही हैं, वे

सब आदरणीय समझ पड़ती हैं। उस ओर का कठिन शीत अथच पर्वतीय प्रांतों का सामरिक अनुभव, यही दो मामले रह जाते हैं। अपने सिंधु देशस्थ सैनिक पहाड़ी युद्ध का न्यूनाधिक अनुभव रखते हैं, और सौराष्ट्र-विजय के पीछे से ऐसे लोगों की अपनी सेना प्रचुर संख्या में बढ़ भी चुकी है। उस ओर के अपने सैनिक तथा सेनापति एवं थोड़े बल्हीक देश को दबा सकेंगे, ऐसी आशा है; क्योंकि उस ओर भावी शत्रुओं के पास न तो पर्याप्त मात्रा में शिक्षित सैनिक हैं, न युद्ध-सामग्री। संख्या-मात्र में उनकी प्रधानता है। समर-शास्त्र से अभी वे पूर्णतया अभिज्ञ नहीं। फिर भी समय पर उनकी शक्ति महान् हो सकती है। अभी से उनका प्रबंध करना ही दूर-दर्शिता की बात है।

इंद्रदत्त—जितने युद्ध अब तक अपनी सेना ने किए हैं, उन सबसे यह कुछ कठिन है। समरांगण में प्रवृत्त होने के लिये कोई बहाना खोजने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सीमाओं पर इन लोगों से युद्ध समय-समय पर होता ही रहता है। हमारे अंतपालों के लिये हूणों का प्रश्न सदैव निद्रा भंग करनेवाला रहता है। चाहे जितना पीछे हटते आइए, ये लोग आगे बढ़ते ही आवेंगे। जब कहीं-न-कहीं युद्ध होना अनिवार्य-सा है, तब थोड़ी भी भूमि क्यों छोड़ी जाय? बल्हीक देश में घुसकर इन्हें एक बार शिक्षा देने से संभवतः यह नित्य का टंटा कुछ दिनों को कम हो जाय। भारत के लिये सीमा-प्रांत का यह प्रश्न समझ अजर-अमर पड़ता है।

चंद्रगुप्त—जाना इसके लिये सभी चुने हुए सैन्येशों को होगा। मैं भी चलूँगा, क्योंकि देश से बाहर बल्हीक-से बीहड़ प्रांत में बिना स्वयं अपने निरीक्षण के अकेले आप लोगों के भेजने से चित्त में शांति नहीं आती। हैं इनके उपद्रव अवश्य असह्य, और कठिन दरेरे से एकाध शताब्दी को शायद निश्चिंतता मिल जाय। सिंधु-नदी

के सातों मुखों को लाँघकर चलिए, एक बार बल्हीक की भी सैर और वंक्षु-नदी में स्नान हो जाय।

महादेवी—और नहीं तो क्या? गंगा-स्नान का पुण्य तो सभी को प्राप्य है, किंतु वंक्षु-स्नान केवल महावीर भारतीय ही छल-बल के साथ कर सकते हैं। फिर भी यदि किसी शंका की बात हो, तो जाने ही दिया जाय; मुझे कोई हठ नहीं है। केवल इच्छा की बात थी।

इंद्रदत्त—संदेह कुछ भी नहीं है, देवि! किंतु यहाँ का प्रबंध करना होगा, और वहाँ के लिये दल-विभाजन करेंगे।

कालिदास—भारत से दस वर्षों के लिये देवराज कहीं बाहर पधारें, तो भी यहाँ कोई गड़बड़ नहीं उठ सकता। अब सारा देश स्वतंत्र है, और किसी ओर से कोई खटका नहीं है। देव की अनुपस्थिति में यहाँ युवराज की अध्यक्षता में महामंत्री, महासांधि-विग्रहिक देवसेनजी, कुमारामात्य तथा इतर मंत्री लोग बड़ी सुगमता-पूर्वक सब काम चला लेंगे।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—यही तो बात है, यदि सारा मामला एकाधीन हुआ, तो राज्य की शोभा ही क्या है? चल बहुत सुगमता-पूर्वक जायगा। इस बात में थोड़ी भी आशंका नहीं है। हूणों की वर्तमान शक्ति भी चिंत्य नहीं। जितनी चिंता है, वह बल्हीक के पर्वतों तथा प्रचंड शीत से है। उस ओर के अपने सैनिक इसके अभ्यस्त हैं ही; केवल इतना करना पड़ेगा कि कोई वृद्ध पुरुष मंत्रियों में भी वहाँ न ले जाया जाय।

इंद्रदत्त—वृद्धता का कुछ अंश शायद कोई-कोई स्वयं हम लोगों में भी समझने लगे।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—अभी कहाँ से वृद्धता आ गई? हम तीनो में से कोई अभी पचासे के आगे नहीं बढ़ा है।

कालिदास—जी हाँ, देव ! अभी हम लोग अपने को तरुण समझते हैं।

इंद्रदत्त—तब फिर चलिए, जल-पान के स्थान पर आबनोशी की जाय।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—कहते ही हैं—"काबुल गए, मुगल बनि आए, बोलैं मुगली बानी, आब-आब कै मरिगै जानी, धरा उसीसे पानी।" ख़रामा-ख़रामा चलते हुए वंक्षु-नदी तक पहुँचना क्या, उसे पार भी कर आवेंगे।

कालिदास—तब तो शायद पूरे मुग़ल हो जायँ, क्योंकि उस भाषा का प्रेम अभी से चित्त में घर करता हुआ दिखता है। (सब लोग हँसते हैं।)

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—तब फिर यह प्रश्न अमात्य-परिषत् में भी रखकर सर्व-सम्मति से निश्चय कर लिया जाय; "शुभस्य शीघ्रम्" का मामला है।

इंद्रदत्त—यही बात है। अच्छा, चलेगा प्रधान पुरुषों में कौन-कौन ?

कालिदास—हम तीनो के अतिरिक्त महाबलाध्यक्ष कृतांतजी का जाना तो आवश्यक होगा ही। महाशक्तिजी भी चलेंगे। उन्हें उस ओर का अनुभव भी है।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—बहुत योग्य है; किंतु कृतांतजी का वय कुछ चिंत्य है।

इंद्रदत्त—अभी अवस्था का विशेष प्रभाव उन पर नहीं है। न जाने से खिन्न भी होंगे।

महादेवी—क्या मेरा भी चलना संभव होगा ?

कालिदास—यह एक दुर्गम देश की बात है; मैं समझता हूँ, यदि आप उधर पयान की इच्छा न करतीं, तो अच्छा था।

इंद्रदत्त—आपको यह सोचना भी न चाहिए, देवि ! युद्ध से भय नहीं है, किंतु देश की दशाओं को सोचते हुए यही ठीक है ।

महादेवी—मैंने यों ही एक बात कही, कोई हठ थोड़े ही है ।

इस प्रकार परामर्श के पीछे यथासमय यह प्रश्न मंत्रिमंडल में भी उपस्थित किया जाकर सर्व-सम्मति से निर्णीत हो गया । मालव, कुंतल, शक्तिपुर, महाकवि आदि की सेनाओं को मिलाकर तथा मूलस्थ, उज्जयिनी एवं सौराष्ट्रीय दल लेकर तीन लक्ष सेना-सहित चंद्रगुप्त विक्रमादित्य महोदय ने सिंधु-नद के सातों मुख पार करके बल्हीक-देश पर दल-बल के साथ आक्रमण किया । हूणों ने प्रचंड सेना एकत्र करके प्रत्येक नदी, जंगल तथा पहाड़ के सहारे से गुप्त-दल को यथा-साध्य क्षति पहुँचाने के भरसक प्रयत्न किए । स्वयं देवगुप्त, महाकवि, इंद्रदत्त, महाशक्ति, कृतांत आदि महावीरों ने सैन्य-संचालन तथा युद्ध-विद्या के पूर्ण कौशल से काम लेकर अपनी सेना को सब अवसरों पर बचाया, तथा शत्रु को भारी-से-भारी हानि पहुँचाई । हूण लोग लड़ते हुए पीछे हटते जाते थे, तथा गुप्त-दल पूर्ण चातुर्य से संचालित होकर उन्हें काटता हुआ आगे बढ़ता जाता था । इस विजय-यात्रा के लिये ऋतु ऐसी चुनी गई थी कि साम्राज्य की शक्ति को शीतादि से विशेष कष्ट न हुआ । हूणों ने दो-दो, तीन-तीन लाख की संख्या में बढ़-बढ़कर इस दल का कई बार सामना किया, किंतु देवराज के समर-कौशल ने वह अमानुष कार्य किया कि बिना जाने हुए विदेश में भी साम्राज्य के दल को कोई विशेष क्षति न पहुँची । उधर हूण-दल में वे विकराल हानियाँ हुईं कि हाहाकार मच गए । शत्रु लोग कई बार बिलला-बिललाकर चारो ओर भागे । उनका सर्वोच्च नेता युद्ध में काम आया, तथा दूसरा नियत हुआ । वह भी समाप्त हुआ, और तृतीय नेता बना । इसी प्रकार कई हूण नेता नियत हो-होकर एक-दूसरे के पीछे गत होते गए, और भारतीय सेना का सामना

करनेवाला समय पर कोई भारी हूण-दल उपस्थित न हो सका। इस प्रकार विजय-पर-विजय प्राप्त करती हुई अयोध्या की सेना वंक्षु-नदी पर पहुँच गई, और वहाँ इस दल के घोड़ों तथा वीरों ने स्नान कर-करके विश्राम किया। अनंतर उस नदी को पार करके दो-चार योजनों तक आगे भी शत्रुओं को खदेड़ा। इस भाँति पूर्ण विजय प्राप्त करके तथा भारतीय भविष्य को यथासाध्य समुज्ज्वल बनाकर हमारा यह महासम्राट वहाँ से पलटकर बिना विशेष हानि सहे यथासमय ससेन भारत में आ पहुँचा। भारतीयों ने इस महाविजय के उपलक्ष में अपने को धन्य माना, और भाँति-भाँति से प्रसन्नता प्रकट करते हुए सम्राट् का स्वागत किया।

अयोध्या में पहुँचकर विक्रमादित्य महोदय को विजय-सुख के साथ महादु:खद समाचार सुन पड़ा कि आपके प्रिय जामाता वाकाटक-पति कुंतल-नरेश रुद्रसेन (द्वितीय) स्वर्गवासी हो गए थे। उनका सुपुत्र प्रवरसेन (द्वितीय), जो देवगुप्त का दौहित्र भी था, अभी छोटा था, और उनकी पुत्री प्रभावती गुप्ता को माता के रूप में अभिभाविका होकर राज्य भी सँभालना पड़ रहा था। कुछ काल तक दोनो राजधानियों में विशेष शोक मनाया गया, तथा बल्हीक-विजय के संबंध का कोई हर्षोत्सव न किया गया। थोड़े ही दिनों में राजमाता प्रभावती गुप्ता की ओर से यह प्रार्थना प्राप्त हुई कि "काका कालिदासजी कुछ वर्षों के लिये साम्राज्य के प्रतिनिधि बनकर कुंतल में विराजें, जिसमें उनको प्रबंध की चिंताओं से कुछ अवकाश भी मिलने लगे, तथा मंत्रियों, अधिकारियों आदि के सुनने में इनके विश्वास पर विशेष आत्मीय देख-भाल की आवश्यकता न रहे।" कविवर को मान-वृद्धिकारिणी यह प्रार्थना विष-सी बुरी लगी, क्योंकि इसके कारण पदोन्नति के होते हुए भी उनका देवगुप्त महोदय से मित्रता-पूर्ण साथ वर्षों के लिये छूट रहा था। यद्यपि

था इस बात का विशेष खेद देवराज महोदय को भी, तथापि इतर कोई प्रवीण पुरुष यह भार उठाने के योग्य देख न पड़ता था। इंद्रदत्तजी का जाना ठीक न था, अथच कुबेरनागा महोदया के मायके में ऐसा कोई पुरुष था नहीं, जो इस भार के योग्य समझा जाता। सम्राज्ञी कुबेरनागा महोदया ने भी कविवर से विशेष हठ किया, और देव की भी इच्छा तथा मंत्रिमंडल की सर्व-सम्मति से कविवर को कुंतल जाना पड़ा। तो भी महाकवि और देव दोनो के इच्छानुसार ऐसा निश्चित हुआ कि कालिदासजी समय निकालकर तथा कुंतल में स्थानापन्न अपने युवराज को छोड़कर यथासंभव प्रति-वर्ष तीन मास के लिये देवगुप्त महोदय की सेवा में उपस्थित हुआ करें। प्रभावती गुप्ता ने इन्हें पितृव्य-तुल्य समझा, और बड़ी प्रसन्नता के साथ पूर्ण विश्वास तथा सहयोग से महाकवि के निरीक्षण तथा राजमाता की आज्ञा से राजकाज उचितरीत्या चलने लगा। राज-कुमार प्रवरसेन (द्वितीय) कुंतलेश होकर महाराजा बने, तथा गद्दी पर भी विराजे, किंतु उनके बालक होने से राजकीय काम अभि-भाविका महारानी प्रभावती गुप्ता के नाम से उन्हीं के आज्ञानुसार चलता था। बालक महाराजा की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबंध स्वयं कालिदास के निरीक्षण में होने लगा। तो भी इनकी शिक्षा-संबंधी एवं योग्यतावाली उन्नति कविवर के इच्छानुसार न हो सकी, और उन्होंने देवगुप्त महोदय को राजकीय प्रबंध के विषय में तो प्रसन्न करनेवाली व्यवस्था भेजी, किंतु बालक की निजू उन्नति में कुछ-कुछ निराश भी होना पड़ा।

इधर अयोध्या और पाटलिपुत्र से भारतीय प्रबंध बहुत ही कौशल-पूर्वक चल रहा था। एक बार कविवर ने देवराज से निवेदन किया कि इन्होंने उनकी विजयों तथा बड़े सम्राट् के राज्यवाले विवरण श्लोकबद्ध साहित्य ग्रथित किए थे। इस पर विक्रमा-

दित्य ने बहुत प्रेम-भाव से कहा कि मित्रता और यश-कीर्तन प्रतिकूल बातें हैं। यद्यपि कविवर के कथन मित्र भाव-गर्भित न होकर सत्य और एकमात्र तथ्य पर निर्भर थे, तो भी संसार मैत्री के कारण उन्हें अत्युक्ति पूर्ण अवश्य मानेगा। फिर साहित्य का थोड़ा-बहुत अंग भी अतिशयोक्ति है ही। इन कारणों से आपने कविवर की इस भावना को उन्हें बहुत कुछ समझा-बुझाकर न माना। विवश होकर महाकवि ने यत्र-तत्र नाम-मात्र के परिवर्तन करके अपने वे श्लोक रघुवंश ग्रंथ में रख दिए। सम्राट् समुद्रगुप्तवाला वर्णन महाराजा दिलीप का कर दिया गया, अथच चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयों का श्रेय युवराज रघु को मिल गया, यद्यपि ये दोनो वर्णन इतिहासानुसार दिलीप और रघु से पूर्णतया असंबद्ध होकर समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त ही पर घटित होते हैं। सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अनेकानेक युद्धों में विजय-यश प्राप्त करके, सैकड़ों नाहरों का अपने ही हाथों से बध करके, शतशः श्लोक रचकर, सहस्रों गुणियों का स्वयं उन्हीं के विचारों से अधिक मान करके, लक्षों की आशा रखनेवालों को करोड़ों दान में देकर, निर्धन और सधन प्रजा का समान रूप से मान करके, भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करके, तथा पूर्ण न्याय और दयाशीलता से पुत्रवत् प्रजा का पालन करके ३४ वर्ष नीरोग शरीर-सहित राज्य-सुख भोगा। आपके समान सफल सम्राट् भारत क्या, सारे संसार में बहुत कम हुए होंगे। महादेवी ध्रुवस्वामिनी तथा सम्राज्ञी कुबेर नागा, दोनो सदैव आपस में एक दूसरी से परम प्रसन्न रहीं, और पूर्ण सुख भोगकर पति के सामने यथासमय शरीर त्यागकर देवलोक-वासिनी हुईं। देवराज महोदय ने अपने सामने सिवा जामातावाले दुख के कोई भारी क्लेश नहीं पाया। आपके जीवन-काल-भर दोनो पुत्र सुयशी रहे।

ऐतिहासिक परिणाम तथा सिंहावलोकन

सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का राजत्व-काल सन् ३८० से ४१४ ईसवी-पर्यंत इतिहासों के अनुसार रहा। अनंतर युवराज कुमारगुप्त सन् ४५५ पर्यंत सम्राट् रहे। महाकवि कालिदास इनके समय में भी कुछ वर्षों तक जीवित थे। ४५५ से ४६७-पर्यंत कुमारगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र स्कंदगुप्त विक्रमादित्य सम्राट् रहे, तथा ३० वर्ष की अवस्था में विना विवाह किए ही ४६७ ई० में देवलोक-वासी हुए। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि कुमारगुप्त के स्त्रैण होने से राज्य कुछ-कुछ अवनत रहा, तथा पुष्यमित्र-गण-शासकों के विरोध में डूब रहा था, किंतु स्कंदगुप्त के पराक्रम से शत्रु ध्वस्त हुए, तथा साम्राज्य बच गया। अनंतर हूणों के प्रचंड आक्रमण स्कंदगुप्त के राजत्व-काल-भर होते रहे। कुमारगुप्त के अनुचित आचरणों से छोटा पुत्र पुरगुप्त पाटलिपुत्र में सम्राट् हो गया, किंतु वहिरंग सारे साम्राज्य का शासक प्रतापी स्कंदगुप्त ही रहा, जिसने कृपा करके भाई पुरगुप्त का पद न गिराया। मालव-नरेश बंधुवर्मा इनके प्रधान सहायकों में से थे। महाराजा गोविंदगुप्त हूणों से लड़ने में ही स्वर्गवासी हुए, तथा बंधुवर्मा भी। ४५५ से ४६७-पर्यंत हूणों से संग्राम चलता रहा। सासानी और कुशान बादशाहों ने भी हूण-नरेश की सहायता की थी। स्कंदगुप्त ने इन तीनो शत्रुओं का वध किया। साम्राज्य-रक्षण में पूर्णतया व्यस्त रहने से ही इन्होंने मरण-पर्यंत विवाह न किया।

अनंतर पुरगुप्त, बालादित्य (प्रथम) तथा कुमारगुप्त (द्वितीय) एक दूसरे के पीछे ४६७ से ४७६ तक सम्राट् रहे। बालादित्य (प्रथम) ने हिंदू-मत छोड़कर महायानीय बौद्ध मत ग्रहण किया, जो गुप्त नरेशों में अंत-पर्यंत चला, तथा इनके राज्य जाने का प्रधान कारण हुआ। बुधगुप्त प्रकाशादित्य ४७६ से ५०० तक

शासक रहे, और तत्पुत्र. तथागत गुप्त ५१० तक। इनके समय में किन्हीं अकथित कारणों से गुप्तों के दो शासक-घराने स्थापित हुए। (गौड़गुप्त हिंदू थे, बौद्ध नहीं।) समझ पड़ता है कि यह विश्लेषण मत-परिवर्तन के ही कारण हुआ। अनंतर ५१० से ५३० तक भानुगुप्त बालादित्य (द्वितीय) शासक हुए, किंतु ५११ से ५२६ ई० तक इनके हाथ से साम्राज्य निकलकर मिहिरकुल हूण के हाथ में चला गया था, और बालादित्य केवल वंग में शासक रह गए थे। ५२६ में हूणों को पराजित करके आप फिर सम्राट् हुए, किंतु ५३० में राज्य छोड़कर बौद्ध भिक्षु हो गए। इनके पीछे प्रकटादित्य सन् ५८६ तक राजा रहे, किंतु सम्राट् कभी न हुए। इन्होंने युद्ध करना न पसंद करके शत्रुओं से दबकर रहना दूरदर्शिता समझी, जिससे इनका अधिकार समय के साथ ऐसा गिरता गया कि इनके पीछे उत्तराधिकारी के लिये विशाल गुप्त-साम्राज्य में से कुछ भी न रह गया।

गौड़गुप्त फिर भी कुछ काल-पर्यंत शासक रहे। सन् ५४० के निकट वह सम्राट् भी हुए, तथा ६६० से भी कई वर्षों के लिये गौड़गुप्तों में एक यज्ञकर्ता सम्राट् हुआ। अनंतर उनका भी प्रभाव गिर गया, और मगध में प्रजा द्वारा निर्वाचित दो शासकों के साथ पाल-नरेशों का समय आया, जो मुसलमान सम्राटों के आगमन-पर्यंत चला। गुप्तों का प्राकट्य २७५ ई० से श्रीगुप्त तथा घटोत्कच-गुप्त के साथ हुआ, उत्थान चन्द्रगुप्त (प्रथम) ३२०-२८ के समय और मध्याह्न-काल ३२८ से ४६७-पर्यंत, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त, कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त के समयों में। ५११ ई०-पर्यंत गुप्त-साम्राज्य किसी प्रकार स्थापित रहकर पीछे केवल राज्य के रूप में उपर्युक्तानुसार रह गया। प्रायः २०० वर्ष यह वंश भारतीय सम्राटों के रूप में स्थापित रहा। इतर वंशों में इतना लंबा साम्राज्य-काल बहुत कम मिलेगा।

गुप्तों के समय में हमारे छितरे हुए पुराणों तथा स्मृतियों के प्राय. वर्तमान रूप नव-संपादन के साथ स्थापित हुए। हिंदू-धर्म की श्रेष्ठतम प्राचीन संस्कृति तथा संस्कृत-भाषा की सर्वोत्कृष्ट उन्नति इसी समय में हुई। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के पीछे भारत से शक नाम सदा के लिये लुप्त हो गया। चंद्रगुप्त ने भारतीय ऐक्य परम दृढ़ता-पूर्वक स्थापित किया। यह सामाजिक उन्नति मुसलमान-विजय के पूर्व तक स्थापित रही, यद्यपि आठवीं-नवीं शताब्दी से राजनीतिक संगठन की कमी से भारत समय पर मुस्लिम अधिकार में आ गया। गुप्त-समय में भारतीय महत्ता जैसी बढ़ी, वैसी तत्कालीन किसी सांसारिक शक्ति की न थी। पीछे से विविध कारणों से यह भारतीय वैभव स्थापित न रह सका। तथापि इतना मानना ही पड़ेगा कि हमारी महत्ता-स्थापन में सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य सर्व प्रधान साधन थे। फिर भी "धरा को प्रमान यही 'तुलसी', जो फरा, सो झरा; जो बरा, सो बुताना।"

नोट—तथागत गौतमबुद्ध को कहते थे। उन्हीं पर राजा का नाम तथागतगुप्त रक्खा गया।

शब्दार्थ-तालिका

गुप्तकालीन (अब) अप्रचलित शब्दों के अर्थ

शब्द	अर्थ
अग्रहारिक	दानाध्यक्ष
अधिष्ठान	विषय (ज़िला) का मुख्य नगर
अपवाद	नियमातिरिक्त
अलिकसुंदर	अलेक्ज़ेंडर, सिकंदर
अलिंद	छतदार छज्जा
अवंती	मध्य भारतीय एक प्रांत, इसकी राजधानी उज्जैन थी।
अवभृथ-स्नान	विद्याध्ययन समाप्त करने पर किसी छात्र का हवनादि के पीछे स्नान करके स्नातक-पद पाना।
अक्षपटलाधिकृत	अर्थ-मंत्री, आय-व्यय-निरीक्षक मंत्री
अक्षपटलिक	आय-व्यय के पत्रों का रक्षक
अंक	मुहर
अंगुलीयक	अँगूठी
आयुक्तक	विषयपति, ज़िलाधीश
आवेदन	अर्ज़ी, विनय-पत्र
आज्ञापक	राजाज्ञा-प्रचारक
उज्जयिनी	अवंती-प्रांत की राजधानी
उत्तरीय	दुपट्टा
उदनकूप-परिषद्	पंचायत

शब्द	अर्थ
उद्रंग	भूमि-कर, लगान
उपरिक	प्रांतीय शासक, गवर्नर
उपरिकर	लगान के ऊपरवाला कर
उपायन	पठौनी, राजकर
कटुक	गजदल का श्रेष्ठतम अफ़सर
करणिक	लगान संबंधी पत्रों का रक्षक सदर या रजिस्ट्रार-क़ानूनगो
कर्तृ	अमीन, नकशा बनानेवाला
कर्मकार	कहार
कहापन	पैसे-सा ताँबे का सिक्का, कार्षापण का अपभ्रंश
कक्ष	कमरा
कायस्थ	लेखक
कार्षापण	पैसे-सा ताम्र-सिक्का
कुंतल	मैसोर का भाग
कुलिक	प्रथम (श्रेष्ठतम) कारीगर
कूर्पासक	अंशुक, स्तनांशुक, अँगिया
गणराज्य	प्रजासत्तात्मक राज्य
गवाक्ष	झरोखा
गोप्ता	उपरिक, गवर्नर
गौल्मिक	जंगल का प्रबंधक
चतुष्क	बुर्ज
चमूप	सेना की छोटी टुकड़ी का अफ़सर
चर	ख़ुफ़िया पुलीस
चाट	निम्न दर्जे का पुलीस-कर्मचारी

शब्द	अर्थ
चाटुकारिता	खुशामद
चीन	तिब्बत
चौरोद्धरणिक	चोर पकड़नेवाला
छिद्र	प्रबंध में शत्रु द्वारा लगा हुआ भेद
जनपद	गाँव, देहात
जानपद	देहाती प्रजा
तलवाटक	पटवारी
तारहार	बहुमूल्य माल
तिरभुक्ति	तिरहुति-प्रांत
तृचीवर	बौद्ध भिक्षुओं के तीन कपड़े
दक्षिणापथ	दक्षिण-देश
दंडपाश	पुलीस
दंडपाशाधिकरण	सबसे बड़ा पुलीस-अफ़सर
दंडपाशिक	पुलीसमैन
दंडिक	दंड देनेवाला
दूत	चर, ख़ुफ़िया पुलीस
देश	प्रांत
दौस्साध्य साधनिक	चोरी का माल निकालनेवाला, चोर पकड़नेवाला
द्रांगिक	नगर का प्रधान शासक
धरण	चाँदी का (रुपए-सा) सिक्का
धर्मासन	मंत्रियों का कार्यासन
ध्रुवाधिकरण	उद्रंग (भूमि-कर)-ग्राहक
नगर-श्रेष्ठी	नगर का सबसे बड़ा सेठ।
निगम संचालक	बैंक एजेंट

शब्द	अर्थ
निम्न दुकूल	धोती
निष्क	बहुमूल्य माल
न्यायाधिकरण	भूमि और बगान के झगड़े निबटानेवाला अफसर
पण्यवीथी	दूकानों के बीच की सड़क
पुष्कर	मृदंग
पुष्पलावी	माली
पुस्तपाल	बगान के पत्रों का रक्षक
पौर	नागरिक प्रजा
प्रताप	इतर राजाओं पर राजनीतिक प्रभाव
प्रतिनर्तक	नकीब
प्रथम कायस्थ	सबसे बड़ा लेखक, चीफ़ सिक्त्तर
प्रमद-वन	नज़रबाग़, महल की फुलवारी
प्रमातृ	अमीन
प्रवचन	वैदिक शिक्षा
प्रसर	राज्य का फैलाव
प्रसाधक	शृंगार-कर्ता
प्राड्विवाक	वकील
प्राभृतक	ख़रीता, बहुमूल्य वस्त्रों का लिफ़ाफ़ा
फेनाक	साबुन
बल्हीक	कश्मीर के उत्तर-पश्चिम का देश
बीज पूरक	मुख में सुगंधि-वर्धक फल, बिजौरा, नींबू